अमिताभ

[चरितोपन्यास]

लेखक

श्रीगोविंदवल्लभ पंत

(वरमाला, संध्या-प्रदीप, राजमुकुट, प्रतिमा, अहिल्या, मदारी,
अंगूर की बेटी, चंपापुर का मित्र, तारिका, सुहाग-बिंदी,
एक सूत्र आदि पुस्तकों के प्रणेता)

—:o:—

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

प्रथमावृत्ति] सं० २००१ वि० [मूल्य ४)

प्रकाशक
चंद्रशेखर
राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल
मछुआटोली
पटना

अन्य प्राप्ति स्थान—

१ दिल्ली-ग्रंथागार चर्खेवालाँ दिल्ली
२ प्रयाग-ग्रंथागार ५० क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद
३ काशी ग्रंथागार मच्छोदरी-पार्क काशी
४ राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल मछुआ-टोली पटना
५ साहित्य-रत्न भंडार, सिविल लाइन्स, आगरा
६ हिंदी-भवन अस्पताल-रोड, लाहौर
७ एन् एम् भटनागर ऐंड ब्रदर्स उदयपुर
८ दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार-सभा त्यागरायनगर, मद्रास

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्तान-भर के सब प्रधान बुक्सेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुक्सेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके यहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ


प्रेमोपहार

वक्तव्य

पंतजी के वरमाला, राजमुकुट, अंगूर की बेटी, सुहाग-बिंदी ये चारों नाटक हिंदी-संसार में बहुत पसंद किए गए। प्रतिमा मदारी तारिका, अमिता एक सूत्र (उपन्यास) और संध्या-प्रदीप (कहानी-संग्रह) का भी यथेष्ट आदर हुआ। अब यह अमिताभ आपके सामने है। इसका भी अवलोकन कीजिए। आता है, प्रेमी पाठकों का इससे भी काफ़ी मनोरंजन होगा।

कवि-कुटीर लखनऊ
दीपावली १००१ }

दुलारेलाल

सूची

अट्ठीनं नगरं कतं
मांस लोहित लेपन ।
यत्थ जरा च मच्चू च
मानो मक्खो च ओहितो ।

(धम्मपद—११।५)

१ विधि के अंक

नवजात शिशु का निरीक्षण कर असित ऋषि ने उसके चरणों में अपना तपोज्ज्वल मस्तक विनत कर दिया। उस बालक की स्तुति कर उन्होंने कहा—"महाराज, इस बालक के जन्म से वसुंधरा उज्ज्वल और यह आर्यावर्त पवित्र हुआ है। तुम्हारा यह सूर्य-कुल धन्य है। तुम्हारी यह राजनगरी कपिलवस्तु और तुम सौभाग्यशाली हुए हो।"

महाराज का नाम शुद्धोदन था। बड़ी साधना और उपासना के अनंतर उस बालक का जन्म हुआ था। शुद्धोदन ने बड़े आश्चर्य और आदर के भाव से हाथ जोड़ लिए। उनकी दूसरी रानी प्रजावती और समस्त दासियों ने भी अभ्यर्थना की।

"मैं बहुत समय से इनके आविर्भाव की प्रतीक्षा कर रहा था।' कहकर असित ऋषि की आँखों से अश्रुधारा बह चली। वह बोले—"किंतु मैं अब बूढ़ा हो गया, शीघ्र ही मर जाऊँगा!" ऋषि ने फिर शिशु के लक्षण और ग्रहों का विचारकर कहा—"महाराज यह बालक बड़ा होने पर महान् प्रतापी और चक्रवर्ती राजा होगा। यदि इसका मन राज-काज में न लगा तो यह विश्व गुरु होगा। संसार के पाप-ताप से तप्त प्राणी इसकी शरण में शांति प्राप्त करेंगे। यह करोड़ों मनुष्यों को अज्ञान के अंधकार से निकाल कर उनके लिये निर्वाण का मार्ग सहज-सुगम करेगा।"

शुद्धोदन ने चिंतित होकर कहा—"राज-काज में मन न लगा, तो!"

"हाँ, महाराज! यह धन-सम्पत्ति, सुख-भोग, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सबका त्यागकर वन में चला जायगा, और वहाँ सत्य का अनुसंधान करेगा।"

सब असित ऋषि की ओर देखने लगे मूर्तिवत् होकर।

"कोई ऐसा उपाय नहीं है महाराज, जिससे इसका मन राज-काज से न उचटे?" शुद्धोदन ने पूछा।

"है। परंतु उसका निर्वाह अत्यंत कठिन है।"

"हम प्राण-पण से चेष्टा करेंगे।" अत्यंत व्याकुल होकर राजा ने कहा।

ऋषि ने कहा—"सुनो। बूढ़ा, रोगी मृतक और संन्यासी इन चारों को देखने से इसके मानस में वैराग्य का उदय होगा। यदि तुम इन चारों को राजकुमार की दृष्टि से सदैव दूर रक्खोगे, तो संभव है, उसका मन राजभवन में लग जाय।"

"ऋषिराज, हम यही करेंगे। मैं राजभवन को एक और प्राचीर से घेर दूँगा। उसके द्वारों पर भी दिन-रात प्रहरी नियुक्त कर दूँगा कि कोई बूढ़ा रोगी मृतक और संन्यासी यदि भूल से दुर्ग के भीतर आ भी जाय, तो भवन के भीतर न आ सके।"

ऋषि कुशिनी कानन में तपस्या करते थे, लौट गए।

महाराज की उस रानी का नाम था महामाया जिसने इस तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया था। यह ढाई हजार वर्ष पहले की कथा है। अयोध्या से वायव्य दिशा में था वह शाक्यों का राज्य, जिसके अधिपति महाराज शुद्धोदन थे। महाराज ने उस पुत्र का नाम रक्खा—सिद्धार्थ! और अपनी मनोकामनाएँ पूर्ण हुई समझीं।

जब महामाया को यह समाचार सुनाया गया कि उनका पुत्र महान् तेजस्वी है, तो वह रोने लगी। पुत्र-जन्म के बाद से ही वह रोगाक्रांत हो गई थी।

शुद्धोदन ने उसे धीरज बँधाते हुए कहा—"यह तो उत्सव का अवसर है महारानी !"

महारानी ने कहा—"मैं जानती हूँ, मैं अब जीवित नहीं रह सकती ।"

"नहीं-नहीं, ऐसा न कहो ।' प्रजावती, महाराज की दूसरी रानी ने कहा ।

"नहीं बहन असंभव है ।" महामाया ने रोग-क्षीण कंठ से कहा—"जब यह बालक उत्पन्न हुआ था, तो इसने उसी वक्त कहा था—'अग्गोहमस्मि लोकस्स—मैं संसार में सबसे आगे हूँ ।' कोई इस बात का विश्वास न करेगा, समझकर मैंने किसी से नहीं कहा । मैंने स्वप्न भी ऐसे ही देखे हैं । मैं मर जाऊँगी, बहुत शीघ्र ।"

प्रजावती मुख ढककर रोने लगी थी ।

"रोओ मत बहन ! इस बालक में बुद्ध का आविर्भाव होगा । मैंने सुना है, बुद्ध को उत्पन्न करनेवाली जननी अधिक दिन फिर इस लोक में नहीं रहती ।" महामाया बोली ।

"न-जाने यह भ्रम की बात किसने बता दी तुम्हें । मैंने मगध से राजवैद्य बुलाया है तुम्हारी चिकित्सा के लिये ।"

"व्यर्थ श्रम महाराज ! व्यर्थ श्रम !" बड़ी कठिनता-पूर्वक रानी ने पुकारा—"प्रजावती ! बहन !"

रोते-रोते ही उसने उत्तर दिया—"हाँ महारानी !"

"लो इस बालक को अपनी रक्षा में लो, यह मैंने तुम्हें ही दिया । तुम्हीं अब इसकी माता हुई । स्नेह-पूर्वक इसका पालन करना, इससे तुम्हारी गोद उज्ज्वल होगी ।"

प्रजावती हिचकिचाई ।

महाराज ने कहा—"बच्चा रोने लगा है । उसे ममता दिखाओ

प्रजावती ! फिर असितमुनि के वचन भी तो भूलते नहीं हैं। उन्होंने इसे रोगी का मुख दिखाने का निषेध किया है।"

प्रजावती ने बालक अपनी गोद में ले लिया।

महामाया ने कहा—"वचन दो मुझे कि मैं निश्चिन्त होकर मर सकूँ।" वह शय्या पर ढह गई।

"अपने प्राणों की ओट में रखकर बालक की रक्षा करूँगी बहन! भगवान् मेरे साक्षी हों।" प्रजावती ने कहा।

महाराज ने प्रजावती को वहाँ से चले जाने का संकेत किया। वह बालक को लेकर चली गई।

प्रसूता की वेदना बढ़ चली। वह कराहने लगी—"हे भगवान्!"

महाराज ने दुःख-भरे शब्द में कहा—"महामाये!"

वह चुप रही।

महाराज ने फिर उसका नाम लिया।

"हाँ महाराज! ले गई वह मेरे लाल को। उसे न बताना कि वह मातृहीन है।"

"नहीं।

सिद्धार्थ के जन्म के सातवें ही दिन महामाया ने शरीर छोड़ दिया।

महारानी के वियोग के घाव उस शिशु की बाल-क्रीड़ाओं से भर गए। शुक्ल पक्ष के चंद्रमा के समान उस बालक की कलाएँ दिन-दिन बढ़ने लगीं।

---

२ कौन गा रहा है ?

सिद्धार्थ दिन-दिन कांति, तेज, बल और बुद्धि में बढ़ने लगा, पर उसमें बालकों की क्रीड़ा चपलता कभी नहीं देखी गई। जब देखो उसे, तभी न-जाने विचार की किस गहराई में डूबा हुआ रहता था। कुछ भूला-सा, जाने किसे स्मरण करता था। कुछ खोया-सा जाने किसे ढूँढ़ने की चेष्टा करता था।

महारानी प्रजावती अपने समस्त सुख और स्वार्थ की आहुति देकर उस राजकुमार का प्रतिपालन कर रही थी। एक पुत्र उसके भी हो गया था। उसका नाम था नंद। प्रजावती ने कभी भूलकर भी किसी बात में नंद को प्रथम स्थान नहीं दिया।

सिद्धार्थ को वैराग्य की ओर प्रेरणा करनेवाले वे चार निमित्त महाराज शुद्धोदन के मस्तिष्क में आकर बस गए थे। वह रात-दिन इसी चिंता में रहते थे, किस प्रकार वे रोके जा सकेंगे। इसके लिये बड़ी दूरदर्शिता से उन्होंने नाना प्रकार के प्रबंध किए और करते थे।

उन्होंने दुर्ग के प्राचीर के भीतर एक और दीवार बनवाई। उस दीवार से राजभवन, उसके निकट के उपवन का अधिकांश और एक सरोवर को घेर लिया।

उन्होंने दुर्ग के भीतर जितने बूढ़े कर्मचारी थे, उन सबको वृत्ति नियतकर उन्हें छुट्टी दे दी। दुर्ग के भीतर भूल से कभी कोई निमित्त दिखाई दे जाता, पर राजभवन की सीमा के भीतर कभी नहीं।

एक दिन महाराज ने चिंता के भार से विनत होकर प्रजावती से

कहा— 'प्रभावती, पर यह वृद्धावस्था अवश्य पगों से हमारे राजभवन के भीतर भी आ रही है।

प्रभावती गंभीर विचार में पड़ गई—'हाँ महाराज!'

"दुर्ग के भीतर की समस्त वृद्धावस्था हमने वहाँ से हटा दी। इस पर हमारा कोई वश नहीं। वर्ष के प्रत्येक मास माह के एक-एक दिन और दिन की प्रत्येक घड़ी में वह हमारे निकट आ रही है अविराम अप्रतिहत रूप से। हम उसे नहीं रोक सकते। वह हमारे महलियों की आज्ञा नहीं मानती, उसे हमारे दंड का भय नहीं। वह इन दोहरी दीवारों का भेदकर यहाँ आ जाती है।"

'अभी बहुत समय है महाराज! अभी से उसकी क्या चिंता है।"

"समय कभी अधिक नहीं होता।

"फिर भी क्या भय है। हमारे बूढ़े होने तक सिद्धार्थ और नंद, दोनों वयस्क हो जाएँगे। सिद्धार्थ को राज्य-भार सौंपकर हम वनवास के लिये चल देंगे।

'हाँ यही एक मार्ग है महारानी!'

सिद्धार्थ और नंद साथ-साथ खेलते। नंद की प्रकृति भी कुछ गंभीर थी, पर उसमें चपलता की भी कमी न थी।

राजभवन के भीतर कम रहता सिद्धार्थ। नंद उसे बाहर उपवन में ले जाता। सरोवर के पास एक जामुन का पेड़ था। उसके चारों ओर एक स्फटिक का चबूतरा बना हुआ था। सिद्धार्थ को अधिकतर वहीं पर बैठना प्रिय था।

वह घंटों वहीं पर बैठा हुआ रह जाता। नंद के आग्रह का वह सदैव आदर करता। वह उसके साथ खेलता पर बड़े उदासीन और निर्लिप्त भाव से।

खेलते-खेलते वह आकाश के मेघों को देखता हुआ रह जाता। सरोवर में उठती और मिटती हुई लहरों में उसका मन रम जाता।

कभी आकाश में उड़ती हुई चिड़िया, जल में तैरती हुई हंस-पंक्ति या मछलियाँ, भूमि पर अटूट परिश्रम करनेवाली चींटियों की रेखा उसका ध्यान खींच लेती थी।

सिद्धार्थ की समझ में बहुत स्पष्ट होकर पहली बार वसन्त-ऋतु आई उपवन में। लता और कुञ्ज फूलों से भर उठे। पक्षियों के कंठों में नाना प्रकार की मधुर स्वरावलि का जन्म हुआ। पवन मधु-मदिर सुरभि से भर उठी। सिद्धार्थ ने चकित होकर छंद से कहा—"इतनी सुहावनी प्रकृति आज कैसे हो गई। इसमें ये इतने रंग, इतने स्वर और इतनी गंध कहाँ से आ गये?"

दोनों पुष्प-चयन कर रहे थे। छंद ने उत्तर दिया—"पेड़ों के ही खिलाए गए ये फूल। पहले छोटी-छोटी कलियाँ आती हैं। वे ही फिर खिलकर फूल हो जाते हैं।"

"यह तो मैंने भी लक्ष्य किया है। कली कहाँ से आ जाती है?"

"मैं नहीं कह सकता युवराज! धाई से पूछें।" कहकर छंद धाई के पास गया, जो उनकी चौकसी के लिये वहीं खड़ी थी।

धाई ने युवराज सिद्धार्थ के पास आकर पूछा—"क्या आज्ञा है युवराज!"

"बता सकती हो! शाखा में पुष्प कैसे खिला?"

धाई पहले गंभीर हुई, फिर खिलकर हँस पड़ी—"जैसे खिलता है राजकुमार!" उसने सिद्धार्थ के दोनों हाथों को पकड़ दूर से चुम्बन[1] किया और उन्हें अपने माथे से लगाया—"पेड़ में कभी उत्पन्न हुई यह कली, और खिलकर फूल हो गया!"

"इतना तो हम भी जानते हैं। कली कैसे प्रकट हो गई? इतने कोमल रंग उसने कहाँ से पहन लिए?"

"सब भगवान् ने बनाए युवराज!"

'सब प्रश्न समवाय ही पर जाकर समाप्त हो जाते हैं। तुम्हें विपक्ष भाषा क्यों पसंद है? वह हमें दिखाई क्यों नहीं देते?"

"हम उन्हें देखने की चेष्टा ही कहाँ करते हैं! जो करते हैं उन्हें दिखाई पड़ते हैं कैसे नहीं?"

"तुमने देखा कभी?"

"नहीं।

"चेष्टा क्यों नहीं की? फिर तुम्हें ही यह विचार क्यों उत्पन्न हुआ?"

धाई ने सिद्धार्थ को गोद में ले लिया—"तुम्हारा प्रश्न तुम्हारी आयु से कहीं अधिक बड़ा है। जब तुम्हारी अवस्था और परिपक्व हो जायगी फिर ये बातें स्वयं ही समझ में आ जायँगी। चलो महल के भीतर चलें।"

नंद धाई और सिद्धार्थ की बातों में कान दिए हुए चुप चुप रहा था।

सिद्धार्थ के मुख पर अभी उलझन बनी हुई थी। उसने कहा—'नहीं, अभी नहीं।" फूल तोड़ने के लिये हाथ बढ़ाया उसने। धाई की गोद से उतर गया, फिर कहा—"अब ये फूल ऐसे ही खिलते रहेंगे न नित्य?"

'नहीं युवराज।"

उदास होकर सिद्धार्थ ने कहा—"क्यों?"

"ये समाप्त हो जायँगे।"

"तब हम इन्हें तोड़ेंगे नहीं। रहने दो राजकुमार।"

'तुम्हारे तोड़ने-न तोड़ने से कुछ नहीं होगा युवराज! तुम्हारे न तोड़ने से भी वे एक दिन समाप्त हो जायँगे।"

"क्यों?"

"ऐसा ही होता है।"

सिद्धार्थ उदास होकर स्फटिक के मंच पर बैठ गया।

धाई अपने मन में सोचने लगी, मरने की अभी लगा देते युवराज। बात की जड़ खोद रहे हैं। महाराज ने बार-बार कह रक्खा है कि युवराज को ऐसे प्रश्न पूछने पर उत्साहित न किया जाय। उनका ध्यान दूसरी ओर लगा दिया जाय। पर अब यह सुनें, तब न ?

सिद्धार्थ चिबुक पर हाथ रखकर शून्य की ओर निहार रहा था।

धाई ने कहा—"युवराज, राजकुमार नंद ने कितने फूल तोड़ लिए हैं, देखो न। तुम भी क्यों नहीं तोड़ते। फिर मैं मालायें गूँथ दूँगी मित्र की भाँति।

'तुम न बता सकी धाई ! इतनी बड़ी हो गई हो फिर भी कुछ कैसे सिखा ? तुम्हें ज्ञात नहीं। मुरझाना क्यों ? इसका भी कोई उत्तर तुम्हारे पास नहीं। मैं न तोड़ूँगा उन्हें, मुझे माला से क्या करना है।"

धाई ने नंद के पात्र के फूल ले लिए, और वह एक स्थान पर होकर बैठ गई गूँथने।

उसी समय आनंद और देवदत्त आ पहुँचे। वे दोनों सिद्धार्थ के चचेरे भाई थे। दोनों सिद्धार्थ की ही अवस्था के थे। वे कभी-कभी सिद्धार्थ के साथ खेलने के लिये राजभवन के उपवन में आ जाते थे।

आनंद शील-स्वभाव का बहुत अच्छा था। पर देवदत्त बड़ा हठी, घमंडी और बात-बात में झगड़ने को तैयार हो जाता था।

दोनों एक दासी के साथ आए थे। दासी धाई के पास चली गई, और वे दोनों सिद्धार्थ के निकट बैठ गए।

नंद और आनंद के साथ सिद्धार्थ की किथि अच्छी तरह मिल जाती थी। पर देवदत्त बड़ा झगड़ालू था। कूद-फाँद, धींग-धूप, तोड़-

"सब प्रश्न भगवान् ही पर आकर समाप्त हो जाते हैं। उन्हें छिपकर खाना क्यों पसंद है ? वह हमें दिखाई क्यों नहीं देते ?"

"हम उन्हें देखने की चेष्टा ही नहीं करते हैं ! जो करते हैं उन्हें दिखाई देते हैं कैसे नहीं ?"

"तुमने देखा कभी ?"

"नहीं।"

"चेष्टा क्यों नहीं की ? फिर उन्हीं ही यह जिज्ञासा क्यों इधिकर हुआ ?"

धाई ने सिद्धार्थ को गोद में ले लिया—"तुम्हारा प्रश्न तुम्हारी आयु से कहीं अधिक बड़ा है। जब तुम्हारी अवस्था और भी परिपक्व हो जायगी, फिर ये बातें स्वयं ही समझ में आ जायेंगी। चलो, महल के भीतर चलें।"

मंद धाई और सिद्धार्थ की बातों में कान दिए हुए चुप खड़ा रहा था।

सिद्धार्थ के मुख पर बड़ी उलझन जमी हुई थी। उसने कहा—"नहीं अभी नहीं।" फूल तोड़ने के लिये हाथ बढ़ाया उसने। धाई की गोद से उतर गया, फिर पूछा—"सब ये फूल ऐसे ही खिलते रहेंगे न नित्य ?"

"नहीं युवराज !"

हैरान होकर सिद्धार्थ ने पूछा—"क्यों ?"

"ये समाप्त हो जायेंगे।"

"तब हम इन्हें तोड़ेंगे नहीं। रहने दो राजकुमार !"

"तुम्हारे तोड़ने-न तोड़ने से कुछ नहीं होगा युवराज ! तुम्हारे न तोड़ने से भी ये एक दिन समाप्त हो जायेंगे।"

"क्यों ?"

"ऐसा ही होता है।"

सिद्धार्थ उदास होकर स्फटिक के मंच पर बैठ गया।

धाई अपने मन में सोचने लगी, प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं युवराज। बात की बात खोद देते हैं। महाराज ने बार-बार कह रक्खा है कि युवराज को ऐसे प्रश्न पूछने पर उत्साहित न किया जाय। उनका ध्यान दूसरी ओर लगा दिया जाय। पर जब वह सुनें, तब न ?

सिद्धार्थ चिबुक पर हाथ रखकर शून्य की ओर निहार रहा था।

धाई ने कहा—"युवराज, राजकुमार नंद ने कितने फूल तोड़ लिए हैं, देखो न। तुम भी क्यों नहीं तोड़ते। फिर मैं मालाएँ गूँथ दूँगी बिम्ब की भाँति।"

'तुम न बता सकी धाई ! इतनी बड़ी हो गई हो फिर भी फूल कैसे खिला ? तुम्हें ज्ञात नहीं। मुरझाता क्यों ? इसका भी कोई उत्तर तुम्हारे पास नहीं। मैं न तोड़ूँगा उन्हें, मुझे माला से क्या करना है।"

धाई ने नंद के हाथ के फूल ले लिए, और वह एक स्थान पर हटकर बैठ गई गूँथने।

उसी समय आनंद और देवदत्त आ पहुँचे। वे दोनों सिद्धार्थ के चचेरे भाई थे। दोनों सिद्धार्थ की ही अवस्था के थे। वे कभी कभी सिद्धार्थ के साथ खेलने के लिये राजभवन के उपवन में आ जाते थे।

आनंद शील-स्वभाव का बहुत अच्छा था। पर देवदत्त बड़ा हठी, घमंडी और बात-बात में झगड़ने को तैयार हो जाता था।

दोनों एक दासी के साथ आए थे। दासी धाई के पास चली गई, और वे दोनों सिद्धार्थ के निकट बैठ गए।

नंद और आनंद के साथ सिद्धार्थ की विधि अच्छी तरह मिल जाती थी। पर देवदत्त बड़ा उद्दंड था। धूम-धाम, दौड़-धूप, तोड़-

क्रोध के ही खेलों को पसंद करता था। उसकी संगति में युवराज सुखी नहीं जान पड़ता था। उसकी सहज-सरल शांति और विचार कंपित हो जाता था। देवदत्त बड़ा द्रोही भी था। मेरा-तेरा का विचार पग-पग में उसे घेरे रहता था।

सिद्धार्थ की इच्छा उसके साथ खेलने को कभी न करती। पर विवश था। महाराज की इच्छा थी वह समस्त बालकों के साथ खेलता रहेगा, तो उसकी सामाजिकता बढ़ेगी। वह सांसारिक पदार्थों में मन रमायेगा।

एक साथी और था कपिलवस्तु की इस सातवीं दीवार के भीतर क्रीड़ा करनेवाले राजकुमारों का। वह एक नाई का पुत्र था उसका नाम था छंदक। सिद्धार्थ को वह अत्यंत प्रिय था।

देवदत्त एक छाया-सा धनुष-बाण लिए हुए था। धनुष की प्रत्यंचा ढीली पड़ गई थी वह उसे बाँध रहा था।

"काका आनंद, आज बड़ी देर से आए?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"हाँ घोड़ों पर चढ़कर वन की सैर को चले गए थे।" आनंद ने उत्तर दिया।

"मेरा भी कभी-कभी मन करता है। पर महाराज की आज्ञा नहीं है। वह कहते हैं बाहर की सभी वस्तुएँ हमने यहीं प्रस्तुत कर रखी हैं।"

आनंद बोला—"यह सब तो है युवराज! आकाश, वन, उपवन सरोवर, पशु-पक्षी वृक्ष-लता पत्र-पराग नर-नारी, रथ-वाहन, सभी कुछ तो है यहाँ। संसार के सभी प्रकार के विलास की सामग्री से राजभवन परिपूर्ण है तुम्हारा।"

"और कुछ नहीं है आनंद?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"नहीं युवराज!"

"तुम कपिलवस्तु की सातों दीवारों के बाहर भी तो गए हो न?"

'हाँ।"

मैं केवल तीसरी दीवार तक गया था। वहीं अतिमित्र के महाराज की आज्ञा मिली। वह भी साथ ही थे।'

"राजकुमार नंद ?" आनंद ने पूछा।

"हाँ, वह भी थे। इन सातों दीवारों के बाहर दूर से जैसे कोई बुला रहा है मुझे, वहाँ जंगल और वेदना-भरी पुकार में आनंद ! हिम-भरे वन-पर्वतों में घूमते रहने की इच्छा होती है।"

"वहाँ नवीन देखने के लिये कुछ भी नहीं है। यहाँ प्रचुर विस्तार है। पीछे और रथ में तुम घूमते ही तो हो यहाँ।"

"इससे तृप्ति नहीं होती। वह मार्ग घूमकर फिर यहीं आ जाता है। मैं घूमना चाहता हूँ ऐसे मार्ग में, जिसका सिरा क्षितिज की निस्सीमता में खो गया हो।"

आनंद हँसने लगा—"जब बड़े और वयस्क हो जाओगे, तो जा सकोगे, क्या चिंता है।"

नंद भी तनिक निकट आ गया था और देवदत्त अपने धनुष-बाण ठीक करने में दत्तचित्त था।

अचानक सिद्धार्थ ने नंद का हाथ पकड़ लिया—"फिर वही सुना ! क्या मधुर और आकर्षण से भरा गीत ! तुमने नहीं सुना नंद ?"

नंद ने हँसकर कहा—"वह तो आम की मंजरियों में कोयल कूक रही है।"

"क्या करुण और मर्मवेधी आलाप ! तुमने सुना कुछ ?" सिद्धार्थ ने आनंद से पूछा।

"कहाँ ? किधर ? युवराज ! मैं तो कुछ भी नहीं सुन रहा हूँ।" आनंद ने उत्तर दिया।

खेल के ही खेलों को पसंद करता था। उसकी संगति में युवराज दुखी नहीं जान पड़ता था। उसकी सहज-सरल शांति और विचार कंठित हो जाता था। देवदत्त बड़ा क्रोधी भी था। मेरा-तेरा का विचार पग-पग में उसे घेरे रहता था।

सिद्धार्थ की इच्छा उसके साथ खेलने की कभी न करती। पर विवश था। महाराज की इच्छा थी वह समस्त बालकों के साथ खेलता रहेगा तो उसकी सामाजिकता बढ़ेगी। वह सांसारिक पदार्थों में मन लगायेगा।

एक साथी और था कपिलवस्तु की इस मानवी दीवार के भीतर क्रीड़ा करनेवाले राजकुमारों का। वह एक भाई का पुत्र था उसका नाम था आनंद। सिद्धार्थ को वह अत्यंत प्रिय था।

युवराज एक छोटा-सा धनुष-बाण लिए हुए था। धनुष की प्रत्यंचा ढीली पड़ गई थी वह उसे बाँध रहा था।

"आओ आनंद, आज बड़ी देर से आए !" सिद्धार्थ ने पूछा।

"हाँ घोड़ों पर चढ़कर वन की सैर को चले गए थे।" आनंद ने उत्तर दिया।

"मेरा भी कभी-कभी मन करता है। पर महाराज की आज्ञा नहीं है। वह कहते हैं, बाहर की सभी वस्तुएँ हमने यहाँ एकत्र कर रक्खी हैं।"

आनंद बोला—"यह सच तो है युवराज ! आकाश, वन उपवन, सरोवर, पशु-पक्षी वृक्ष-लता पथ-मैदान, नर-नारी रथ-वाहन, सभी कुछ तो हैं यहाँ। संसार के सभी प्रकार के विहार की सामग्री से राजभवन परिपूर्ण है तुम्हारा।"

"और कुछ नहीं है आनंद ?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"नहीं युवराज !"

"तुम कपिलवस्तु की सातों दीवारों के बाहर भी तो गए हो न ?"

"हाँ।"

"मैं केवल तीसरी दीवार तक गया था। वहीं महाराज की आज्ञा मिली। वह भी साथ ही थे।"

"राजकुमार नंद ?" आनंद ने पूछा।

"हाँ, वह भी थे। इन सातों दीवारों के बाहर दूर से जैसे कोई बुला रहा है मुझे, बड़ी करुण और वेदना-भरी पुकार से आनंद ! दिन-भर वन-पर्वतों में घूमते रहने की इच्छा होती है।"

"यहाँ जमीन रखने के लिये कुछ भी नहीं है। यहाँ मधुर विस्तार है। घोड़े और रथ में तुम घूमते ही तो हो यहाँ।"

"उससे तृप्ति नहीं होती। वह मार्ग घूमकर फिर यहीं आ जाता है। मैं घूमना चाहता हूँ ऐसे मार्ग में, जिसका सिरा क्षितिज की झिलमिलता में खो गया हो।"

आनंद हँसने लगा—"अब जब और वयस्क हो जाओगे, तो जान सकोगे, क्या छिपा है।"

नंद भी उनके निकट आ गया था और देवदत्त अपने धनुष-बाण ठीक करने में दत्तचित्त था।

अचानक सिद्धार्थ ने नंद का हाथ पकड़ लिया—"फिर वही सुना ! बड़ा मधुर और आकर्षण से भरा गीत ! तुमने नहीं सुना नंद ?"

नंद ने हँसकर कहा—"वह तो आम की मंजरियों से कोयल कूक रही है।"

"बड़ा करुण और मर्मवेधी, आनंद ! तुमने सुना कुछ ?" सिद्धार्थ ने आनंद से पूछा।

"कहाँ ? किधर ? युवराज ! मैं तो कुछ भी नहीं सुन रहा हूँ।" आनंद ने उत्तर दिया।

सिद्धार्थ के मुख पर बड़ी विकलता उत्पन्न हुई। वह उठकर इधर-उधर टहलने लगा।

देवदत्त का धनुष ठीक हो गया था। उसने उसमें बाण चढ़ाकर फेंका जामुन के पेड़ की शाखा में, जहाँ बहुत-सी चिड़ियाँ बैठी थीं।

पक्षी पंख फड़फड़ाकर उड़ गए। बाण किसी के लगा नहीं, दो चार पत्तों को गिराकर दूर जा पड़ा।

सिद्धार्थ ने चौंककर कहा—"राजकुमार देवदत्त! यह क्या किया तुमने?"

"तुमने टोक दिया, नहीं तो एक चिड़िया तो अवश्य ही मिल जाती।" देवदत्त दौड़कर अपना बाण ले आया।

"मैंने तुम्हें बाण संधानते हुए देखा भी नहीं।"

देवदत्त फिर बाण चढ़ाने लगा अपने धनुष में।

सिद्धार्थ ने कहा—"देवदत्त, तुम आज ही लाए हो धनुष-बाण?"

"हाँ युवराज, यह मुझे इसकी वर्ष-गाँठ के उपलक्ष में अभी कल ही तो मिला। क्षत्रिय का धनु और दूसरी किस वस्तु की चाहना करे? शस्त्र के कौशल से ही वह मित्र और शत्रु, दोनों के बीच में आदर का पात्र होता है।"

"नहीं देवदत्त!" सिद्धार्थ उसका हाथ पकड़ने लगा।

"केवल एक चिड़िया! तुम्हें यह दिखाने के लिये कि एक ही दिन के अभ्यास से संधान कितना ठीक हुआ है।"

"नहीं नहीं। यदि तुम्हारे बाण से एक भी पक्षी धराशायी हुआ, तो फिर सब-के-सब भयभीत होकर भाग जायँगे। देवदत्त, राज्य-भर में तुम मुक्त-गति हो। नगर और वन में चाहे जहाँ भी जा सकते हो। तुम और कहीं अभ्यास करना। मैं कहाँ जा सकता हूँ। यही पक्षी मेरे सहचर और सखा हैं। वे मेरे

आम्र और कंधों पर बैठकर खेलते-कूदते हैं। ये मेरे हाथों पर से ही दाना उठाकर खाना पसंद करते हैं। इनके बीच में तुम इस प्रकार भय न फैलाओ।" सिद्धार्थ ने बड़ी अनुनय-विनय के साथ कहा—"इन्हें न मारो राजकुमार! इन्होंने तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ा है।"

"तुम शाक्यों के युवराज हो। भविष्य में हमारे राजा बनोगे, शाक्यों की वीरता से ही शत्रु हमसे डरता है। तुम्हारी भी वर्ष-गाँठ निकट है। तुम भी उपहार के लिये धनुष-बाण की ही इच्छा प्रकट करना।"

"नहीं, कदापि नहीं।"

"अच्छा, यदि धनुष-बाण निषिद्ध वस्तु होते, तो राज्य के शस्त्र-विद्यालय से शस्त्र-विद्यालय कदापि प्रसिद्ध न होता। मद्र और लिच्छवियों के अनेक राजकुमार शस्त्र-विद्यालय में शिक्षा पा रहे हैं। मैं भी शीघ्र ही वहाँ भरती होऊँगा।" देवदत्त ने बड़े उत्साह में भरकर कहा। उसने तीर धनुष से उतारकर तूणीर में रख लिया—"पर तुम मुझे शस्त्र-विरत नहीं कर सकते।"

"इन हँसते हुए फूलों, नाचती हुई लहरों और गाते हुए पक्षियों से ही मेरा जगत बना हुआ है। तुमने उसे क्षति न पहुँचाने के उद्देश्य से बाण रख लिया, तुम धन्यवाद के पात्र हो।"

"पर तुमसे एक बात कहता हूँ सिद्धार्थ! ये फूल, हास्य, पक्षी और सरोवर का ही जगत् नहीं है। तुम शाक्यों के राजसिंहासन पर अधिकार करोगे। तुम्हें राज्य के चारों ओर की अन्य जातियों से संबंध रखने होंगे। तुम्हें वीर बनने के लिये उद्योग करना चाहिए।" देवदत्त ने आनंद की ओर मुड़ कर कहा—"क्यों आनंद ?"

सिद्धार्थ ने कुछ उत्तर नहीं दिया। केवल हँसकर भैया का हाथ पकड़ लिया।

"दो-चार वर्षों में तुम विवाह-योग्य हो जाओगे। मैं कहता हूँ, यदि तुम शस्त्र-विद्या के प्रति ऐसे ही उदासीन रहे, तो कोई भी सर्वगुण-संपन्न क्षत्रिय-कुमारी तुम्हारे साथ विवाह करने के लिये उद्यत न होगी। यदि तुम्हारी माता प्रसन्न होती, तो क्या ऐसा होता!' देवदत्त ने कहा।

"तुमने एक बार पहले भी ऐसा कहा था। क्यों राजकुमार, मेरी माता तो यहीं है।"

"कौन महारानी प्रजावती? वह तो तुम्हारी विमाता है।"

"माता मेरी!'

"उनकी मृत्यु हो गई! सुनता हूँ, जब तुम केवल सात दिन के थे।"

"मृत्यु हो गई! मृत्यु कहते किसे हैं?"

माथा गूँथते हुए कुछ सुनकर धाई दौड़कर आ गई वहीं पर। देवदत्त कुछ दूर पर चला गया।

सिद्धार्थ ने धाई से पूछा—"धाई, मृत्यु किसे कहते हैं?"

धाई ने तीक्ष्ण दृष्टि से देवदत्त की ओर देखा—"राजकुमार देवदत्त! तुम सबमें बड़े हो। मुँह से कोई शब्द निकालते कुछ भी विचार नहीं करते।"

"मैंने क्या कहा?"

सिद्धार्थ ने कहा—"राजकुमार देवदत्त ने कहा कि मेरी माता की मृत्यु हो गई!"

धाई ने ऊँचे स्वर में सिद्धार्थ के वाक्य का अंतिम भाग दबा दिया—"चुपो, चुपो, ऐसा नहीं कहते, वह माता है।"

"फिर मेरी माताजी कहाँ हैं ?"

"राजभवन में। तुम्हारे ही लालन-पालन के क्रम में तुम्हारे ही ध्यान और चिन्तन में।"

"हैं अच्छा है।"

हँसते हुए देवदत्त आ पहुँचा फिर वहीं पर—"मैंने हँसी की थी राजकुमार, महारानी प्रजावती ही तुम्हारी माता हैं।"

सिद्धार्थ ने कहा—"पर यह शब्द मुझे बड़ा प्रिय प्रतीत हुआ जैसे अनेक दिनों का सुना हुआ—परिचित !"

"सावधान ! इसे भूल जाओ। अब मुख से प्रकट न करना। महाराज सुनेंगे, तो मुझे सूली पर लटका देंगे।" धाई ने सिद्धार्थ के पैर पकड़कर कहा।

"नहीं, न कहूँगा धाई, भूल जाऊँगा। पर क्या इसे भूल जाना ही इसे याद रखना नहीं है ? अब आज मेरा मन खेलना नहीं चाहता !" सिद्धार्थ ने कहा।

"राजभवन के भीतर चलो।"

"नहीं, इसी जामुन के वृक्ष के नीचे बैठ रहूँगा। तुम सब चले जाओ। मुझे एकान्त ही प्रिय है।" सिद्धार्थ ने कहा।

धाई ने मंच पर के बिछे हुए ऊनी आसन को फटकारकर स्वच्छ कर दिया।

सब चले गए राजभवन की ओर।

सिद्धार्थ चुपचाप पेड़ की छाया में विचार करने लगा—"मृत्यु, यही वह शब्द है, धाई को असहनीय, पर मेरी इच्छा बार-बार इसी को रटने की है।" वह उपवन में घूमने लगा।

वृक्ष से बिछुड़कर एक मुरझाया हुआ जुही का फूल उसके कंधे पर गिरकर भूमि पर पतित हो गया।

सिद्धार्थ ने उसे हाथ में उठा लिया—"हूँ, इसमें उल्लास और

कोमल साथियों से क्यों बिछुड़ गया। तू सूख गया, मुरझा गया, तू श्री-हीन हो गया! इसीलिये शाखा ने तुझे परित्याग कर दिया? क्या इसी का नाम मैंने अभी सुना था। शाखा पर तू न-जाने कहाँ से आ गया, मैं नहीं जानता। भूमि पर की मिट्टी में तू कहाँ जा जायगा, मैं इससे भी अनजान हूँ!" वह जामुन के पेड़ के नीचे बैठ गया, उदास और अप्रसन्न होकर।

महारानी के साथ द्रुवोदन उपवन की ओर ही आ रहे थे। वे सब आँगन में ही उन्हें मिल गए।

महाराज ने कहा—"राजकुमार देवदत्त, युवराज का साथ क्यों छोड़ आए?"

"उन्होंने स्वयं ही हम सबसे जाने को कह दिया। आप उन्हें जाने भी दो नहीं देते कहीं। मेरे इस छोटे-से पशु-शावक को देखकर वह भयभीत हो उठे।" देवदत्त ने कहा।

"बड़ा भीरु स्वभाव हो गया है युवराज का, इसमें संदेह नहीं।" महारानी ने कहा।

"मैं इनके शारीरिक साहस और शक्ति के विकास के लिये भी राजभवन में ही किसी शस्त्राचार्य की नियुक्ति कर दूँगा। दुर्ग की दूसरी दीवार के भीतर बहुत बड़ा मैदान है। घोड़े और रथों की दौड़ के लिये भी पर्याप्त स्थान है। वहाँ तक इनके जाने में कोई हानि नहीं है।" महाराज ने कहा।

सब फिर उपवन की ओर चले।

नंद ने कहा—"शास्त्रों की शिक्षा देने के लिये जो गुरु आते हैं, वह आज कह रहे थे युवराज जैसा प्रतिभा-संपन्न बालक आर्यावर्त में दूसरा कदाचित् कोई नहीं है इस समय।"

"हाँ, मुझसे भी कहते थे कि अब युवराज के लिये किसी दूसरे आचार्य का प्रबंध कीजिए, मेरी सब विद्या समाप्त हो गई।" द्रुवोदन ने कहा।

वे जब सिद्धार्थ के पास पहुँचे, तो उन्होंने देखा वह आँखें बंद किए हुए मंच पर सो रहा है। वे सब चुपचाप वहीं बैठ गए।

महाराज ने कहा—"चुप रहो। नींद न तोड़ना युवराज की।"

अचानक सिद्धार्थ उठकर कहने लगा —"कितना मधुर! कैसा ...! यह स्वप्न है या गीत ?" पास बैठे हुए महाराज आदि पर उसकी दृष्टि पड़ी। वह चुप हो गया।

"क्या हुआ युवराज ?" शुद्धोदन ने पूछा।

"आज से, छिपा हुआ कोई गाता है महाराज! मेरे ... से, वह प्रेम की प्रेरणा से परिपूर्ण है।" सिद्धार्थ ने उत्तर दिया।

"अब वे ओट से निकलकर तुम्हारे सम्मुख ही गावेंगी। मैंने ...देश से कई गीत-कुमारियाँ बुलाई हैं, मधुर गान करने। उनके शीघ्र ही कपिलवस्तु पहुँच जाने का समाचार है।"

उपवन का एक शावक मृग आकर सिद्धार्थ के चरणों में चाटने लगा। सिद्धार्थ ने ईषत् हास्य के साथ महाराज को निहारा, और फिर उस मृग की पीठ पर हाथ फेरने लगा।

महाराज ने फिर कहा—"युवराज! तुम क्षत्रिय के पुत्र हो, तुम्हें इतना कल्पनाशील न होना चाहिए। एक दिन तुम सिंहासन के अधिकारी होओगे। तुम्हें जाति के मित्र और शत्रु दोनों से संबंध रखना पड़ेगा। इसलिये तुम्हें लोक-व्यवहार सीखना उचित है। अकेले यहाँ मूक रहकर अपने ही विचारों में डूबे रहने से तुम्हारे स्वास्थ्य पर इसका हानिकर प्रभाव पड़ेगा। कल से इस दीवार के द्वार तुम्हारे लिये मुक्त होंगे। वहाँ जो मैदान है वहाँ तुम्हारे व्यायाम, खेल-कूद, घोड़े और रथों की दौड़ तथा शस्त्र-विद्या के अध्ययन का प्रबंध होगा। ये सब सीखने तुम्हें आवश्यक हैं।"

"मैं सीख चुका हूँ महाराज ये सब।" सिद्धार्थ ने उत्तर दिया।

"कब ?" आश्चर्य से पूछा महाराज ने।

"यह नहीं बता सकता । जन्म की बड़ी प्रतीत महत्ता है महाराज !"

"क्या किसी और जन्म की बात तुम कह रहे हो ?"

"यह भी नहीं जानता ।"

"घोड़ा दौड़ा सकते हो ? धनुष चला सकते हो ?"

"हाँ महाराज, आप परीक्षा ले सकते हैं ।"

"बड़ी प्रसन्नता की बात है । छंदक तुम्हारा मित्र सखा है । यह तुम्हारा साथी विपुल कुमार ।"

"केवल एक आपत्ति है महाराज !

"क्या ?"

"मैं निरपराध जीवों के ऊपर हाथ न चलाऊँगा ।"

"अच्छी बात है । कल से शस्त्र-विद्यालय के आचार्य तुम्हारा हस्त-कौशल देखेंगे । फिर एक दिन निश्चय किया जायगा तुम्हारी परीक्षा के लिये ।'



३ हलोत्सव

पिलवस्तु सात दीवारों से घिरी हुई राजधानी थी। सबके भीतर पहली दीवार से घिरा हुआ राजभवन था। इसमें परिवार और दास-दासियों-सहित महाराज निवास करते थे। इसके चारों ओर दूसरी दीवार के भीतर उनके निकटतम संबंधी रहते थे। तीसरी दीवार के भीतर शाक्यों के अन्य कुलपतियों के भवन थे। राज्य का राजकोष, न्यायालय आदि राज-प्रबंध के भवन यहीं बने हुए थे। यहीं शाक्यों के इस गणतंत्र की सार्वजनिक सभा-संथागार के अधिवेशन होते थे। चौथी दीवार के भीतर राज्य की सेना आदि के नायक और अधिनायकों की बस्ती थी। यहीं राज्य के शस्त्र और शास्त्र के विद्यालय भी थे। पाँचवीं दीवार के भीतर नगर था। राज्य का भीतरी और बाहरी वाणिज्य यहीं होता था। सबसे अधिक घनी जन-संख्या यहीं थी। भाँति-भाँति के व्यवसायी श्रम और शिल्पजीवी सब यहीं रहते थे। क्षेत्रफल में भी यह सब भागों से बड़ा था, चहल-पहल भी यहाँ सबसे अधिक थी। नगर के बाहर, छठी दीवार के भीतर राज्य की सेना रहती थी। यहीं शस्त्रागार, गजशालाएँ और अश्वशालाएँ थीं। राज्य की सेना का सामान बनाने की शिल्प-शालाएँ भी यहीं थीं और कारागार भी यहीं अवस्थित था।

सिद्धार्थ का मन इन सातों दीवारों को तोड़कर बाहर जगत् में मिल जाना चाहता था। इन सातों प्राचीरों को भेदकर मुक्त पवन की भाँति प्रकृति में समा जाना चाहता था।

राजभवन से केवल एक ही मार्ग दुर्ग के सबसे बाहरी सिंहद्वार-

एक बड़ा नगर था। दुर्ग के भिन्न भिन्न विभाग इस एक ही मार्ग से परस्पर संबद्ध थे। यह मार्ग जहाँ पर किसी दीवार का अतिक्रमण करता था, वहाँ एक भीतर की ओर दूसरा बाहर, दो-दो प्रहरी नियुक्त थे।

सिद्धार्थ के लिये पत्थर की दीवार में द्वार खुला। आनंद और देवदत्त दुर्ग के उस दूसरे विभाग में ही रहते थे। वहाँ जो बड़ा मैदान था वहाँ उन चारों राजकुमारों की शस्त्र-शिक्षा का प्रबंध किया गया। सुदत्त शस्त्राचार्य नियुक्त हुए। वह नियमित समय में राजकुमारों को हस्त-कौशल और व्यायाम की शिक्षा तथा उसका अभ्यास कराते थे। उन्हें अस्त्र-निक्षेप और शस्त्र-संचालन सिखाया जाने लगा। पैदल रथ और वाहनों की दौड़ की शिक्षा दी जाने लगी।

महाराज ने इस बात के लिये अत्यंत सावधान होकर प्रबंध किया कि बूढ़े, रोगी, मृतक और संन्यासी, इन चार निमित्तों में से कोई युवराज के समीप न आ जाय। उस मार्ग में रहनेवाले सबंधियों को संकेत कर दिया था कि युवराज की शिक्षा के समय कोई निमित्त उनके मार्ग में न आवे। स्थान-स्थान पर मार्ग में इसकी रोक के लिये प्रहरी भी बिठा दिए गए।

लक्ष्य की शिक्षा में भी सिद्धार्थ सब राजकुमारों में बुद्धि का तीव्र निकला। उसका हस्त-लाघव पैनी दृष्टि, साहस और स्फूर्ति देखकर एक दिन आचार्य ने महाराज से कहा—"निःसंदेह युवराज एक संस्कारी बालक है। इसकी प्रत्येक बात में मुझे पूर्व जन्मों की साधना प्रतिफलित दिखाई देती है।"

जीवों के ऊपर बाण चलाने के लिये सिद्धार्थ एक पल के लिये भी सम्मत नहीं हुआ। वह किसी दूसरे को ऐसा करते हुए देखने को भी तैयार न था।

एक साल का वृक्ष था, उसी पर बाण चलाकर राजकुमार लक्ष्य-साधना किया करते थे। कालांतर में एक दिन सिद्धार्थ उस वृक्ष के नीचे स्थित होकर ध्यान से कुछ देखने लगा।

आचार्य ने पूछा— "क्या देख रहे हो सिद्धार्थ! ऐसी तन्मयता के साथ?"

"यह रूप और वृक्षों के समान नहीं दिखाई दे रहा है। कुछ विकृत और रस-हीन हो गया है।"

"हाँ, युवराज! यह सूख चला है।"

"क्यों?"

"इसका तना निरंतर बाणों के आघात से जर्जरित हो गया इसी से। इसमें भी जीव है।

'इसमें भी जीव है?'

'हाँ, यदि जीव न होता, तो यह बढ़ता कैसे?'

"सच है आचार्य! मैं अब वृक्ष पर भी तीर न चलाऊँगा। एक बात पूछता हूँ गुरुदेव! आप भ्रम दूर कर देंगे मेरा?" सिद्धार्थ उन्हें और भी तन्मयता की ओर ले गया।

"शस्त्र-संबंधी नहीं है यह, शास्त्र-संबंधी है।"

"भ्रम दूर करने के लिये बड़ा भारी मानसिक बल चाहिए, फिर कभी वेदों का अध्ययन किया ही नहीं।"

"क्यों, शस्त्राध्ययन के प्रारंभिक दिनों में आपने कहा था कि धनुर्विद्या वेद का ही एक अंग है। उसमें भी मंत्रबल की आवश्यकता है। बिना मंत्र-सिद्धि किए उसकी पूर्णता नहीं।"

"तुमसे कुछ नहीं छिपा सकता युवराज! महाराज से भी। मैंने मंत्र सिद्ध किया ही नहीं।"

"क्यों?"

"कोई गुरु नहीं मिला।"

"तो मैं एक साधारण-सी बात पूछता हूँ, आप जानते ही होंगे। बहुत दिनों की बात है, मैंने एक शब्द सीखा—'मृत्यु'। मैंने शास्त्राचार्य से इसका अर्थ पूछा। उन्होंने कहा कि मृत्यु ब्रह्म का ही एक अपर नाम है। वह ब्रह्म के ही समान सूक्ष्म और क्लिष्ट है। आप अधिक न बताइए। केवल 'हाँ' या 'ना' में ही आपका उत्तर चाहता हूँ।"

निमित्तों की चर्चा करनी भी निषिद्ध थी, युवराज के साथ। पर उनकी आकुलता और विनय ने आचार्य के मन की राज-चेतावनी को ढक दिया। उन्होंने कहा—"पूछो युवराज, मैं यथाशक्ति उत्तर दूँगा।"

"इस वृक्ष के सूख जाने और मृत्यु में कोई संबंध है?"

"है युवराज।"

आशा से भरकर युवराज ने पूछा—"क्या आचार्य!"

"वनस्पति का सूख जाना ही उसकी मृत्यु है।"

"और मृत्यु?"

"जीवन के दूसरे सिरे का नाम मृत्यु है।"

सिद्धार्थ ने बड़ी करुणा भरी मुसकान के साथ कहा—"उस दिन राजकुमार देवदत्त ने जो पक्षी बाण मारकर भूमि पर गिरा दिया था, वह फिर न उड़ सका?"

"हाँ, कुछ देर बाद उसकी मृत्यु हो गई।"

"जीवों के ऊपर तीर न छोड़ने की प्रेरणा मेरे मन में स्वयं ही हो गई आचार्य! वह उचित ही हुआ। फिर वह चिड़िया कहाँ गई?"

आचार्य ने देखा युवराज प्रश्नों की झड़ी लगा रहा है। उन्होंने उस प्रसंग का वहीं पर अंत कर दिया—"कोई नहीं बता सकता, मरकर वह चिड़िया कहाँ चली गई।"

"कोई भी नहीं?" अत्यंत निराश होकर युवराज ने पूछा।

"नहीं!"

सिद्धार्थ ने आकाश की ओर देखा। उसकी दृष्टि एक विशाल वृक्ष पर पड़ी। उसने उसकी ओर संकेत कर कहा—"यह बकुल का वृक्ष भी तो सूख गया। उस पर इसने कभी बौर नहीं लगाए।"

"वह वृद्ध हो गया था। युवराज!"

दूसरा निमित्त सुलझने लगा सिद्धार्थ पर।

उसने पूछा—"वृद्ध क्या हुआ आचार्य!"

"पुराना पड़ गया।"

"पुराना पड़ गया! पुराना पड़ने से तो उसे और भी समृद्ध होना चाहिए था। चार-पाँच वर्ष पहले मेरे अंग इतने बलवान् नहीं थे, जितने अब हैं।"

आचार्य को राजाज्ञा का स्मरण हुआ। वह घबराकर बोले—"युवराज, अब इस विषय की चर्चा बंद कर दो। समय आने पर तुम बड़े हो जाओगे, और इन बातों को स्वयं ही समझने लग जाओगे।'

युवराज ने कहा—"क्या आपको भी यह राजाज्ञा सुनाई गई है कि सिद्धार्थ के साथ अधिक बातें न की जायें। पर जितने मेरे प्रश्न छिपा दिए जा रहे हैं, वे उतने ही अपने आप सुलझते जा रहे हैं।"

"इसलिये तुम्हें अधीर नहीं होना चाहिए युवराज! यहाँ हम सब तुम्हारी मंगल-कामना और हित-साधन के ही लिये हैं।"

"मृत्यु और वृद्धावस्था इनके नाम आज ज्ञात हुए हैं। नाम से क्या होता है। मैंने देखा है इन्हें। ये दोनों भाई-बहन हैं, क्यों आचार्य!" सिद्धार्थ ने पूछा।

आचार्य ने कुछ हँसकर कहा—"मैं नहीं जानता युवराज! सब राजकुमार चले गए हैं। बड़ा विलंब हो गया। हमें भी तो जाना चाहिए, चलो।'

आचार्य सिद्धार्थ को राजभवन तक पहुँचाने चले गए।

एक दिन राजकुमारों की घुड़दौड़ के लिये निश्चय हुआ। अब चारों राजकुमारों के अतिरिक्त और भी उनके अनेक ज्ञाति-भाई एकत्र हुए, उसी मैदान में। अच्छी तरह देख-भालकर कुछ दर्शकों की भीड़ भी एकत्रित की गई वहाँ। आवश्यक मार्गों में पहरीगण रख दिए गए।

पहली दौड़ आरंभ होने लगी।

युवराज का सारथी और सखा छंदक रास पकड़कर कंथक को उनके समीप ले गया।

कंथक सिद्धार्थ का परम प्रिय घोड़ा था। वेग में पवन, कांति में हिमालय और दर्प में कुबेर के वाहन की समता रखता था। कहते हैं, वह युवराज की बोली भी समझ जाता था।

सिद्धार्थ ने घोड़े की गर्दन थपथपाकर कहा—"कंथक! तुम आ गए?"

कंथक ने हिनहिनाकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की।"

छंदक बोला—"कंथक, यदि दौड़ में आज तुम सर्वप्रथम न हुए, तो बड़ी लज्जा की बात होगी।" छंदक ने रास युवराज को सौंपी—"आप ही सर्वप्रथम होंगे युवराज मैं जानता हूँ।"

सिद्धार्थ ने क्षिप्रता से अश्व पर आरोहण किया।

दौड़ आरंभ हुई आचार्य का संकेत पाकर।

आदि में कुछ पिछड़ गए थे युवराज। उन्होंने कंथक को हलकी एड़ लगाई। उसने हवा होकर सबको बहुत पीछे छोड़ दिया। उसकी इस तीव्रता से सारी दौड़ उत्तेजित हो उठी, और सबकी प्रतियोगिता के लिये मन-प्राण से चेष्टा करने लगी।

कोई घोड़ा मचल गया कोई आरोही की मार खाने के कारण उसे भूमि पर फेंककर स्वच्छंद दौड़ गया। कोई घोड़े के पीछे-पीछे भी साहस को स्थिर रखकर सबके अंत में दौड़ा आ रहा था।

कंथक उड़ा जा रहा था। उसके चरण भूमि का स्पर्श भी नहीं कर रहे हैं, ऐसा दूर से प्रतीत हो रहा था। अन्य प्रतियोगी बहुत दूर छोड़ दिए सिद्धार्थ ने। उस दल में देवदत्त ही अग्रणी था।

विजय-स्तम्भ अब थोड़ी ही दूर रह गया था। महाराज शुद्धोदन का मस्तक युवराज की सफलता से उन्नत और आलोकित हो उठा।

अचानक! अचानक सिद्धार्थ का घोड़ा रुक गया। वह घोड़े से उतरकर समीपवर्ती एक वृक्ष की छाया में चला गया। उसके अन्य प्रतियोगी आगे बढ़ गए। राजकुमार देवदत्त दौड़ में सर्व प्रथम हो गया।

भीड़ ने आकर चारों ओर से युवराज को घेर लिया।

महाराज ने पूछा—"क्यों युवराज! क्या बात हो गई?"

सिद्धार्थ ने उत्तर दिया बड़ी शान्त मुद्रा में—"कुछ नहीं महाराज!"

"फिर घोड़ा क्यों रोक लिया? दौड़ को विजित कर लेने में कुछ ही नाप भूमि शेष थी।"

सिद्धार्थ भक्ति-सदय से अपना उत्तरीय खोलकर उससे घोड़े के मुख पर व्यजन करने लगा—"अत्यंत तीव्र गति से कंथक का श्वास चलने लगा था। इसका विकल हांफना मुझसे देखा नहीं गया। मैंने दौड़ की विजय इस मूक प्राणी की विश्रांति के साथ बदल दी महाराज! यह बड़ी कृतज्ञता से अर्ध-आँखों से मुझे निहार रहा है। यह वाणी-विहीन अश्व मूक-भाषा से मुझे धन्यवाद दे रहा है। विजय के हर्ष से यह करुणा की प्रेरणा मेरे लिये कहीं अधिक मधुर और प्रिय हो गई!"

महाराज ने भावों के आवेश में सिद्धार्थ को छाती से लगाया। उसके सिर पर हाथ रखकर उसका माथा सूँघा। उन्हें असित ऋषि की भविष्य-वाणी याद आई और वह विकल हो उठे।

अनेक लोगों ने सिद्धार्थ के इस त्याग और दया की सराहना की।

देवदत्त चुपके-चुपके अपने एक सखा से कह रहा था—"और सिद्धार्थ की इस मूर्खता से लाभ उठाया देवदत्त ने।"

और एक दिन की बात है। सिद्धार्थ स्नानागार में जाने के लिये तैयार हो गया था। उसी समय उसने बाहर सड़क पर किसी को चीखते हुए सुना। वातायन से झाँककर देखा, एक रथवान रथ में जुते हुए बैल को बुरी तरह पीट रहा है। युवराज बाहर की ओर भागा। उसके अंग पर केवल एक परिधान था।

भृत्य ने कहा—"युवराज!"

"हाँ-हाँ, अभी थोड़ी ही देर में लौट आता हूँ मैं। तुम मेरे नवीन वस्त्र लाकर रख दो यहाँ तब तक।"

भृत्य वस्त्र लाने चला गया।

युवराज ने बाहर आकर देखा। रथवान अभी तक बैल को पीट ही रहा था। उसने कहा—"बैल को इतनी निर्दयता से क्यों पीट रहे हो?"

रथवान ने नहीं पहचाना युवराज को, कहने लगा—"तुम क्या जानो। खा-खाकर यह मोटा हो गया है। परिश्रम करने के नाम पर मरा जाता है।" उसने फिर बैल की पूँछ मरोड़ी और उसकी पीठ पर सटासट कोड़े जमाने लगा।

"नहीं-नहीं, ऐसी निर्दयता से न मारो इस मूक पशु को।" युवराज ने उसका हाथ पकड़ लिया।

"छोड़ो जी।" कहकर उसने अपना हाथ छुड़ा लिया।

"सड़क पर एक गड्ढा हो गया है। तुम्हारे रथ का चक्र उसी में अटक गया है। मैं चक्र को सहारा देकर उठा दूँगा, तुम भी हाथ लगाओ। रथ चल पड़ेगा।"

रथवान ने बात मान ली। घोड़ा छिटककर रथ को भगाने लगे।

"युवराज! युवराज! यह क्या!" यह क्या! कहकर कई लोग भिन्न-भिन्न दिशाओं से दौड़ पड़े वहाँ को।

रथ रुक गया। रथवान ने सिसकियाँ भरकर अपना माथा युवराज के श्री चरणों पर रख दिया।

"विनय और मीठे बैन आप कहाँ चले आए युवराज!" दो सशस्त्र प्रहरी ने बड़े रंग के साथ, उन्होंने बड़ी विनम्रता के साथ कहा।

सिद्धार्थ ने उस रथवान को हाथ पकड़कर भूमि पर से उठा लिया—"यह एक प्राणी पड़ा था यहाँ। उसको सहायता देकर पशु का भारी कष्ट हर लिया मैंने। यह भी कोई बात हुई!"

"कैसा मूर्ख है रे तू रथवान! महाराज सुनेंगे, तो क्या कहेंगे!" एक प्रहरी बोला।

"पशु तो जानवर है, बैल हाँकनेवाले की बुद्धि बैल के ही समान होती है।"

रथवान फिर हाथ जोड़कर सिद्धार्थ के पैरों पर गिरने लगा।

युवराज ने उसे रोककर कहा—"इसका दोष नहीं। मैं स्वयं ही अपनी इच्छा से आ गया। क्या है इस रथ में बहुत भारी?"

"राजकर वसूल होकर आया है, युवराज राजकोष में जमा होने जा रहा है।" पहले प्रहरी ने कहा।

दूसरा बोला—"आप राजभवन के भीतर पधारें युवराज! महाराज यदि देख पायेंगे, तो हम लोगों के लिये मरण हो जायगा।"

रथ समीप ही स्थित हो गया था। रथवान चढ़े रोक आया था।

दूसरा प्रहरी चिढ़कर बोला—"अब पत्थर की मूर्ति के समान क्या खड़ा हो गया? जाता क्यों नहीं, हाँकता क्यों नहीं। बैलों का ध्यान किधर रहा है इधर-उधर के?"

रोकर प्रहरियों ने हाथ जोड़कर क्षमा माँगी युवराज से। युवराज हँसकर बोले— 'तुमने क्या अपराध किया !'

रथ चला। प्रहरियों ने उसका अनुसरण किया। सिद्धार्थ राज-भवन को लौट गए। उनका मृग दौड़ता हुआ वहीं आ पहुँचा था। दो चार दर्शक भी और एकत्र हो गए थे वे भी युवराज के इस दया-भाव की सराहना करते हुए चल दिए।

प्रति वर्ष वैशाख-मास में शाक्यों के राज्य-भर में हलकर्षणोत्सव मनाया जाता था। कृषकगण हल-बैलों को नहला-धुलाकर फूल-माला वस्त्रों से सँवारते थे। स्वयं भी सुसज्जित और अलंकृत होकर स्त्री-पुत्रों-सहित खेतों पर जाते थे। पकवान तथा मिठाइयाँ बनाकर लाते और खिलाते थे। ढोल नगारे तुरही और शंख बजाकर नाचते और गाते हुए घर से चलते थे।

खेतों पर पहुँचकर वसुंधरा माता और कृषि के देवता को भोग लगाते थे। फिर उनकी स्तुति में गाते, नाचते और हल चलाते थे। नवयुवक कृषक उसी दिन सबसे पहले हल चलाना आरंभ करते थे।

घर से तैयार भोजन खेतों पर ही ले जाते थे, मध्याह्न में वहीं सब मिलकर खाते थे। इसके पश्चात् वे फिर इंद्र और सूर्य की स्तुति के गीत गाते। जोती हुई भूमि में बीज बोते और फिर गाते-नाचते हुए ही संध्या-समय तक अपने-अपने घरों को लौटते थे।

दुर्ग के भीतर राजपरिवार में भी यह उत्सव मनाया जाता था। विशेष साज-सज्जा और धूमधाम के साथ। कहते हैं, पहले दूर-दूर के ग्रामों से अनेक लोग निमंत्रित होकर आते थे इस हल के उत्सव में। पर अब बाहर से कुछ चुने-चुने लोग ही आते हैं। कदाचित् युवराज के वैराग्य का कोई निमित्त न घुस आवे, इस भय से।

सोने और चाँदी के काम से जड़े हुए हल बने हुए रक्खे थे,

को समस्त उत्सव की ही शोभा था। स्वयं महाराज, उनके संबंधी एवं राजकुमार उन्हें चलाते थे।

शाक्यों के इस गणतंत्र की प्राणदायिनी नाड़ी कृषि ही थी। इसीलिये कृषक वृत्ति को राजपरिवार इस उत्सव के द्वारा प्रतिष्ठित करता था।

इस वर्ष का उत्सव हो रहा था। सिद्धार्थ की अवस्था इस समय चौदह वर्ष की हो गई थी। हल के उत्सव में आज वह सर्वप्रथम हल चलायेंगे। राजपरिवार में विशेष उत्साह था।

गुरुजनों के हल चलाने के पश्चात् युवराज की बारी आई। नवीन वस्त्राभूषणों से सुसज्जित सिद्धार्थ ने हल पर हाथ रक्खा। दो सेवक बैलों के निकट खड़े थे और दो युवराज के दोनों पार्श्वों में। स्वयं महाराज युवराज की पीठ पर हाथ रखते हुए थे।

लेकिन चाबुक बैल चले। फाल ने एक-दो ही पग भूमि खोदी होगी कि युवराज ने हल पर से हाथ हटा लिया और उस स्थान से दूर चले गए बड़ी विरक्ति दिखाकर।

महाराज ने चिन्ता-पूर्वक पूछा— "क्या हुआ युवराज ?"

'नहीं महाराज, मैं न चलाऊँगा हल।'

"चुप, चुप, ऐसा न कहो। माता वसुंधरा की उर्वरा-शक्ति क्षीण हो जाती है ऐसे। सूर्य और इंद्र देवता कुपित होंगे। राज्य में अकाल पड़ जायगा, तो प्रजा क्या खायगी।

सिद्धार्थ सम्मत न हुआ।

"कुछ कारण तो बताओ।"

'नहीं महाराज, कुछ ही दूर में मैंने देखा, हल के दुर्दांत लौहफाल ने अनेक छोटे-छोटे जीवों को कुचल दिया है।" सिद्धार्थ ने कहा।

महाराज ने इस तर्क को आगे न बढ़ाया और कहने लगे—"अच्छा, तुम उदास न होओ। शकुनार्थ चला ही लिया है तुमने हल। अब कोई तुमसे कुछ न कहेगा। उत्सव में तो चलो।"

"अपराध क्षमा हो महाराज! मैं यहीं से देख रहा हूँ और गीत सुन रहा हूँ।' युवराज वहीं बैठ गया।

उत्सव अविच्छिन्न भाव से हो रहा था। और दूसरे राजकुमार दल बनाने लग गए थे।

उदायन ने सिद्धार्थ के पास से आकर छंद से कहा— 'राजकुमार तुम जाओ, युवराज अकेले ही बैठे हैं। उनके मन में फिर उदासी आ गई है। इधर-उधर की बातों से उनका मनोरंजन करो।'

छंद जब वहाँ पहुँचा तो उसने देखा, युवराज महारानी प्रजावती से बातें कर रहे थे।

"अपनी अपनी रुचि है महारानीजी! उत्सव के दिन सबको हर्ष मनाना चाहिए। इसी उद्देश्य को लेकर मैं भी सम्मिलित हुआ था उसमें, परंतु परंतु— 'सिद्धार्थ का कंठ बंद हो गया।

"परंतु क्या हुआ? किसी ने कुछ कह दिया?"

"सिद्धार्थ से कोई कुछ नहीं कहता। ये सब मुझे अंधकार में रख देने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रकृति अपनी मूक भाषा में मुझे कुछ संदेश देती है और मनुष्य मेरी जिज्ञासा को अपने कौशल से मिटा डालता है। महारानी! आप भी इस षड्यंत्र में सम्मिलित हैं!"

"किस षड्यंत्र में?" चकित होकर प्रजावती ने कहा। वह सिद्धार्थ के समीप ही बैठ गईं हरी दूब के ऊपर।

"यही तो सिद्धार्थ को प्रकृति की ओर नहीं जाने देता।" युवराज ने अपना मुकुट उतारकर भूमि पर रख दिया—"बड़ा भारी जान पड़ता है।"

छंद खड़ा-खड़ा सोच रहा था क्या करूँ। अंत में उसने मुख खोला—"युवराज! गंधर्व-दल से जो बीच नायिकाएँ आ रही थीं वे न आ सकीं हल के उत्सव में।"

महारानी ने कहा—"बैठो नंद।"

नंद भी बैठ गया। सिद्धार्थ ने नंद की बात का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। कहा फिर उसके विचार की गहराई तक नंद के शब्द नहीं पहुँच सके।

सिद्धार्थ ने कहा—"आप भी तो मुझसे कुछ छिपाती हैं?"

प्रजावती ने युवराज की पीठ पर बिखरे हुए कुंतल अपने हाथ में लिए—"तुम मेरे नेत्रों की ज्योति हो। तुमसे कुछ क्यों छिपाऊँगी।"

"बताओ फिर सखिभद्र मित्रगण कहाँ गए?" युवराज ने उत्सुक हो पूछा।

"वाराणसी चले गए हैं। वहाँ से राजगृह जाने का विचार है उनका।" महारानी ने उत्तर दिया।

"इस प्रकार एकाएक क्यों चले गए? वह मुझ पर बड़ा स्नेह रखते थे। जाते समय उन्होंने मुझे बुलाकर क्यों आशीर्वाद नहीं दिए?"

"वाराणसी में उनके गुरु रहते हैं। उन्होंने उन्हें तत्काल किसी आवश्यक काम के लिये बुलाया था। जाते समय किसी से भी भेंट करने का अवसर उन्हें नहीं मिला।"

सिद्धार्थ ने एक गहरी साँस ली—"अच्छा गोती काकी कहाँ हैं?"

"वह रूसकर अपने पिता के घर चली गई हैं।"

"अब कब लौटेंगी?"

"कौन कह सकता है? भगवान् जाने।"

"मुझे बहुधा उनकी याद आती है और उनके स्नेह में इतनी कृत्रिमता थी कि उन्होंने जाते समय कहा भी नहीं। और एक दिन इसी प्रकार तुम—"

महारानी ने युवराज के अधरों पर अपना हाथ रखकर उसे आगे

नहीं बोलने दिया— 'तुम्हें अचानक क्या हो गया। जब तुम चुप रह जाते हो, तो फिर बोलते नहीं और जब बोलने लगते हो, तो फिर विचार नहीं करते। तुम मेरे भावों के आधार हो।'

भाव किसे कहते हैं ?"

"मनुष्य की विवशता के बाहर का शब्द है यह।'

'तुम नहीं जानती ?"

"नहीं।"

'मृत्यु क्या है ?'

मैं इसे भी नहीं जानती।"

"कपिलवस्तु की इन चौड़ी दीवारों के भीतर कोई भी नहीं जानता। फिर भी ये गर्व से मस्तक उन्नत करते हैं और इन्हें अपनी विद्या का अभिमान है।"

वृक्षों की ओट में छिपा हुआ रंग का प्रासाद नृत्य के झंकार और गीत के स्वरों से मुखरित हो रहा था। महारानी के साथ की दासियाँ कुछ दूर पर कभी-कभी उस ओर ही खिंची हुई थीं। वे आपस में कह रही थीं—"यह युवराज भी कैसे होंगे। ऐसे सुंदर नृत्य-गीत को छोड़कर यहाँ बैठे हैं। हम भी तो ऐसा हृदय नहीं रखतीं।"

"दुर्ग की सातों दीवारों के बाहर क्या है महारानी ?" सिद्धार्थ ने फिर पूछा।

"अतीव कुछ भी नहीं। ऐसा ही जगत् है जैसा यहाँ।" महारानी ने कहा।

"फिर मुझे वहाँ जाने क्यों नहीं दिया जाता ? राजकुमार देवदत्त तो गए हैं।'

"राजकुमार देवदत्त की दूसरी बात है। तुम कपिलवस्तु के युवराज हो।"

"तो क्या युवराज को प्रजा से इसी प्रकार छिपा दिया जाता है, जैसे मुझे ?"

प्रभावती हँसती हुई कही—"देखो युवराज, यह सब तुम्हारी रक्षा के लिये है। तुम इसे छिपाना क्यों कहते हो ? समय तुम्हारी आयु की वृद्धि करेगा, और तुम देखोगे, कपिलवस्तु के दुर्ग की सातों दीवारें तुम्हारे लिये अनाकूल हो जायँगी। यही नहीं, विजयी वीर के लिये संसार की दसों दिशाएँ भी तो विमुक्त ही हैं। चलो उत्सव में विश्राम कर चुके।"

"मुझे इन उत्सवों के आरंभ में एकदम विषाद से भरा हुआ अंत दिखाई देता है। जब दर्शक और प्रदर्शक दोनों थककर चले जाते हैं, तब उत्सव का स्थान अपार शून्यता से भर जाता है, और मैं विचारता ही रह जाता हूँ, जब परिणाम में यही शून्यता थी तो फिर गीत क्यों आरंभ किया ?"

"जैसे वृक्ष में पुष्प खिल जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के मानस में एक उमंग जागती है, वही उत्सव में प्रकट हो उठती है। यह एक स्वाभाविक बात है। ऋतु का प्रभाव है। अभी कल तक देखो, यह वनराजि कैसी हीन-श्री थी, आज देखो, कितनी मनोहारिणी और कांतिमयी है।

"और, कुछ ही दिन में फिर वैसी ही हो जायगी ?"

"यह भगवान् का बनाया हुआ नियम है। इसमें दोष नहीं मानना चाहिए।"

"भगवान् देखे हैं तुमने ?

"नहीं।" प्रभावती ने कहा।

"किसी ने देखे हैं ?"

प्रभावती के सामने ऋषि-मुनि साधक-संन्यासी की मूर्तियाँ आईं, उसने उन्हें निमित्त मानकर जोड़ दिया, कहा— "हाँ, कोई कोई देखते हैं।"

"कहाँ? मैं भी देखूँगा उन्हें।" सिद्धार्थ उठ गया।

छंद ने कहा—"युवराज, वह पवन की भाँति सूक्ष्म है। नहीं दिखाई देते। चलिए उत्सव में।" उसने सिद्धार्थ का हाथ पकड़ लिया।

दूसरा हाथ प्रजावती ने पकड़ लिया।

अत्यंत विस्मय होकर सिद्धार्थ ने संकोच-भरे पैर बढ़ाए उत्सव की ओर—"बाहर जगत् की बात मैं नहीं जानता। इस राजभवन में सर्वत्र एक अभाव—एक शाश्वत अभाव दिखाई देता है। दीप शेष हो जाता है, सूर्य अस्त हो जाते हैं। पुष्प मुरझा जाने के लिये हैं और वृक्ष सूख जाने के लिये।"

४ मारने और बचानेवाले

जगत् के दुःखद रूप और दुःख का ज्ञान कहाँ तक सिद्धार्थ से छिपाया जाता ? मनुष्यों पर राजाज्ञा ने नियंत्रण किया, प्रकृति नियंत्रण मानने चली ? नित्य दुर्ग की सातों दीवारों को लाँघकर युवराज के पास आ जाती, चंचलता भरे अपने पाँवों में स्थावर और जंगम, सबके सिरों के ऊपर मँडराया करती थी। मृत्यु, उसके दुर्निवार्य घातक दंड से कौन बच सका ?

अनेक प्रकार की चिन्ताओं ने आकर घेर लिया महाराज शुद्धोदन को। भीतर-ही-भीतर घुन की भाँति खोखला करने लगीं उन्हें। दिन-रात इसी सोच में पड़े रहने लगे वह।

चारों निमित्तों से राजकुमार को कहाँ तक बचाया जायगा, यह उनकी चिन्ता का सबसे बड़ा विषय था।

एक दिन उन्होंने महारानी प्रजावती से कहा—'बाहर के निमित्तों से हम किसी प्रकार बचाते हुए चले आ रहे हैं युवराज को, पर महारानी ये जरा और मरण दबे पाँव और अलक्ष्य गति से हमारे राजभवन की सीढ़ियों का अतिक्रमण नहीं कर रहे हैं ? आज नहीं, दस-बीस वर्ष में क्या हम स्वयं बूढ़े न हो जायेंगे ? और रोग, वह हम पंचभूतों के पिंजरे में किसी समय भी घुस सकता है।'

महारानी ने उत्तर दिया—'महाराज, प्रत्येक क्षण इसी चिन्ता में अतिवाहित करने से कोई लाभ नहीं। जो भगवान् एक दुःख देते हैं, वही उससे रक्षा और मुक्ति के उपाय भी। रोग राजभवन के किसी दुर्भेद्य कक्ष में बंदी होकर छिपा दिया जायगा सदा की भाँति।

"युवराज के चाचा और चाची की मृत्यु पर जो हमने उनके प्रवास-गमन का आवरण डाला था, उस पर युवराज का संशय बढ़ गया।" महाराज ने कहा।

"हाँ मुझे ऐसा भान लगता है, राजकुमार देवदत्त कभी-कभी युवराज के चित्त को भरमा देते हैं।"

"बालक ही ठहरा, कदाचित् भूलकर।"

'नहीं मैं समझती हूँ, जान-बूझकर। राजकुमार नंद ने कई बार कहा मुझसे। आपकी इस चिंता और व्यग्रता का सोच-कर ही मैं आपसे कुछ नहीं बोली।" महारानी ने कहा।

"पर महारानी, राजकुमार देवदत्त को युवराज की संगति में न आने देने की व्यवस्था हम कैसे दे सकते हैं? युवराज से भी देवदत्त के साथ न जाने को नहीं कह सकते। सिद्धार्थ आयु और स्वभाव, दोनों से ही कोमल हृदय का है। इस प्रकार जाति के द्वेष का विष-बीज उसके मानस में बो देना उचित नहीं। इसके ऊपर सारी जाति क्या कहेगी इससे? कपिलवस्तु में यद्यपि हमारी सत्ता प्रबल है, फिर भी कहने को यह गणसत्तात्मक ही है न?"

'कुछ भी हो। राजकुमार देवदत्त के यहाँ आने पर हमें युवराज की विशेष चिंता करनी चाहिए।"

'राजकुमार नंद भाई और कई दासों से कह तो रखा है हमने कि देवदत्त के साथ सिद्धार्थ को कभी अकेला न छोड़ें।"

"यही प्रबल द्वेष की भावना है राजकुमार देवदत्त में। बड़ी कुटिल बुद्धि के हैं। वह युवराज की अवस्था से कुछ बड़े हैं, यह भी उनके बड़े अभिमान की बात है। उनके पिता ने दास-दासियों के साथ उन्हें नगर-भ्रमण की स्वतंत्रता दे रखी है। बात-बात में युवराज के साथ नगर की ही चर्चा करते हैं।"

"युवराज कहाँ है इस समय ?" महाराज ने पूछा।

"अपने प्रकोष्ठ में।"

चारों राजकुमार युवराज के प्रकोष्ठ में थे। निकट ही द्वार के पास एक सेवक उनकी आज्ञाओं की प्रतीक्षा में बैठा था। वहीं पर एक धाई भी थी सिद्धार्थ की ओर विशेष ध्यान रखते हुए।

राजकुमार देवदत्त एक विशाल दर्पण के सामने अपने केशों को ठीक कर रहा था।

सिद्धार्थ और आनंद एक पुस्तक खोलकर किसी सूत्र की चर्चा कर रहे थे। राजकुमार नंद देवदत्त के पास ही खड़ा था।

देवदत्त ने एक बार कुछ माथ मुकुट के नीचे दबाकर दर्पण में देखा और कहा—"न जाने तुम दोनों राजकुमार किस वस्तु के निर्मित हो ! कोई इच्छा ही नहीं तुम्हारे !"

"क्या करना है हमें नगर देखकर। हम जो कुछ वस्तु चाहते हैं, वह नगर से हमारे लिये यहीं आ जाती है।" नंद ने उत्तर में कहा।

"हो गया इसी पर संतुष्ट रहो। तुम्हारी अवस्था के बालक आखेटों का प्रबन्ध करने को निकलते हैं, भूमंडल की परिक्रमा करने के लिये अश्व सीखते हैं।"

नंद कुछ भी प्रभावित न हुआ देवदत्त के कथन से। उसने तेजस्विता के साथ कहा—"सुना है, नगर में बड़ी धूल और कीचड़ होती है। रथ और वाहनों के बीच में चोर-चक्कर लग जाने का भय रहता है। भीड़ में भले मनुष्यों के बीच में चोर-उचक्के भी दौड़ चलते हैं।" नंद ने कहा—"कुछ और अवस्था बढ़ जाने पर जाएँगे।"

"तुम दोनों को जगत् का तमोमय भाग ही दिखाया जाता है उसका उज्ज्वल और कमनीय भाग नहीं देख सके तुम। प्र परीक्ष

बेटी के भवन के भीतर गया था मैं। तुम्हारा यह राजभवन क्या है उसके विशाल आकार के सामने? जैसे हाथी के सामने एक चींटी! जैसे मिट्टी-गोबर के बने हुए हो तुम? कहते क्यों नहीं एक दिन महाराज से कि हम मगध-भवन को जायेंगे। मगध आओ लाना न लाओ। मन्त्र मारकर भेजना होगा इन्हें।" देवदत्त ने कहा। अभी उसका अहंकार समाप्त नहीं हुआ था।

"नहीं राजकुमार हमारे आचार्य ने माता पिता और गुरुजनों की आज्ञा पालन करने का स्वभाव बनाया है हमारा। क्या ऐसी दुर्नीतियों की शिक्षा तुम्हारे आचार्य देते हैं तुम्हें? और तुम्हारे माता-पिता का यह अपमान मन से सहन होती है?"

देवदत्त ने कुछ ऊँचे स्वर में कहा—"जितना बड़ा यह मगध प्रासाद है, इतने बड़े-बड़े दर्पण हैं उसके भवन में। एक भवन की दीवारों में बिलकुल दर्पण ही जड़े हुए हैं—छत और आधार पर भी। ऐसी कला से लगाए गए हैं कि एक मनुष्य की अगणित प्रतिच्छवियाँ दिखाई पड़ती हैं। मैंने जब वे सहस्रों देवदत्त देखे, तो कुछ देर तक तो विस्मय-विमूढ़ खड़ा रह गया! सुरक्षा-कक्ष है राजकुमार अंध! क्या कहूँ मैं तुमसे। स्वयं विश्वकर्मा की रचना जान पड़ती है।"

सिद्धार्थ भी देवदत्त की बड़ी-बड़ी बातें सुन रहा था। उसने पुस्तक बंद कर हाथ में ली और आनंद-सहित उसकी ओर देखा। देवदत्त बोला—"और यह हमारे युवराज, इन्हें किंचित् भी नहीं इनके राज्य में क्या है? इन्हें तो एक कोने में बंद रहना ही सुखकर है।"

"अपनी-अपनी रुचि है राजकुमार!" सिद्धार्थ ने अपनी सहज मधुर वाणी से कहा—"मुझे यह शिक्षा ही नहीं है, जो थोड़े में है, वही बहुत में भी; जो कण में है, वही राशि में। राज-

कुमार आनंद ! क्या इसमें अभी नहीं पता जो बिंदु में है, वही विराट् में।"

आनंद ने अनुमोदन किया—"हाँ।"

"और मुझे इस बात का विश्वास हुआ है राजकुमार ! क्या तुम्हें इसमें शंका है ?" सिद्धार्थ बोला।

"ठीक है युवराज !" देवदत्त ने कहा—"जो पतीली में है वही चावल भात के एक ग्रास में भी। और जो एक ग्रास में है वही चावल के एक दाने में भी। मैं पूछता हूँ, क्या चावल का एक ही दाना तुम खाते हो ? क्या उसी से तुम्हारी परितृप्ति हो जाती है ?" उसने अपनी विजय के दर्प के भाव दर्पण में अपने प्रतिबिंब का देखा।

"यह तुम्हारी हठ है राजकुमार ! इससे मेरा विचार दुर्बल नहीं हो सकता।" सिद्धार्थ ने शांति-पूर्वक कहा।

देवदत्त ने नंद को लक्ष्य कर कहा—"सबसे कह देने की बात नहीं है यह, राजकुमार नंद !"

नंद ने पूछा—"क्या ?"

"नहीं, जा अभी फिर तुमसे कहूँ। वह दर्पणवाली बात।"

देवदत्त ने रहस्य का घेरा बनाते हुए कहा— महाराज की भी तो आज्ञा नहीं है प्रत्येक बात प्रत्येक से कहने के लिये।

दूज के चन्द्रमा की-सी ज्योत्स्ना बाहर उठी सिद्धार्थ के अधरों के बीच में—"दर्पण हमारे दर्प को बढ़ाता है। दर्प सत्य के बीच का सबल आवरण है। अभाव की भावना दर्प है। शीघ्र व पता ही सत्य की दूरी कम करते हैं।"

देवदत्त ताली बजाकर कहने लगा—"क्या युवराज ! आचार्य को कंठस्थ किया हुआ पाठ सुना रहे हो ? दर्पण कितना सत्यवादी है। तुम्हारी नाक में यदि मैल लगा हो, तो यह सत्य और स्पष्ट प्रकट कर देता है।"

"मैं कहता हूँ तुमसे राजकुमार, यह सत्य को विकृत कर दिखाता है।" सिद्धार्थ ने पुस्तक के ताड़-पत्रों को भली प्रकार अपने हाथ में सँभाला।

"यह तो बात तुम कह रहे हो युवराज! क्यों राजकुमार नंद! क्यों आनंद?" देवदत्त ने पूछा।

"यही तो बात है। ऐसे ही तो माया ने सत्य को छिपा रक्खा है।"

"यह केवल तुम्हारी कल्पना है।"

"देखो।" सिद्धार्थ ने एक ताड़-पत्र हाथ में लिया, और उसे देवदत्त की ओर कर कहा—"इसमें अंकित मंत्र को पढ़ो, ठीक है न?"

"हाँ-हाँ पढ़ लिया।" देवदत्त ने बड़ी उपेक्षा से कहा।

"अब पढ़ो।" सिद्धार्थ ने अब वह पत्र दर्पण के सामने रक्खा—"पढ़ो अब दर्पण इस मंत्र को कैसे प्रकट कर रहा है।"

देवदत्त ने देखा उधर। देखकर वह चकराया—"हैं! यह तो—" उसने ताड़-पत्र लेकर फिर उसके अक्षर देखे, और फिर दर्पण में पड़े हुए उसके प्रतिबिंब को कहा—"हैं, ये तो बिलकुल उलटे अक्षर हैं!"

सिद्धार्थ ने कहा—"ऐसे ही सत्य छिपा हुआ रहता है, और हम उसे उलटा समझते हैं।"

देवदत्त के मुख पर पराजय की छाया पड़ गई थी। पर उसने उसे छिपाकर कहा—"क्या हुआ फिर? मैं पढ़ देता हूँ इस मंत्र को।" वह पढ़ने लगा—"ॐ नमस्तो भू—"

सिद्धार्थ ने उसके हाथ से वह पत्र ले लिया—"पढ़ लेने की बात दूसरी है।" सिद्धार्थ ने अपना एक हाथ ऊँचा कर देवदत्त के सामने रक्खा—"यह कौन हाथ है मेरा?"

"दाहिना।"

"यदि कोई इसे वाम करे, तो तुम इसे मना करोगे ?"

देवदत्त विचार में पड़ गया।

आनंद ने कहा— 'हम इसे सूधा करेंगे।'

"दर्पण दाहन को वाम करता है देवदत्त !" सिद्धार्थ ने कहा—"इसीलिये मैं दर्पण में बहुत कम अपने स्वरूप को देखता हूँ। जब देखता हूँ, तो प्रकृति के ऐसे विपरीत प्रकट होने की शक्ति के लिये प्रणाम करता हूँ।"

पार्षद ने इसी समय आकर कहा—"महाराज और महारानी पधारते हैं।"

देवदत्त सिद्धार्थ की ओर बढ़ने के बहाने से दर्पण के निकट से हट गया। उसने युवराज के हाथ की पुस्तक लेते हुए पूछा—"कौन-सी पुस्तक है यह ?"

महारानी प्रजावती के साथ महाराज शुद्धोदन ने उस कक्ष में प्रवेश करते हुए कहा—"शाक्यवंश के शासक नवयुवक ! क्या हो रहा है ?"

सब राजकुमारों ने उन्हें प्रणाम किया।

'बातों से अपना मनोरंजन कर रहे हैं।" सबसे पहले पुष्कल बोला।

"विवाद तो नहीं हो रहा है ?"

"नहीं महाराज !" देवदत्त ने ही उत्तर दिया।

"होना भी नहीं चाहिए।" महाराज युवराज की ओर आकर्षित हुए— 'क्यों युवराज !"

सिद्धार्थ ने स्मित मुख से देवदत्त की ओर देखा। देवदत्त ने उनकी पुस्तक उन्हें लौटा दी।

महाराज ने फिर देवदत्त से कहा—"राजकुमार ! तुम्हारे पितृव्य आवस्ती गए थे अभी लौटकर आए नहीं ?"

'नहीं महाराज !"

एक सेवक ने आकर युवराज से कहा—"युवराज, आज आप उपवन में नहीं पधारे ! आजकल मृग-शावक लता-कुंजों में, सरोवर के तटों पर आनन्द मनाता फिर रहा है। दौड़-दौड़कर उस जामुन के वृक्ष के पास आ रहा है, जो आपके विश्राम का परम प्रिय स्थान है।"

सिद्धार्थ ने महाराज की ओर देखा।

महाराज बोले—"हाँ-हाँ, जाओ। राजकुमार नंद, तुम भी जाओ युवराज के साथ।"

सिद्धार्थ और नंद उपवन को चले गए।

महाराज ने कहा—"राजकुमार देवदत्त, सिद्धार्थ बड़ी कोमल प्रकृति का है, उससे इधर-उधर की बातें करने की आवश्यकता नहीं है।"

"नहीं महाराज ! बूढ़े, रोगी, मृतक और संन्यासी, इन बातों का मैं उल्लेख भी नहीं करता।" देवदत्त ने कहा।

"किसने बताए थे तुम्हें ?"

"मैंने जान लिए महाराज ! पर मैं इन बातों से क्या अर्थ सिद्ध होगा नहीं जानता।"

"लुम्बिनी-कानन में एक महात्मा हैं। वह सिद्धार्थ के गुरु हैं। यह उन्हीं की आज्ञा है।"

महारानी प्रजावती वातायन के मार्ग से उपवन में देख रही थीं। महाराज के निकट आकर बोलीं—"आज युवराज प्रसन्न चित्त हैं।"

"हाँ महारानी !"

प्रजावती ने कहा—"और ऐसे दिन महाराज ! सारा राजभवन खिल उठता है, एक उत्सव-सा जान पड़ता है।"

देवदत्त बोला—"महाराज ! आप युवराज को नगर में क्यों नहीं जाने देते ?"

मार !" शुद्धोदन ने चौंककर कहा— नहीं-नहीं राजकुमार !
से कभी मगध की बातें न करना।"

"क्यों महाराज ?"

"इसके लिये भी ऋषिराज की आज्ञा नहीं है।"

प्रजावती ने सिद्धार्थ से कहा—"क्यों राजकुमार तुम चुप क्यों हो ?"

सिद्धार्थ बोला—"बातें सुन रहा हूँ।"

देवदत्त ने कहा—"तो क्या ऋषिराज शाक्यों के भावी शासक को उसकी प्रजा से अनभिज्ञ ही रखने देना चाहते हैं ?"

"कुछ समय तक। कुछ दैवी ग्रहों के प्रभाव के प्रतिकार तक। तब युवराज वयःप्राप्त हो जायँगे, समझ बढ़ जायगी और चाहे जहाँ विचर सकेंगे।" महाराज ने कहा।

देवदत्त की समझ में न आई बात। वह मन-ही-मन विचारने लगा, अनोखा युवराज मिला है कपिलवस्तु की प्रजा को। उसने सिद्धार्थ का हाथ पकड़ा" कहा 'चलो हम भी तो चलें उपवन में।

महाराज ने फिर उस सिद्धार्थ के साथ अतिरिक्त बातें न करने
कहा।

प्रजावती ने कहा— 'देखो तुम जल-पान के लिये भी वहीं आप
र आज न भूलना।"

सिद्धार्थ के साथ सीढ़ियों का अवरोहण करते हुए देवदत्त ने
कहा— 'माताजी के मस्तक में पीड़ा थी इसी से मैं तुरंत ही चला
आया।

'आज तो स्वस्थ होंगी ?"

"हाँ।"

दोनों उपवन में चले गए।

महाराज ने कहा—"मस्तिष्क का विकार है या क्या, युवराज की

कुछ समझ में नहीं आता। वस्तुतः वह गीत सुनकर ही वह प्रसन्न हो जाते हैं।"

"गाता कौन है?"

"कोई भी नहीं। मैंने बहुत अच्छी तरह जाँच की है। पर जिस सरलता से युवराज उस गीत का वर्णन करते हैं, उसमें संशय नहीं होता। आकाश-मार्ग से कदाचित् कोई देव-बाला गाती हो।"

"वे गाती तो क्या सभी नहीं सुनते?"

"हमारे कानों की श्रवण-शक्ति इतनी विकास को प्राप्त न हो।"

"अपनी कल्पना में ही सुनते हैं वह। गन्धर्व-कुमारियों के लिये मैंने दूत भेजा था, फिर अभी तक लौटकर नहीं आया। उनका गीत सुनकर विश्वास तो है, युवराज का मन बहल जायगा।"

एक दिन युवराज राजकुमार नंद के साथ अपने उपवन में विहार कर रहे थे। नंद गंभीर प्रकृति का था। सिद्धार्थ के विचार उससे बहुत मिलते-जुलते थे।

वे दोनों चींटियों की पंक्ति का निरीक्षण कर रहे थे जो अपने बिल में अन्न के कण लाकर जमा कर रही थीं।

सिद्धार्थ ने कहा—"भाई नंद, इनकी तत्परता, इनके श्रम और संगठन को देखकर चकित रह जाना पड़ता है।"

"ये दूरदर्शी और संयम-शील हैं। मैंने सुना है ऋतु के परिवर्तनों को ये उससे ठीक पहले जान लेती हैं, और उसके अनुसार अपनी रक्षा का प्रबंध कर लेती हैं।" नंद ने कहा।

"मैं समझता हूँ, यदि ये आकार में मनुष्य के बराबर होतीं तो कदाचित् हम पर राज्य करतीं।" सिद्धार्थ ने कहा।

नंद ने हँसते हुए फिर कुछ चावल के दाने चींटियों के मार्ग में रखे।

"रथ इनके ऊपर से चला जाता है, और ये शत-सहस्रों की

संख्या में घत-विक्षत होकर मर जाती हैं। वे यूँ भी नहीं कर सकतीं, इसमें पुत्र इनके साथ हैं। मनुष्य अपने अभिमान में अंधा होकर बचा जाता है। उसे यह ज्ञात भी नहीं होता, वह शत-सहस्रों प्राणों के ऊपर अपना मार्ग बनाकर गया है। नंद! क्या मनुष्यों को कोई इसी प्रकार कुचलकर नहीं चला जाता? क्या उसका शव नहीं होता? क्या उसके शव का ये चींटियाँ घत-विक्षत नहीं करतीं?"

नंद भाव-विचार में पड़ गया।

"तुम भी मेरी ही उदासी में पड़ गए। ये चिंता के विषय हैं नंद! नहीं देखा तुमने कभी मनुष्य का शव?"

"नहीं।"

इसी समय आकाश-मार्ग से कोई वस्तु उनसे कुछ दूरी पर गिरी। दोनों दौड़कर वहाँ पहुँचे।

वह एक हंस था। असहाय होकर पंख फड़फड़ा रहा था।

'क्या हो गया इसे? उड़ते-उड़ते क्यों गिर पड़ा?' नंद ने कहा।

एकदम अंग में तीर बिंधा हुआ है। किसी ने शर-संधान किया इस पर।" सिद्धार्थ ने उसे अपनी गोद में उठा लिया। "किसी का क्या बिगाड़ा होगा इसने?"

"युवराज! बस्त्र मलिन हो जाएँगे।"

'नहीं नंद, ऐसा स्वार्थ पर विचार मत। मैं आगा प्रश्नामनीय है। हम इसकी रक्षा करेंगे। सिद्धार्थ ने हंस की पीठ पर कोमल हाथ रखकर उसे पुचकारा "धीरज धर है विहँग पक्षी! मैं तेरी पीड़ा दूर करूँगा।"

उस हंस को लेकर दोनों सरोवर के किनारे आए। बड़ी सावधानी और हलके हाथों से उन्होंने तीर खींचकर बाहर निकाला। सिद्धार्थ ने अपना उत्तरीय भिगोकर उसका घाव धोया।

नंद ने तीर को देखकर कहा—"यह कुमार देवदत्त का तीर है। उन्होंने ही इसे मारकर गिराया है।"

सिद्धार्थ अपनी छाती से उस हंस को लगाए हुए घूमने लगे उपवन में। देवदत्त दौड़ा हुआ आ पहुँचा। सिद्धार्थ के पास हंस को देखकर बोला—"मैं सारा उपवन खोज आया। यह मेरा आखेट है।" भूमि पर पड़े हुए तीर पर उसकी दृष्टि गई। उसे उठा लिया उसने— 'यह मेरा ही तीर है इसी से बिद्ध किया मैंने।"

सिद्धार्थ ने दोनों हाथों से उसे अपने आलिंगन में ले लिया—"व्यर्थ क्यों राजकुमार! इस पक्षी पर दया करो। यह किसी का कुछ नहीं बिगाड़ता। यद्यपि इसकी आखें कुछ मन्द न कर सकी तथापि मैंने इसकी पीड़ा को कम किया।

"इस पर मेरा अधिकार है युवराज।"

'इस पर दया का अधिकार है राजकुमार! तुम्हारे अंग में यदि कोई तीर चुभा दे तो कितनी पीड़ा होगी। मैंने अभी इसके शरीर से तीर निकाला है। तुम्हारी आखेट चुम्बन वह अनजान पक्षी अपने सिर को मेरे आश्रय में छिपा रहा है। नहीं राजकुमार! मैं इसे तुम्हें नहीं दे सकता।" सिद्धार्थ ने अत्यंत सौम्य भाव से कहा।

'तुम्हें देना पड़ेगा,' क्रुद्ध होकर देवदत्त बोला।

"कदापि नहीं।' मृदु मन्दस्मित-पूर्वक सिद्धार्थ ने कहा।

'तुम कपिलवस्तु के भावी अधिपति हो। अपना चचेरा भाई न समझकर तुम मुझे केवल एक साधारण प्रजा समझो, तो भी प्रजा की कोई वस्तु इस प्रकार हठ-पूर्वक ले लेना कदापि वांछनीय नहीं।"

"इसके बदले में मेरा मुकुट, मेरे आभूषण जो तुम्हें रुचिकर हो, माँग लो। मैं तुम्हें प्रसन्न मन से उपहार में दे दूँगा। यह हंस, नहीं राजकुमार इसे न दूँगा तुम्हें।"

देवदत्त ने आँखें तरेरकर कहा—"क्या मद है तुम्हें अपने मुकुट और आभूषण का। देवदत्त तुम्हारे द्वार पर भिखारी है क्या! न्याय से जो वस्तु मेरी अर्जित है, उसे ही चाहता हूँ मैं।"

"पर मैंने भी तो यह दया के मोह से किया है। इस चतुर को बचे दूर से लाओ राजकुमार! यह तीक्ष्ण-प्राण-नाशक हंस मुझे देख-देखकर डर रहा है! मैं विनय करता हूँ तुम्हारी। मैं हूँ तुम्हारे द्वार का भिखारी। तुम दो मुझे इसके प्राणों की भिक्षा!" सिद्धार्थ मुझे देखकर देवदत्त के सामने विवश हो गया। हंस डरा डाकर उसकी गोद में छिप गया। सिद्धार्थ ने हंस कर अपना सिर रख दिया, और एक हाथ से देवदत्त का हाथ पकड़कर कहा—"दया करो।"

'युवराज! तुम तो हो कायर और डरपोक। यह मेरा पहला आखेट है। मेरे धनुष-बाण का पहला लक्ष्य इस मैं शुभ अवसर स्मृति के लिये रक्षित रखूँगा।"

"क्या धनुष-बाण इसीलिये धारण किए हैं तुमने कि इस प्रकार के शांत वृत्ति के जीव नष्ट कर दिए जायें?

'क्षत्रिय की शोभा है शस्त्र।"

"है, जब इसका उपयोग रक्षा के लिये है।"

देवदत्त उत्तेजित हो उठा—'तुम यदि ठीक रीति से न दोगे तो मैं बल-पूर्वक इसे छीन ले जाऊँगा युवराज, तुम्हारे हाथ से।"

"यह मेरी प्रथम करुणा का पहला पात्र तुम्हीं है राजकुमार! मैं इसे फिर उड़ने योग्य बनाकर आकाश-मार्ग में छोड़ दूँगा।'

'मैं फिर तुमसे कहता हूँ युवराज! हठ ठीक नहीं है। इससे हमारे बीच में वैर बढ़ जायगा। मैं फिर कभी यहाँ तुमसे खेलने के लिये नहीं आऊँगा।" देवदत्त हंस को छीनने लगा।

पर और सिद्धार्थ दोनों ने मिलकर उसे कृतकार्य नहीं होने दिया।

सिद्धार्थ हंस को लेकर राजमहल की ओर जाने लगा।

देवदत्त ने उसका हाथ पकड़कर उसे रोक लिया—"तुम ऐसे ही न मानोगे। चलो वहीं हमारा न्याय होगा।"

झगड़ा नहीं है। हम दोनों अब परिपक्व बुद्धि के हैं। अपने और पराए का अंतर समझ गया हूँ हमारे हृदयों में। इस झगड़े के न्याय में शाक्य-संघ के हम दोनों राजकुमारों के भावी जीवन की एकता का हेतु भी बन जायेगी।" देवदत्त ने कहा।

"तुमने दूसरी दीवार में युवराज का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। मैं जानता हूँ, तुमने ही व्यक्तियों को राजाज्ञा के शासन से कर्तव्य-च्युत किया। मैं सभा से पूछता हूँ, क्या राजकुमार देवदत्त इसका अपराधी नहीं है?" महाराज ने सभा से पूछा।

"कदापि नहीं। मैं सभा से प्रार्थना करूँगा, वह निर्णय इसके पहले मेरी बात सुने।' देवदत्त ने कहा।

सारी सभा स्तब्ध हो गई थी।

देवदत्त बोला—"संथागार में इस झगड़े का न्याय हो, इसमें युवराज की भी इतनी ही प्रबल इच्छा थी। उनसे पूछ लिया जाय।"

महाराज ने पूछा—"क्यों युवराज?"

"हाँ महाराज!" बड़े करुणा-सिक्त स्वरों से सिद्धार्थ उस हंस की पीठ पर हाथ फेर रहे थे।

महाराज हँस पड़े—"क्या झगड़ा है?"

"यह हंस मेरा है।" देवदत्त बोला।

"नहीं महाराज, मेरा है।' सिद्धार्थ ने कहा।

महाराज शुद्धोदन बड़े आश्चर्य में पड़ गए—"युवराज! आज सबसे पहले ममत्ववाचक शब्द तुम्हारे मुख से सुन रहा हूँ। तुमने कभी किसी वस्तु के लिये नहीं कहा था कि यह मेरी है। आज तुम्हें इस हंस ने आकर्षित किया है, जिस पर राजकुमार देवदत्त की दृष्टि पड़ी है। निश्चय विवाद गहरा है। राजकुमार देवदत्त! यह तुम्हारा क्योंकर है?"

"बात ऐसी है, यह हंस आकाश-मार्ग से उड़कर आ रहा था।

मैंने इसे तीर मारा, यह बिद्ध होकर गिर पड़ा युवराज के उपवन में। इसी से यह इनका नहीं हो सकता। वास्तव में यह मेरे बाण से बिद्ध मेरा भक्ष्य है।" देवदत्त ने कहा।

"तुम्हें क्या कहना है युवराज!" महाराज ने पूछा।

"मेरे उपवन में गिरा, इसलिये मैं नहीं स्वीकार करता इस पर उसके अधिकार।" युवराज ने कहा।

"फिर?"

"मैंने इसका तीर निकालकर इसके घाव को धोया और इसकी पीड़ा का हरण किया। मैंने इसे फिर आकाश में उड़ने योग्य बनाया, इसलिये यह मेरा है।" सिद्धार्थ ने शांति-पूर्वक कहा।

"आकाश में किसी का राज्य नहीं जहाँ मैंने इस पक्षी को मारा है। यह मेरा पहला आखेट है। यदि यह मुझे न मिला, तो घोर अन्याय होगा। आप एक क्षत्रिय युवक को हतोत्साह कर देंगे जन्म-भर के लिये।"

एक सभासद् बोला—"जब यह पक्षी राजकुमार देवदत्त के तीर से आहत हुआ है, तभी तो युवराज के उपवन में गिरा। न्यायतः यह राजकुमार देवदत्त को ही मिलना चाहिए।"

अधिकांश सभासद् बोले—"हाँ, राजकुमार देवदत्त को ही मिलना चाहिए यह हंस।"

महाराज ने कहा—"युवराज! दे दो यह हंस राजकुमार देवदत्त को ही। सभासद इसी पक्ष में है।"

सिद्धार्थ ने और भी आलिंगन में भर लिया उस पक्षी को—"नहीं।"

देवदत्त बोला—"सभागार की जय हो! उसके निष्पक्ष न्याय की जय हो!" वह सिद्धार्थ से हंस ले लेने के लिए बढ़ा।

सिद्धार्थ फिर बोला—"नहीं, ठहरो। मुझे अभी और कुछ कहना है।"

महाराज शुद्धोदन ने कहा—"युवराज ! तुम ऐसे दुःशील कभी नहीं हुए थे। क्या हंसों का अभाव हो गया ? मैं मानसरोवर से तुम्हारे लिये अनेक हंसों को मँगा दूँगा। दे दो युवराज !"

"नहीं कदापि नहीं।" पार्श्ववर्ती कक्ष में से एक छिपा हुआ वृद्ध सभासद् बोला।

सारी सभा चकित हो गई।

सभा से भी अधिक चकित हो उठा युवराज—"कौन हो तुम ? करुणा के साधक ! तुम कहाँ से बोल रहे हो ? दिखाई क्यों नहीं देते ? राजकुमार देवदत्त ने मारा है इसे निःसंदेह पर मैंने इसे बचाया है। क्या मारने से बचाना अधिक नहीं है ? क्या मारने से बचाना श्रेय नहीं है ?"

फिर उसी कक्ष से शब्द आए—'बचाना ही श्रेय है। राजकुमार देवदत्त का अधिकार इस हंस पर तभी होता यदि यह उनके तीर से मृत्यु को प्राप्त हो जाता। क्योंकि यह जी रहा है, इसलिये जीवित करनेवाले का ही है।"

सिद्धार्थ बोल उठा—'करुणा की जय हो ! कौन हो तुम ? मैं तुम्हारे दर्शन करूँगा।' वह उस कक्ष के बंद द्वार की ओर बढ़ने लगा।

महाराज शुद्धोदन ने कहा—"ठहरो युवराज ! अभी नहीं। हंस का न्याय हो जाने दो।" महाराज ने सभा को संबोधित करते हुए कहा—"मैं सभा की इच्छा जानना चाहता हूँ।"

एक सभासद् ने कहा—"निःसंदेह मार जाने पर ही यह हंस राजकुमार देवदत्त का आखेट कहलाता।"

दूसरा बोला—"अवश्यमेव मार प्रत्येक सकता है, बचा कोई विरला ही सकता है। इसलिये मारनेवाले से बचानेवाला बड़ा है। इस हंस पर उसी का अधिकार हो।"

सारी सभा बोल उठी—"करुणा चिरजीविनी हो। यह हंस

युवराज के ही पास रहने दिया जाय। उन्होंने इसे अपनी दया से प्राप्त किया है।"

"अन्याय, घोर अन्याय पक्षपात घोर पक्षपात!" पैर पटककर देवदत्त बोला।

"यदि यह पक्षी बोल सकता, तो सारी सभा को अलग-अलग अन्यथा रहता वह मेरी छाती में निर्भय होकर देख रहा है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे सब कुछ समझ रहा है!" सिद्धार्थ ने कहा।

देवदत्त फिर रोष में भरकर बोला— आप लोग ऐसे न्याय से मेरे और युवराज के बीच में बड़े भारी विद्वेष का बीज बो रहे हैं। वह समय शायद कभी भयंकर प्रतिहिंसा में बदल जायगा।

महाराज ने कहा—"राजकुमार! सारी सभा का एकस्वर न्याय को अन्याय नहीं कहा जायगा। मैं तुम्हारे लिये भी चाहे जितने कहो, उससे हंस मँगा दूँगा।"

"क्या करना है मुझे और हंसों से? क्या मैं भूखा हूँ उसका? आज ही इस सभा में मेरे पिता उपस्थित न हुए। वह यह अन्याय न होने देते। युवराज!' देवदत्त ने कहा।

"हाँ भाई!" सिद्धार्थ ने कहा।

"भाई? नहीं। हमारे सारे संबंध और मित्रता खिन्न होती है यहीं पर। मैं अब तुम्हारे राजभवन में भी न आऊँगा और प्रयत्न करूँगा कि शाक्यों के राज्य में भी स्थान न रहे मेरे लिये।"

देवदत्त ने प्रलाप कहा।

"नहीं, राजकुमार!" सिद्धार्थ ने उसका हाथ पकड़ा।

देवदत्त ने हाथ झटक दिया—"हटो देख लिया तुम्हें," और संथागार से प्रस्थान कर।

"बैठो सिद्धार्थ!" महाराज ने कहा।

"नहीं चाहिए मुझे कुछ।" देवदत्त ने सारी सभा को क्रोध और घृणा से देखा। उसने दाँत पीसकर भूमि पर पैर पटके, और चल दिया।

एक सभासद् बोला—"न्याय से वादी-प्रतिवादी दोनों ही संतुष्ट बहुत कम होते हैं। संसार का न्याय ही अपेक्षित है। वह किसी की प्रसन्नता से प्रभावित नहीं होता। न उसे किसी के असंतोष का ही भय है।"

महाराज ने एक प्रहरी को बुलाकर कहा—"प्रहरी, युवराज को सीधे राजभवन में पहुँचा दो।"

पर सिद्धार्थ बोला—"महाराज! मैं उस महानुभाव के दर्शन करना चाहता हूँ, जिन्होंने मेरी और इस हंस की सहायता की।"

"नहीं राजकुमार, अब समय नहीं, फिर। यह ठीक नहीं होगा। जाओ राजभवन को फिर देखा जायगा।" महाराज ने कहा।

"अच्छा," सिद्धार्थ ने हंस को गले लगाकर कहा—"जाओ, इस जगत् में करुणा की धारा भी बहती है, इस क्रूरता के बीच में दया भी बिखरती है। जाओ, तुम अब उड़ सकोगे। मैं तुम्हें शुभ आकाश में छोड़ दूँगा कि तुम अपने बिछुड़े हुए साथियों से फिर मिल सको। मेरे हृदय से करुणा की प्रबल मंदाकिनी बहना चाहती है। मैं समस्त विश्व-संसार को परिप्लावित कर दूँगा, और तुम यह पहले जीव हो हे हंस! जो उसमें प्रथम स्नात हुआ है।" सिद्धार्थ ने प्रहरी से कहा—"चलो।"

दोनों चले गए।

सारी सभा टक लगाकर उन्हें देखती रही।

---

५ मृत्यु की शृंखला

गुरु-पर्व-देश से गीत-कुमारियाँ आ पहुँची उस दिन। महाराज अंतःपुर में थे प्रभावती के कक्ष में। उन्हें वहीं उपस्थित करने की आज्ञा दी उन्होंने। दासी चली गई। महाराज ने पूछा—'युवराज कहाँ हैं? बड़ी देर से मैंने देखा नहीं आज उन्हें।'

"उपवन में हैं, वंदक के साथ।" प्रभावती ने उत्तर दिया।

"राजकुमार देवदत्त कहाँ रहते हैं, नहीं आया उस दिन से राजभवन में।"

"भगवान् ने यह अच्छा किया, जो उनकी संगत छूट गई। युवराज की मनोवृत्ति को वह और भी अधिक बढ़ा देते थे।"

"मेंद और वंदक, इन दोनों से युवराज की प्रकृति बहुत कुछ मिलती है।"

"मेंद अलग था, शस्त्र-शिक्षा के मैदान में भी वह अब बहुत कम जाता है। युवराज के बोलने पर भी वह उनसे नहीं बोलते। जितनी सांसारिकता आप चाहते थे कम गई है राजकुमार देवदत्त में अभी से।" प्रभावती ने कहा।

महाराज बोले—"और मैंने सुना था, वह राजपुर जानेवाला है।"

"किसलिये?"

"उसके मातुल वहीं हैं न। उन्हीं के पास रहेगा। वहीं शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करेगा।"

"क्या राजकुमार देवदत्त के पिताजी ने कहा?"

"नहीं, और किसी ने कहा।"

"उस हंस की घटना के पश्चात् राजकुमार देवदत्त के मित्र के कैसे भाव हैं आपके प्रति?" महारानी ने पूछा—"बहुत दिनों से यह कौतूहल मन में बसा है। पूछ ही नहीं सकी आपसे अब तक।"

महाराज हँसने लगे—"प्रकट में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता। पर उसका मन्तव्य क्या है कहीं मन। मैं हृदय से चाहता था, हंस देवदत्त को ही दे दिया जाता। संथागार के एकमत को मैं कैसे बदल देता। जैसा भी विचार करे वह। मैं क्या करूँ। मेरा कोई अपराध नहीं।

अचानक नूपुर-मंजीर, कंकण-वलय की झंकार सुनाई दी। मानो फूलों के ऊपर पाँव अंकित करती हुई गीत कुमारियाँ महाराज के समीप आईं।

दासी ने विनय-पूर्वक कहा—"महाराज गीत कुमारियाँ आ गई हैं आपके समीप।"

"रूप, शृंगार और परिष्कार में अनुपमीय। जब इनके अधरों पर गीत प्रस्फुटित होते होंगे, तो कौन विमोहित न हो जाता होगा इनसे?" प्रजावती ने अपने मन में कहा।

"हम पाँच गीत-कुमारियाँ हैं महाराज! आपके आज्ञानुसार आपकी सेवा में उपस्थित हुई हैं। हम राजदम्पति को प्रणाम करती हैं।" गीत-कुमारियों में जो सबसे बड़ी थी, उसने कहा।

उसके कस्तूरी-चर्चित अंगराग से समस्त अंतःपुर सुवासित हो गया। उस गीत-कुमारी का वह परम मोहित पिक-कंठ कानों में सुधा बरसा गया!

प्रजावती फिर मन में सोचने लगी—"जिसकी वाणी इतनी

महाराज ने प्रसन्न होकर उनका स्वागत किया—"तुम्हारे पदार्पण से हमारा राजभवन धन्य हुआ। तुम्हारी प्रतीक्षा करते-करते अनेक युग बीत गए हमें।"

फिर उसी ने उत्तर दिया—"हाँ महाराज हम क्षमा चाहती हैं। प्रकृति ने बाधा डाल दी। हमने जान-बूझकर आपकी आज्ञा की उपेक्षा नहीं की। हिम का अद्भुत बड़ा गिरि-खंड टूट पड़ा हमारे मार्ग में। उसके गलने पर ही हम सब अपना पथ निकाल सकें उसमें। हम क्षमा-प्रार्थिनी हैं इसके लिये।"

"नहीं, यह कोई बात नहीं। दैवी बाधा के आगे विवश होना ही पड़ता है। मार्ग में और कोई कष्ट तो नहीं हुए?"

"नहीं महाराज, हम नृत्य करती हैं। हमारी चालें वायु के समान चपल-चार हैं। कुश-कंटक उनमें गड़ते नहीं, मार्ग का श्रम उन्हें व्यापता नहीं।" उसी ने उत्तर दिया।

"तुम पाँचों बहनें हो?"

"हाँ महाराज!"

"सबसे बड़ी तुम्हीं हो?"

"महाराज का अनुमान सत्य है। और इन सबमें सुन्दर भी मैं ही हूँ। ये और गीत में प्रवीण हैं पर बातचीत करने में बीच दुर्बल हैं।"

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"भैरवी।"

"क्या तुम गीत-प्रवीण नहीं हो?"

"मैं नहीं जानती महाराज!" हँस पड़ी भैरवी।

दूसरी बोली—"सबसे अच्छा गाना जानती है।"

"तुम विवाह नहीं करती हो?" महाराज ने पूछा।

"नहीं महाराज! इसी से तो गीत-कुमारी कहलाती है।"

"क्यों ?"

पाँचों गीत-कुमारियाँ कम्प-विकल हुईं ।

महाराज ने कहा—"मैत्री ! तुम कुमारी क्यों हो ?"

"क्षमिए महाराज, मैं उत्तर दूँगी ।" मैत्री ने दृष्टि ऊँची कर कहा।

"तुम्हें गिरिकुमारी ही रह जाना क्यों अभीष्ट है ?"

"गीत-कुमारी से विवाह करने को कोई तैयार नहीं होता, इसी से हम विवाह नहीं करतीं ।"

"प्रेम भी नहीं करतीं किसी से ?" महाराज ने पूछा ।

महारानी ने महाराज की पीठ में उँगली गड़ाकर मुख फेर लिया ।

"नहीं महाराज, हृदय की बात आप पूछें, तो हम किसी से प्रेम नहीं करतीं । हाँ, प्रेम करना सिखा सकती हैं ।" मैत्री ने कहा ।

"ऐसा ही सुना था मैंने तुम्हारे सम्बन्ध में । ऐसा ही चाहिए भी था तुम्हें । तुम्हारे रहने का प्रबंध कहाँ किया जाय ?"

"पुरुषों के बीच में न रहेंगी हम महाराज !" मैत्री ने कहा ।

"नहीं कंचनपुर के एक भवन में रहोगी ।" कहकर महाराज ने प्रभावती की ओर देखा ।

प्रभावती ने कहा—"हाँ-हाँ, बड़ी प्रसन्नता से ।"

"और तुम्हारे भोजन का क्या होगा ?" महाराज ने फिर पूछा ।

"हम केवल फल खाती हैं, और कच्चा गाय का दूध पीती हैं ।" मैत्री बोली ।

"तुम अन्न क्यों नहीं खातीं ?"

"नहीं महाराज ! उससे हमारी गीत-माधुरी विकृत हो जाती है । स्वर स्थान-च्युत हो जाते हैं ।" मैत्री ने कहा ।

"क्या चिन्ता है, तब फल और दूध की कमी नहीं है हमारे । चलो सबसे पहले तुम्हारे भोजन का ही प्रबंध किया जाय ।" प्रभावती ने कहा ।

"नहीं महारानीजी, केवल एक ही बार दिन में खाती हैं हम वह भी बहुत सूक्ष्म। आज का चुकी हैं, अब न खायेंगी।" भैरवी ने कहा।

"तभी तुम सब-की-सब दीयों बहनें इतनी दुबली-पतली हो।" महारानी ने कहा।

वे चौबों बहनें खिलखिलाकर हँस पड़ीं मानो वसंत की पौध मधुरतम कैरवी कोकिलाएँ कूक उठीं।

"तुम भी कुछ बोलो न?" प्रभावती ने शेष चार गीत-कुमारियों से कहा—"या तुम गीत ही सुनाने के लिये आई हो? मैं अभी तुमसे गीत का आग्रह करती। पर मैं अपने कौतूहल को दबा दूँगी। सौजन्य नहीं कहता है। तुम्हारे मुखों पर यात्रा के श्रम की छाया है और कुंचित कुन्तलों में धूलि के कण।"

सबसे छोटी बोली—"नहीं महारानीजी आपका श्रम हो गया है। हमने अचिरावती की धारा में स्नान किया है। हमने स्वच्छ होकर आपके दर्शन उचित समझे।"

"मैं समझती थी, तुम बड़ी सौम्या हो।" कहकर महारानी ने उसके कंधे पर लटकती हुई बालों की लट हाथ में लेकर कहा—"यह प्रकाश की रेखा चमक रही थी तुम्हारे बालों में। क्या नाम है तुम्हारा?"

"मेरा नाम सुरुचि है।" सबसे छोटी ने कहा।

"तुम्हारे साथ का सामान?" महाराज ने पूछा।

"प्रहरी के पास छोड़ आई हैं। बस बिछौना एक दोम के कुछ वस्त्र, एक वीणा और एक करताल।"

"शृंगार का सामान? अलंकार?" प्रभावती ने पूछा।

उत्तर सुरुचि ने दिया—"हम अलंकारों को भार और शृंगार

"यह वही पवित्र धरोहर है मेरे पास। हमारा समस्त जीवन का सुख उसी की प्रसन्नता पर निर्भर है।" प्रभावती ने कहा।

जिज्ञासा लेकर भैरवी ने महाराज को देखा।

'हाँ भैरवी, महारानी सच ही कह रही हैं।" प्रद्योतन ने कहा।

'धरोहर! यह नहीं समझी मैं।" भैरवी ने पूछा।

"हाँ फिर तुम्हारे साथ मैत्री हो जाने पर सब बतलाऊँगी।"

"राजकुमार क्या आजकल उदास रहते हैं?" भैरवी ने पूछा।

"समय के अभिशाप में। कभी यह उदासी बहुत बढ़ जाती है तब वह किसी को अपने सामने नहीं आने देते।"

"उन्हें कोई रोग तो नहीं है?"

'रोग! रोग का क्या काम! सुंदर स्वास्थ्य और अवयवों की रेखाएँ परम मनोहर।" महाराज ने कहा।

"और उन्हें अभाव किसी वस्तु का नहीं?" भैरवी ने पूछा।

"नहीं, किसी वस्तु का अभाव नहीं, इच्छा ही नहीं है उनकी।" प्रभावती बोली।

"अभी विवाह नहीं हुआ है उनका?"

"नहीं।"

"विवाह-योग्य अवस्था हो गई होगी?"

प्रभावती ने कहा—"हाँ।"

सब-की-सब शील-कुमारियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

अप्रतिभ होकर प्रभावती ने पूछा—"क्यों, क्या बात है?"

'कुछ नहीं महारानी। हमें युवराज की चिन्ता का कारण ज्ञात हो गया। भगवान् क्षमा करेंगे, तो हम उनका मन बहला देंगी। हम पाँच भिन्न विषयों की आचार्याएँ हैं। पहले तो सभी युवराज के मन

को अधिकृत कर लेंगी, नहीं तो एक अवश्य ही उन्हें वश में कर लेगी।" मैत्री बोली।

महारानी ने कहा—"एक अद्भुत सुगंध का अनुभव करने लगी हूँ। ऐसा कोई भी पुष्प नहीं है हमारे उपवन में।"

"कस्तूरी?"

"नहीं।"

मैत्री को कुछ याद पड़ा। उसने हँसकर कहा—"यह मेरी चौथी बहन होगी। इसके अंग से सुगंधि निकलती है इसी से इसका नाम सुरभि है।"

महारानी उसके समीप गईं, उसका मस्तक सूँघकर बोलीं—

"सुमधुर सुगंध द्रव्य है।"

"नहीं महारानी!" सुरभि ने कहा।

"अच्छा महाराज, हमें आज्ञा दीजिए। हम राजकुमार को देखने के लिये व्याकुल हैं। हम जायेंगी।" मैत्री ने कहा।

"अपनी वस्तुएँ तो यथास्थान रखवा दो।"

"ग्राम-वासी रख देंगे।"

"हम भी तो चलेंगे कि तुम्हें युवराज का प्रथम दर्शन संकोच-विहीन हो।" महाराज ने कहा।

"नहीं, हम स्वयं ही उनसे मिलेंगी। हम संकोच नहीं जानतीं।"

मैत्री बोली—"चलो।"

पाँचों उपवन को दौड़ गईं। मार्ग में एक ने वीणा बजा दी। एक ने कलगान। उपवन में जाकर उन्होंने दूर से युवराज को देख लिया। वे सब एक सघन कुंज के भीतर छिप गईं।

सिद्धार्थ अपने चिरप्रिय जामुन की छाया में बैठे थे। साथ में उनका भाई नंद और उनका सारथी तथा सखा छंदक भी थे।

छंदक कह रहा था—"फिर आप हेर-फेरों से क्यों बातें करें। कब आप सिंहासन पर विराजमान हो जायेंगे।"

'क्यों छंदक !' युवराज ने छंदक की पीठ पर हाथ रखकर पूछा।

'क्योंकि आप महाराज हो जायेंगे। मंत्री और सामन्तगण ही घेरे रहेंगे आपको।" छंदक ने कहा।

"क्यों, महाराज तो पिताजी हैं न ?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"वह तुम्हें सौंप देंगे राज्य।'

"और आप ?"

"वाराणसी चले जायेंगे। कह रहे थे अभी उस दिन।"

सिद्धार्थ ने पूछा—"क्यों राजकुमार नंद ?"

"हाँ युवराज, मैंने भी सुना था।" नंद ने कहा।

"नहीं छंदक, मुझे नहीं चाहिए राज्य। मैं ऐसे ही अच्छा हूँ। जब रोने की इच्छा होती है, रो लेता हूँ, और जब गाने को मन करता है, तब गाता हूँ।" एकाएक भाव बदलकर सिद्धार्थ ने कहा—"फिर मीत की याद आ गई मुझे !"

"केवल एक कल्पना युवराज !' नंद ने कहा।

"कल्पना का भी तो मूल्य है नंद !" सिद्धार्थ ने उत्तर दिया—"अनेक बार मैं जैसी कल्पना करता हूँ, ठीक वैसा ही वास्तव जगत् में पाता हूँ—कल्पना जैसे सत्य का हाथ पकड़ लेती है। कई बार मैंने स्वप्न में जैसा देखा, जगत् में वैसा ही पाया। अधिक नहीं होता ऐसा। केवल बीच-बीच में कभी। क्यों होता है ऐसा नंद ?"

"मैं नहीं कह सकता युवराज !"

"तुम बता सकते हो छंदक !"

"नहीं मैं भी नहीं बता सकता।"

"यह भीतर का जगत् बाहर के संसार से जुड़ा हुआ है, इसमें संदेह नहीं। पर कैसे, कहाँ पर यह जुड़ा है पता नहीं चल सकता।" युवराज ने कहा।

"राजकुमार! आज संध्या-समय रथ-विहार के लिये चलोगे न?" चंदक ने पूछा।

"घीरे-घीरे फिर वहीं पर आ जाना भी कोई विहार हुआ?"

"दूसरी दीवार तक तो आपका मार्ग खुल गया है न?" नंद ने कहा।

"तीसरी दीवार तक भी हो आया था मैं उस दिन इस के स्वाद के लिये चला गया था। महाराज ने फिर बंद करा दिया वह मेरे लिये चंदक! इन पाँचों दीवारों से मार्ग निकालकर मुझे बाहर दिखा लाओ न?" अचानक सिद्धार्थ एकाग्र होकर कुछ सुनने लगा—"तुम नहीं सुन रहे हो नंद!'

'यह पायल का बोल है युवराज! कहीं भी कुछ नहीं सुनाई दे रहा है।' नंद ने कहा।

"कदाचित् मधु-ज्वार से युक्त कोई मक्खिका आ रही है गुनगुनाती हुई।' चंदक ने कहा।

"तुम दोनों भी नहीं समझ सकते मेरी वेदना। नंद! चंदक! मैं अकेला ही यहीं पर कुछ देर बैठना चाहता हूँ, बुरा न मानना।'

दोनों उठकर चले गए। सिद्धार्थ आँखें बंद कर बैठ गया वहीं पर।

कुञ्ज में छिपी हुई बालिकाएँ का हास-परिहास झाँक रही थीं पाँचों राज-कुमारियाँ सिद्धार्थ, चंदक और नंद को।

भैरवी बोली—"पहचान गई हो न तुम सब युवराज को?"

"हाँ क्यों नहीं? वह व्यक्ति सुन्दर वस्त्रों में सुसज्जित है। एक साधारण वेश में है वह युवराज नहीं है। उन दोनों में एक जिसके प्रति आदर और विनय प्रकट कर रहा है बात-चीत में वह आदर का पात्र ही युवराज है।" एक ने कहा।

"अनुमान ठीक है तुम्हारा।" भैरवी बोली।

"पर वह प्रसन्न नहीं ज्ञात हो रहे हैं?" सुरुचि ने कहा।

"उदासीनता के वश होते हैं । रात-दिन थोड़े उदास रहते होंगे ।" दूसरी ने कहा ।

"बड़ा दर्शनीय है राजकुमार !" सुरभि ने कहा ।

"विवाह करेगी तू उसके साथ ?" भैरवी ने कहा ।

खिसिया गई सुरभि ।

जब छंदक और वह सिद्धार्थ के पास से चले गए, तो भैरवी ने कहा—"चलो, अब युवराज एकांत में है । अब उसके पास चलें ।"

"सब साथ नहीं एक-एक कर ।" एक ने प्रस्ताव किया ।

"अब तो वह उदास और चिंता में घिर गए जान पड़ते हैं ।" सुरभि ने कहा ।

"पहले कौन जाएगा ?" भैरवी ने पूछा ।

"मैं जाऊँगी ।" सुरभि ने कहा ।

"सबसे छोटी !"

"परंतु सबसे बलवान् । कौन शील मध्य है रस का मनुष्यों में ?" सुरभि ने उत्तर दिया ।

"यदि युवराज ने उपेक्षा कर दी तुम्हारी, तो फिर ! हमारा सारा बल क्षीण हो जाएगा । यह जाति का अपमान होगा फिर हम मुख दिखाने-योग्य न रहेंगी ।" भैरवी ने कहा ।

कमलिनी तीसरी बहन की संज्ञा थी ।

एक ने कहा— "कमलिनी तू जा ।"

"नहीं ।" कमलिनी बोली— "जो सुरभि पर बिजली है, उस पर मेरा जादू नहीं चल सकता ।"

"फिर ?"

"सुरभि, तुम जाओ ।" कमलिनी ने कहा ।

"मैं वहीं से उन पर फूल फेंक सकती हूँ ।" सुरभि ने कहा ।

"चित्रा ! तुम जाओ । भैरवी ने कहा ।

प्रिया भैरवी से छोटी बहन का नाम था।

प्रिया हँसी—"मैं जाऊँ ? पर युवराज आँखें बंद किए हुए ध्यान में कुछ देख रहे हैं।'

"कमलिनी को साथ ले जाना। वह अपने स्पर्श से युवराज का ध्यान भंग करेगी कि तुम्हारा जादू चल जायगा।" सुरभि ने कहा।

'अच्छा, कोई भी न जायगा। हम यहीं से छिपकर कोई गीत गावें। देखें, उसका प्रभाव कैसा पड़ता है इस युवराज पर।' भैरवी ने निर्णय किया।

गीत-कुमारियों ने गीत प्रारंभ किया—

दूर जग था, एक मानस सरोवर था,
क्यों तुम्हें यह चिर तृषा है विरह-मन में।
मौन जल व्याकुल भीगा हिम कणा,
बन्द कारागार के घर मुक्त हुए।
इस जगत में सुख भी एक दिन है,
दूर जग था, एक मानस सरोवर है।

मंत्र ने आँखियाँ खोल दीं। कुछ आकाश में उड़ गए, पत्ते पवन में स्थिर हो गए, पक्षी शाखाओं में और जीव धरती पर। सिद्धार्थ का स्वप्न टूट गया!

वह घबराकर उठा, उसने आँखें खोलकर इधर-उधर देखा—"फिर वही गीत! इस बार बिलकुल ही भिन्न। मेरे माता-पिता इसे मेरा भ्रम कहते हैं। मेरे सखा-सहोदर इसे मेरा उन्माद बताते हैं। कौन हो तुम? कहाँ से गाते हो? किस उद्देश्य से गाते हो? मैं तुम्हारे इन स्वरों से प्रीति करता हूँ। जब तुम्हारा गीत नहीं सुनाई देता, तो और भी चिंतित हो जाता हूँ।"

केवल रागिनी सुनकर कुमारियों ने गीत बंद कर दिया था। वे सभी की आड़ से झाँकने लगीं सिद्धार्थ को। उन्होंने उसे विकल होकर

इधर-उधर ढूँढते हुए देखा। सब-की-सब सब-की-सब मगन हो गयीं।

"दिखाई क्यों नहीं देते तुम? किस लोक से गा रहे हो? मैं तुम्हें देखना चाहता हूँ। पहले दूर किसी गहराई से तुम गाते थे। आज मैंने बहुत ही निकट सुना। इसी से शब्द प्रकट हो उठे क्या गीत में? फिर गाओ, तुमने क्यों मौन धारण कर लिया?"

गीत-कुमारियाँ विजय के हर्ष में एक दूसरे का मुख देखकर मुस्कराने लगीं।

"केवल एक गीत के ही जाल में फँस गए कुमार!" मैत्री बोली।

"दीदी! फिर गावें न? कैसी आकुलता से कुमार उस बीच में ही तान छिपे हुए गीत का सिरा खोज रहे हैं!" सुरुचि ने कहा।

"क्यों, बड़ी करुणा उमड़ आई है तेरे मानस में युवराज के लिये।" मैत्री ने कहा।

"करुणा कैसी! गीतों से उनका मनोरंजन करने के लिये तो आई हैं हम यहाँ।" सुरुचि ने कहा।

"एक साथ ही समस्त गीत गा देने से राजकुमार की रस-तृप्ति हो जायगी, और हमारी नवीनता जाती रहेगी।"

सिद्धार्थ फिर बोला—"फिर गाओ न।"

"जैसे बहुत दिनों का परिचय है इनका हमारे साथ, यह तो इस प्रकार हमें संबोधित कर रहे हैं। इससे पहले कब सुना इन्होंने हमारा गीत?"

गीत-कुमारियों ने फिर गाया—

जब रवि का यहाँ कुसुमित विलास
स्पन्दन है रस-पीयूषों का विकास।
वे रही देखत मेरी सुकुमार वे
इस तरह का हँस मानस कोमल है।

मैत्री ने संकेत कर फिर चुप करा दिया सबको—"बस, इतना ही।"

सिद्धार्थ ने कहा— समझ में आया। बहुत दिनों में इस बार! और यह है हंस मानस सरोवर में —क्या तुम्हारा अर्थ यह हंस भी है, जो मेरे पास आकर मुझे इतना अपना दिखा गया। वह तो और गया है अपने निवास। उसका मन अच्छा हो गया था जब उसमें उड़ने की शक्ति आ गई थी तब मैंने उसे इस मुक्त आकाश में उड़ा दिया था। इधर, उधर ही से सुना मैंने वह गीत। आज मुझे दिशा का ज्ञान हुआ है। आज तुम्हारे स्वरों ने ऊपर संकेत किया है। मैं ढूँढ ही लूँगा तुम्हें।"

भैरवी ने कहा— "युवराज इधर ही आ रहे हैं अब हम छिप नहीं सकतीं। चलो, गाती हुई कुंज के पास से उन्हें घेर लें।"

सब-की-सब नाचती-गाती हुई कुंज के बाहर निकल आईं और उन्होंने सिद्धार्थ को चारों ओर से घेर लिया।

युवराज ने कहा—"आज ढूँढ सका मैं तुम्हें।"

"हम आज ही तो आई हैं।"

"फिर वह कौन गाता था। बिलकुल तुम्हारे ही अनुरूप।"

"हम नहीं जानतीं। हमें महाराज ने बुलाया है दूर देश से।"

"तुम गीत-कुमारियाँ हो?"

"हाँ।"

"एक पीड़ा है मेरे हृदय में।"

"कैसी राजकुमार?"

"पीड़ा है, यह जानता हूँ, क्यों है यह नहीं जानता।"

"हम आपकी पीड़ा मिटा न सकेंगी, तो भुला तो अवश्य ही देंगी।' भैरवी ने कहा।

"चलो, उस सरोवर के निकट उस जामुन के पेड़ के तले चलें।"

सब वहीं गए।

सिद्धार्थ ने भैरवी से कहा—"तुम इ [illegible] के नहीं हो?"

"हाँ, मेरा नाम मैत्री है।" मैत्री ने अपनी छोटी बहन को सिद्धार्थ के सम्मुख किया।

वह बोली—"मेरा नाम चित्रा है।"

"तुम सबसे अधिक दर्शनीय हो।"

चित्रा ने अपनी बहन को आगे किया।

वह बोली—"मेरा नाम कमलिनी है मैं मैत्री की तीसरी बहन हूँ।" उसने चौथी बहन को आगे कर दिया।

सुरभि ने कहा—"मेरा नाम सुरभि है।"

सबसे छोटी ने कहा—"और युवराज, मेरा नाम सुरुचि है।"

'तुम पाँचों बहनों के बीच भिन्न-भिन्न आकर्षण हैं। अच्छी बात है, तुम्हारा स्वागत है। मेरा नाम सिद्धार्थ है। अपने ही भवन का बंदी एक राजकुमार हूँ मैं। इस सात दीवारों से घिरे हुए एकांत में। दो दीवारों में पथ मिल गया है मुझे। पाँच दीवारें शेष हैं। तुम पाँचों बहनें मिलकर उन्हें मुक्त कर दोगी, मेरे लिये।'

गीत-कुमारियों की समझ में कुछ आया नहीं। वे चुप रहीं।

सिद्धार्थ की दृष्टि सरोवर के किनारे पर गई। एक मेंढक उचक-उचककर तितलियों को पकड़ रहा था।

सिद्धार्थ ने कहा—"हैं! यह क्या यह मेंढक खा गया उस छोटी सी तितली को।"

"यह तो एक साधारण बात है राजकुमार! मेंढक का भोजन ही है यह। यह उसे खाए नहीं, तो जिए कैसे!" चित्रा ने कहा।

"पर मेरी दृष्टि जाम ही गई इस पर। क्या कुछ और पशु-पक्षी खाकर नहीं जी सकता यह!" युवराज ने पूछा।

कमलिनी चिल्ला उठी—"सर्प! सर्प!"

सब एक ओर को हटकर सावधान हो गए। सर्प ने उस मेंढक को निगल लिया।

गीत और गीत-कुमारियों का आयोजन सुनकर नंद, देवक और कुछ राज-वासी भी वहाँ आ गए थे। एक सेवक ने साँप को मारने के लिये पत्थर उठाया। सिद्धार्थ ने उसे वारण कर दिया।

इतने में एक रंगीन पक्षी आकाश-मार्ग से आया और उस सर्प को अपनी चोंच में उठाकर उड़ गया।

"क्या देखा यह! मेंढक को साँप ने निगल लिया, और साँप को रंगीन पक्षी ले गया। कैसी हिंसा छिपी हुई है, इस प्रकृति के शांत आवरण में आग लगाए। जल के लिये थल पर और थल के लिये आकाश पर।" सिद्धार्थ ने आँखों में आँसू भरकर कहा।

"यह तो प्रकृति का रात-दिन का खेल है युवराज! भैरवी ने सान्त्वना देते हुए कहा।

"पर मैंने आज ही देखा। एक का जीवन दूसरे के जीवन पर खड़ा हुआ है क्या!" सिद्धार्थ ने पूछा।

"हाँ," भैरवी ने कहा—"जीव हुआ तो, भक्ष और भक्ष्य हुई तो क्या! यह एक शृंखला है—"वह सहम गई!

"एक अटूट मृत्यु की शृंखला है क्या! जहाँ तक दृष्टि जाती है, उससे भी दूर! अनुमान की सीमा—उससे भी दूर! आह! कहीं पीड़ा है कहीं अशांति है।" सिद्धार्थ भूमि पर मस्तक पकड़कर बैठ गया।

"मस्तक पर से हाथ हटाओ युवराज! इससे अशांति और भी बढ़ जायगी।"

"अच्छा मैं हट जाऊँगा। मेरे प्रश्न का उत्तर दोगी!" युवराज भैरवी का गात-कोमल हाथ पकड़ने लगा।

भैरवी ने सिद्धार्थ का संकोच दूर किया—"हम गीत-कुमा-

छिपी है। हमारे अंग स्पर्श से दोनों में से किसी का भी विचार मलिन नहीं हो सकता।" उसने हाथ बढ़ाकर युवराज को स्पर्श किया। "क्या प्रश्न है तुम्हारा?"

"यह मृ कला किसकी है?"

मैत्री को तीसरे निमित्त की याद आ गई थी। उसने जान-बूझकर मृत्यु के नाम को छिपा दिया था। उसने दूसरा शब्द सोचने में विलम्ब नहीं लगाया—'यह दिन और रात की मृ कला है।"

सिद्धार्थ हँसने लगा—"क्यों, उसे मृत्यु की मृ कला कहने में तुम्हें क्यों भय लग रहा है?

मैत्री ने सिद्धार्थ का दूसरा हाथ भी पकड़ लिया। उसने अपनी पलकों का कुछ संकेत किया। वह हँसकर बोली—'यह स्वप्न और गीत की मृ कला है युवराज! इस स्वप्न को हर नहीं सकती, छू लेंगी।

युवराज ने स्मित होकर कहा—"छू लो फिर। बाद में कर दो अंधकार को। उसकी विस्मृति हो। मैंने तुम्हें सौंप दिया अपना मन।"

गान-कुमारियों ने एक-दूसरे का हाथ पकड़कर घेर लिया सिद्धार्थ को।

मैत्री ने कहा—"युवराज, यह है वह मृ कला।"

सिद्धार्थ ने प्रसन्न होकर एक-एक के निकट जाकर कहा—"मैत्री, चित्रा, कमलिनी, सुरभि और सुरुचि! सात प्रश्नों के भीतर तुमने एक और चक्र बना दिया यह! गाओ, गाओ फिर वही गीत!"

गीत-कुमारियाँ युवराज को घेरकर नाचने-गाने लगीं।

राजभवन से दर्शकों की भीड़ लग गई वहाँ। उनमें प्रसन्न चित्त महाराज और महारानी भी थीं।

---

६ प्रेम के पाठ

युवराज की वह उदास भावुकता गई तो नहीं, पर गीत-कुमारियों ने अपने राग में उसे छिपा दिया। जब उसे छिपा लेती, गीत-बालाएँ अपने-अपने भावावेश से सिद्धार्थ का ध्यान एक स्थान से हटाकर दूसरी जगह स्थापित कर देतीं। युवराज के मन को सांसारिकता में अटका दिया उन्होंने, इससे राजभवन में वे बड़े आदर और सम्मान से देखी जाने लगीं।

युवराज जिस गीत को मन से सुनते थे, वह उनके मनन, चिंतन और अध्ययन में सजीव हो उठता। पहले कुछ दिन तक वह उस भीतर के और बाहर के गीत में अंतर समझते रहे फिर इन गंधकुमारियों की माया में डूब गए। वह ज्वाला राख के नीचे दब गई!

कुमारियाँ धन के लालच से नहीं आई थीं यहाँ। उनके देश में कोई सिक्का नहीं चलता था। वे कभी फूल-पत्तों को छोड़कर किसी धातु से अलंकृत न होती थीं। वे रत्नों को चमकीले पत्थर कहती थीं।

एक सम्राट की प्रेरणा से ही वे यहाँ आई थीं। राजा का एक मित्र था गंधर्व-देश में उसी ने उन्हें यहाँ भेजा था। इस निःस्वार्थ भाव से और भी उनका महत्त्व बढ़ गया। कभी-कभी महारानी प्रजावती दासियों को पीछे छोड़कर उन गीत-कुमारियों की अभ्यर्थना के लिये आगे बढ़ जाती थीं।

उसी जामुन के वृक्ष के नीचे, सरोवर के किनारे पाठशाला लगी। शिक्षिकाएँ पाँच और छात्र केवल एक।

सिद्धार्थ ने कहा—"मैंने शास्त्रों का अध्ययन किया है।"

"हम तुम्हें एक नवीन शास्त्र पढ़ायेंगी।" भैरवी ने कहा।

"कौन-सा ?"

"हम तुम्हें प्रेम सिखायेंगी।"

"क्या हुआ प्रेम ? मैं प्रेम करता तो हूँ।

'नहीं युवराज ! यह इतना सरल नहीं है, जितना तुम समझते हो।'

"क्या हुआ प्रेम ?"

'धीरे-धीरे ही तो सीखोगे। एक ही क्षण में कोई नहीं सिखा सकता।"

'सबसे पहले क्या करना होगा ?' युवराज ने पूछा।

"पहले रस की वृत्ति जागरित करनी होगी मन के भीतर।" भैरवी ने कहा।

"रस क्या हुआ ?"

"आनंद की भावना। इसके लिये तुम्हें मन की उदासी का बिलकुल त्याग करना होगा। रूप पर रिझना होगा।"

"तुम बड़ी सुंदर हो भैरवी ! कब का परिचय है तुमसे, नहीं जानता। जिन दिनों से तुम मुझे बचपन में वह गीत सुना रही थी क्या अब तुम्हें सामने पाकर और भी मधुर हो उठा है ! स्वर के सूत्र में पकड़कर तुम मुझे खींचकर ले जा रही हो ! कहाँ ? तुम्हारे आ जाने से वे सातों दीवारें और भी दृढ़ हो गई हैं। पहले बाहर क्या है इसे जानने की आकांक्षा थी, वह अब विस्मृत हो गई है। भैरवी !" सिद्धार्थ उसका हाथ पकड़ने को बढ़ने लगा।

'नहीं युवराज !" भैरवी पीछे हटने लगी।

"क्यों ?"

"ऐसा ही किया जायगा।'

'उस समय हम युवराज के निकट ही रहेंगी। हम युवराज के भाव और उनकी चेष्टाओं से उनके हृदय की थाह ले लेंगी और आपको युवराज की मनोनीत कुमारी को बता देंगी।"

युवराज को भैरवी बड़ी प्रिय जान पड़ी, आरंभ के बहुत दिनों तक। उसके हृदय में जिन स्वरों की झंकार थी उनकी प्रतिध्वनि युवराज को भैरवी के कंठ में मिली। जब उसके मन का गीत भैरवी ने भौतिक जगत् में मूर्त कर दिया, फिर भैरवी से हटकर उसका विचार चित्रा की ओर गया।

'चित्रा तुम अनुपम सुंदरी हो।' सिद्धार्थ ने कहा एक दिन।

चित्रा ने स्मित-वदन कहा—"आज ही क्या स्मृति-सी हुई है तुम्हें? इतने महीनों से हम सान्निध्य में हैं।"

"विचार और अध्ययन से हमें सत्य दिखाई देता है।'

"पहले तुम भैरवी से ही अधिक बोलते थे। उसी ने तुम्हारे विचार आकर्षित कर रखे थे।

'अब जान पड़ता है, वह अधिक भ्रमित कर देती है। उसका स्वर सुंदर है, इसमें कोई संदेह नहीं पर नेत्रों के लिये तुम सुरम्य हो, बहुत रम्य हो। गीत एक स्वप्न की भाँति अधिक मोह रखता है, पर वास्तविकता कम है उसमें। तुम्हें जब लता-कुंजों की ओर से देखता हुआ आता हूँ तो एक अद्भुत रोमांच से भर उठता हूँ।"

सिद्धार्थ उसकी ओर देखने लगा।

चित्रा लाज भरी हुई।

"चित्रा!

"कहो युवराज मुझे एक काम है।

क्या?"

नहीं बताया चित्रा ने। बड़ी देर में उसने प्रत्युत्तर किया।

"चित्रा, तुम इस प्रकार कठोर होकर बिना बोले ही चली गईं। मैं तब से निरंतर तुम्हारे ही चिंतन में हूँ। सच पूछो तो मैं तुम्हारी आहट पर ही साँस ले रहा हूँ। तुम कहाँ चली गई थीं?"

"काम लग गई थी।

"मैं समझा था, तुम रिसा गईं!"

"नहीं युवराज! इतने दिनों से देख ही रहे हो। हम रिस करना जानती ही नहीं। जो कुछ हुआ स्पष्ट कह देती हैं। किसी को बुरा लगे, चाहे भला।" चित्रा ने कहा।

"चित्रा तुम अत्यंत सुंदर हो।"

"हम इन स्तुति के वाक्यों से अनभ्यस्त हैं युवराज, और इससे हमारा भाव अविचल ही रहता है।"

"निरंतर तुम्हारी संगति में समय व्यतीत करने की इच्छा होती है।" कहते हुए सिद्धार्थ ने उसकी ओर हाथ बढ़ाया।

"ठहरो युवराज! तुम प्रतिज्ञा भूल रहे हो!

"कौन-सी?" युवराज ने हाथ रोककर उसकी ओर देखा, दुःख में भरकर।

"यही कि तुम हमारा स्पर्श न करोगे।"

"पर तुम्हें तो मेरा स्पर्श करने की स्वतंत्रता है न?"

"फिर क्या हुआ?"

"एक ही बात तो हुई। अंतर क्या रहा? मैंने तुम्हारा स्पर्श किया, या तुमने मेरा। इस प्रतिज्ञा में कोई तर्क नहीं रह जाता इससे मैं उसका त्याग करता हूँ।"

"नहीं युवराज कदापि नहीं। सबके सामने ही तुम्हें यह प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ेगी, क्योंकि सबके सामने ही तुमने यह व्रत लिया था।"

"केवल तुम्हारे ही सामने तोड़ता हूँ।"

"नहीं युवराज!"

"सीमा ही तो स्वर्ग है।"

"एक में तुम्हारी कामना है दूसरी में मेरी।"

"मैं अपनी कामना को भी सफल चाहता हूँ।"

"नहीं।"

"चित्रा, तुम अनुपम हो।"

"हम सब समान ही हैं युवराज!"

"नहीं तुम सर्वश्रेष्ठ हो। जिस एकांत में मैं केवल अपने विचारों के ही साथ रहता था वहाँ अब तुम्हारा साथ चाहता हूँ। तुम इतनी कठोर क्यों हो? बैठो।"

चित्रा बैठ गई।

"और भी निकट।"

"तुम्हारी इस कामना का कोई अंत ही न होगा। इसी से तो हमने उसके बीच में एक रेखा खींची है—एक सीमा बनाई है।"

"अच्छा वहीं बैठी रहो। इस संबंध में और कुछ न कहूँगा।"

"यदि कहा, तो फिर मैं कभी तुम्हारा साथ एकांत में नहीं करूँगी।" चित्रा ने कहा।

"चित्रा! चित्रा!" भैरवी ने पुकारा कहीं ओर से।

"हाँ, आई।" कहकर वह उठ खड़ी हुई। उसने युवराज से आज्ञा माँगी। वह चली गई।

सिद्धार्थ सोचने लगे—"चित्रा भी भैरवी के ही समान है। उन्होंने जो अनुराग सिखाया है मुझे, उसके दो पथ हैं—एक में वे मेरे समीप रहती हैं दूसरे में दूर।"

"क्या विचार कर रहे हो युवराज?" कहती हुई भैरवी आई वहाँ पर।

"यही कि तुमने जो प्रेम सिखाया है, उसके दो पथ हैं क्या?"

हँसकर भैरवी ने कहा— "हाँ-हाँ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि जिस वस्तु से तुम प्रेम करते हो, उसमें तीसरा परिमाण है—वह सघन है।"

"एक ही पक्ष क्यों नहीं है ?"

"बन्धन आवश्यक है। विरह के कारण ही मिलन है, और मिलन ने ही विरह को अपनाया है। विरह से भी प्रेम करो युवराज !"

"मैं नहीं समझता तुम्हारी बात तुम परिहास कर रही हो।"

"शुद्ध सत्य किया है प्रश्न मैंने तुम पर। नहीं समझोगे तुम अभी। जब अनुभव परिपक्व होगा तभी, तब तक नहीं।"

"मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।"

"तो कौन तुम्हें वारण करता है इससे ?"

"फिर तुम क्यों नहीं करतीं ?"

"वह हमारी वस्तु है। उसके लिये तुम्हारा हठ और आग्रह होना उचित नहीं है।"

"मैं अपने प्रेम की प्रतिध्वनि चाहता हूँ।"

"हमारे पास न मिलेगी वह।"

"फिर तुमने क्यों मुझे प्रेम सिखाया ?"

"हमने कहाँ सिखाया ?"

सुंदर थे वे दिन ! केवल मुग्धता ही था। सारा जगत् इस प्राचीर-मण्डल की ओट में था। इस राजभवन और उपवन पर मैं अपनी पलकें बिछा देता था। तुमने वह गीत मेरे मन के भीतर से निकालकर उसे मेरे सामने प्रतिष्ठित कर दिया।"

"क्या बुरा किया ?"

"कदाचित् वह मेरे वश में था, और तुम मुझसे दूर हो !"

मैत्री हँसकर कहने लगी—"दूर कहाँ हैं युवराज ! क्या तुम्हारी इच्छा पर ही हम सदैव गाती और नाचती नहीं हैं ?"

"तुम्हारे ऐसे विचार हैं, तो हम अभी जायँ।

सिद्धार्थ घबराकर बोला—"नहीं, ऐसा न करो।"

एक दिन सिद्धार्थ जब उपवन में अकेले ही थे। उन्होंने एक कोमल कंठ की चीत्कार सुनी। सरोवर की ओर से आई थी वह ध्वनि। दौड़कर उधर जाकर देखा, कमलिनी जल में छटपटा रही थी।

"बचाओ-बचाओ!" कमलिनी चिल्लाई।

"तुम्हारा स्पर्श!" सिद्धार्थ ने जल में धँसकर पूछा।

"हाँ-हाँ मुझे खींचकर बचा लो युवराज! मैं तुम्हारी आजन्म आभारी रहूँगी।"

सिद्धार्थ ने उसके हाथ पकड़कर उसे जल से बाहर खींच लिया—"कैसे गिर पड़ीं तुम जल में?"

"फूल तोड़ रही थी। पैर फिसल गया, उस सोपान पर काई जमी हुई थी।"

"अब क्या होगा?" सिद्धार्थ ने उसका हाथ पकड़े हुए ही कहा।

"कैसा क्या?"

"हमारा व्रत टूट गया!"

"कदापि नहीं।"

"क्यों? मैंने तुम्हारा स्पर्श कर तुम्हें तट पर खींचा।"

"नहीं युवराज मेरी ही इच्छा तो थी वह। मैंने तुमसे कहा न?"

"तो मैं अब अपनी इच्छा से पकड़े हुए हूँ तुम्हारा हाथ।"

सिद्धार्थ ने नहीं छोड़ा था उसका हाथ अभी तक।

"नहीं इस पर अभी मेरा ही अधिकार है।"

"फिर भी यह स्पर्श कितना कोमल और कमनीय प्रतीत हो रहा है। मेरी क्षमता है कैसे नहीं इस पर?"

"इस बार छोड़ देने पर फिर जब ग्रहण करोगे तब होगी।"

सिद्धार्थ ने फिर पकड़ने के लिये उसका हाथ छोड़ दिया। कमलिनी भाग गई दूर!

"कमलिनी!"

"नहीं युवराज! भैरवी देख लेगी।"

कमलिनी भाग गई!

सिद्धार्थ सोचने लगे— "ये पाँचों बहनें एक ही तत्त्व की बनी हुई हैं। ये प्रेम सिखाती हैं, पर प्रेम करने से भागती हैं।"

भैरवी आकर बोली—"क्या सोच रहे हो युवराज!"

"यही कि तुम प्रेम करना नहीं जानतीं!"

"तुम्हीं कहाँ जानते हो!"

"क्यों नहीं जानता मैं!"

"क्या इसी को प्रेम कहते हैं! कभी तुम मेरे प्रति अनुराग दिखाते हो कभी चित्रा के, कभी कमलिनी के कभी सुरभि के और कभी सुरुचि के। यह विभ्रम है भ्रमर की वृत्ति है इसका नाम प्रेम नहीं है।"

"फिर प्रेम किसे कहते हैं!"

"प्रेम सत्य को लेकर ही उज्ज्वल और विशुद्ध होता है।"

"प्रेम में सत्य का समावेश कैसे होता है!"

"अनेकता से नहीं, एकता से।"

"कैसी एकता!"

"केवल एक से ही प्रेम करना। केवल एक ही का चिंतन और उसी के लिये व्याकुलता!"

"नहीं भैरवी! मैं तो समस्त विश्व-संसार से प्रेम करना चाहता हूँ। उसमें जड़ जीव, पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, गिरि-कानन, नर-नारी, गृह-नक्षत्र सब सम्मिलित हैं। मैं इन सबसे प्रेम करना चाहता हूँ।"

"मैं नहीं समझ रही हूँ युवराज, तुम क्या कह रहे हो ?"

"क्या मैं तुम सबसे प्रेम नहीं कर सकता ?"

"क्रमशः ही तो वह व्यापक हो सकेगा । प्रारंभ में केवल एक को ही प्रिय समझना होगा युवराज ! एक ही से तो अनेक बनता है न ।"

"वह एक कौन है ? तुम ?"

"नहीं हममें से कोई भी नहीं ।"

"फिर ?"

"तुम स्वयं ही ढूँढ़ लाओगे उसे ।"

"कब ?"

"बहुत शीघ्र । उससे तुम्हारा विवाह होगा ।"

"विवाह क्या हुआ ?"

"वही एकता का बंधन है ।"

"पर मैं मुक्ति चाहता हूँ । चार दीवारों के बंदी सिद्धार्थ को तुम और एक प्राचीर में क्यों घेर देना चाहती हो ?"

"मुक्ति बंधन पर ही तो खड़ी है । जब बंधन ही नहीं, तो फिर मुक्ति कैसी ? बंधन से मुक्ति, मुक्ति से बंधन, तभी तो सृष्टि का चक्र पूरा होता है ।"

"तुम्हारा तर्क समझ में आता है मैत्री ! मैं विवाह करूँगा ।" सिद्धार्थ ने कहा ।

"वह एकता का बंधन है, पर वास्तव में उसके अनेकता है ।"

"सुंदर !"

"वही तुम्हारे एकांत की छाया-सहचरी होकर रहेगी । वही तुम्हारी इच्छा का पंथ अनुसरण करेगी युवराज ! हम तो अपनी इच्छा से चलती हैं अपनी ही आकांक्षा से स्थिर होती हैं, और फिर अपने ही विचार पर चल देती हैं ।"

'देख ही रहा हूँ तुम्हें इतने दिन से।' सिद्धार्थ ने हँसकर कहा।

"हम तुम्हें केवल प्रेम का मार्ग दिखाने आई हैं प्रेम कर नहीं सकती। प्रणय वही करेगी।"

"कौन ?"

"वही। आजन्म अर्द्धांगिनी बनाने की पवित्र शपथ लेकर जिसका पाणिग्रहण कर।"

"अर्द्धांगिनी ?"

'हाँ, नारी के आधे अंग से पूर्ण होता है वह। बिना आधा अंग उसे समर्पित किए उसका विचार स्थिर नहीं होता। बिना विचार स्थिर हुए मनुष्य की उन्नति नहीं होती।'

'आधा अंग कैसे समर्पित किया जायगा उसे ?' सिद्धार्थ ने पूछा।

"वस्तुतः समर्पण नहीं कर सकते तुम, विनिमय युवराज! अपने आधे अंग में नारी के आधे अंग की प्रतिष्ठा।"

"तुम्हारी बात समझ में नहीं आती मैत्री! विनिमय तो उन वस्तुओं का हो सकता है, जो हमारे अंग से भिन्न हैं। अपने अंग के एक भाग का दूसरे के अंग के एक भाग से कैसा विनिमय ?" युवराज ने पूछा।

"यह भाव-जगत् की बात है भौतिक उपक्रम केवल संकेत-मात्र है। अभी न समझ सकोगे तुम, देख भी न सकोगे। धीरे धीरे स्वयं ही समझ जाओगे युवराज! अभी तुम्हारा नारी-भाव सारे जगत् पर विकीर्ण है। शनैः-शनैः वह तुम्हारे मन में प्रतिष्ठित होगा, और वहाँ से फिर तुम्हारे अंग में ही। मन की बहिर्मुखी गति फिर अंतर्मुखी हो जायगी युवराज!"

"यह विचार का केवल नैसर्गिक है या लौकिक ?" युवराज ने पूछा—"तुम्हीं से किसका बनाया हुआ ?"

"दोनों में से कदाचित् किसी का भी बनाया नहीं। विधाता ने उसे स्वयं ही बनाया है, सरिता के मार्ग की भाँति।" भैरवी ने कहा।

युवराज के सोलहवें जन्म-दिन का उत्सव निकट आया। बड़े समारोह से वह मनाया गया। राज्य-भर के समस्त दीन-दुखियों को अन्न, वस्त्र और द्रव्य वितरित किया गया। राज्य के कर्मचारियों को, इष्ट-मित्रों को सुस्वादु भोज दिया गया। युवराज के दीर्घजीवन की कामना की गई, उन्हें बधाइयाँ दी गईं। देवी-देवताओं से उनके लिये प्रार्थना की गई, गुरुजनों से उनके लिये आशीर्वाद प्राप्त किए गए। नृत्य-गीत की अविराम धारा से सारा राजभवन परिप्लावित हो उठा!

राज्य के क्षत्रिय-वंश की समस्त सुंदरी कुमारियाँ निमंत्रित गईं। वे एक-एक कर युवराज के समीप उन्हें बधाई देने को आईं, और युवराज उन्हें एक-एक अशोक-भांड उपहार देते गए। जल से परिपूर्ण एक बर्तन था वह उसमें मंगल-सूचक एक-एक अशोक की मंजरी डाली गई थी, और एक-एक आभूषण भी रक्खा गया था।

पाँचों गीत कुमारियाँ घेरकर बैठी थीं राजकुमार को। वे बड़ी सावधानी से युवराज की एक-एक भाव-भंगि और एक-एक मुख-चेष्टा का निरीक्षण कर रही थीं।

अनेक सुंदरी राजकुमारियाँ युवराज के हाथों से उपहार ग्रहण कर चली गई थीं। कोई भी उनके भावों में परिवर्तन न कर सकी, किसी की ओर उनका ध्यान आकृष्ट न हुआ।

दो चार राजकुमारियों को तो युवराज ने आँख उठाकर देखा भी नहीं। विनत नेत्रों से ही उन्होंने गीत-कुमारी के हाथ से अशोक-भांड लिया और उसी प्रकार उसे राजकुमारियों को दे दिया।

शील-कुमारियाँ युवराज की इस उदासीनता को देखकर चक्कर में पड़ गईं!

और एक राजकुमारी आई—रूप-गर्विता। उसके चरणों के रव में उसकी मंजीर-ध्वनि डूबी हुई थी, उसकी छाया से ही घबरा उठा युवराज।

उसका ध्यान आकृष्ट करने के लिये मैत्री ने कहा—"युवराज!"

पर युवराज ने और भी अन्यत्र कर ली दृष्टि।

राजकुमारी ने अंग पर के समस्त आभूषण बजाकर हाथ जोड़े और कहा—'युवराज! मैं आपके जन्म-दिवस के लिये मंगल कामनाएँ लेकर आई हूँ। मैं आनुमा की राजकुमारी हूँ, मेरा नाम कांचनमाला है।' उसने अपने साथ की दासी के हाथ से फल और पुष्पों की भेंट लेकर सिद्धार्थ के समीप रक्खी।

कांचनमाला निस्संदेह अमित रूपवती थी। सिद्धार्थ उसे देखकर मुग्ध हो जायगा, ऐसा विश्वास लेकर वह आई थी। पर युवराज की विरक्ति देखकर उसके मुख-मंडल में चिंता की छाया पड़ गई! युवराज की उपेक्षा उसे गड़ने लगी। वह अभिमान के मद में पृथ्वी पर पैर पटकना ही चाहती थी कि—

युवराज ने उसकी ओर देखा। मंद मुस्कान के साथ कहा—'कांचनमाला! तुम परम सुंदरी हो। तुमसे अपने जन्म दिवस की बधाई पाकर मैं धन्य हुआ हूँ!

मैत्री ने जान-बूझकर कांचनमाला का उपहार रख लिया अपने पास कि युवराज उससे बातचीत करे। उसने बातचीत का सिरा आगे बढ़ाने को पूछा—'कांचनमाला! आनुमा-राज्य किधर है?'

कांचनमाला बोली—'कपिलवस्तु की सीमा पर ही। अनोमा-नदी के इस पार। उधर फिर मल्लराज्य की सीमा है!"

सिद्धार्थ बोला—"परंतु कांचनमाला! इन सेनाओं में मेरे लिये कुछ भी परिचय नहीं है। इन सात प्राचीरों के भीतर का बंदी एक राजकुमार! संसार से सर्वथा अनभिज्ञ है। ऊपर नील आकाश, नीचे हरित धरती का एक टुकड़ा, जिसके चारों ओर दिशाओं को अपनी सुदृढ़ ऊँचाई में छिपाए हुए ये शिखाखंड—इन्होंने मुझे अंधा नहीं बना रक्खा है क्या?"

कांचन मृदु स्वर में बोली—"आप शाक्य-वंश के परम उज्ज्वल नक्षत्र हैं। बड़ी साध और आकांक्षाओं के बीच में आपका लालन-पालन हुआ है। आप भावी महाराज हैं। साधारण मनुष्य की भाँति आप ऊँची-नीची धरती पर विचरण नहीं कर सकते। समस्त प्रजा आपके दर्शनों को आती है। आपको कहीं आने-जाने की क्या आवश्यकता है?"

"अनोमा-नदी! तुमने कब इसका नाम सुना था मैत्री!" सिद्धार्थ ने मैत्री की ओर देखा।

"नहीं राजकुमार! मैंने कभी नहीं किया उसका उल्लेख। मैं तो आज ही सुन रही हूँ उसका नाम।" मैत्री ने कहा।

"अचिरावती से एक शाखा कटकर हमारे उपवन से होकर बहाई गई है। सुनता हूँ, नदी उससे बहुत बड़ी होती है।" सिद्धार्थ ने कहा।

"हाँ युवराज।" मैत्री ने कहा।

सिद्धार्थ ने अशोक-मौर के लिये उसकी ओर अपना हाथ बढ़ाया।

"ठहरो युवराज, कांचन प्रियभाषिणी है। यह अभी कुछ देर और आस्वाद करने के योग्य है।" मैत्री बोली।

"हाँ कांचन, एक बात बताओ। इन पाँचों शब्दों ने मेरे सीमित ज्ञान में बड़ी-बड़ी विचित्र बातें भर दी हैं। ये कहती हैं, अशोक

...ा एक सुन्दरी नारी की ठोकर से मंजरित होता है। तुमने कभी ठुकराया है उसे?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"हाँ युवराज! पर मैं निश्चित रूप से नहीं कहती, वह मेरी ठोकर से खिला!" कांचन बोली।

"क्यों?"

"हमारे उपवन में एक और भी फूलों से भरा अशोक दिखाई दिया मुझे, जिस पर कभी मेरी छाया भी नहीं पड़ी थी।" कांचन ने कहा।

"उस पर किसी और की ठोकर पड़ी होगी।" उत्पला ही खिलकर बोल उठी।

"इस बार अब मैं एक अशोक का पौधा अपने हाथ से उपवन के एक गुप्त स्थान में लगाऊँगा, जहाँ इन कुमारियों का दर्शन न होने दूँगा उसको।" सिद्धार्थ ने हँसकर कहा।

"जब वह खिल जायगा तो मैं भी उसे देखने जाऊँगी युवराज!" अपने हाथ के एक कंकण को दूसरे हाथ से घुमाती हुई कांचन बोली।

"यदि खिल गया, तो अपना अभिमान छोड़ दोगी न?" सिद्धार्थ ने सहज भाव से कहा।

पर कांचन को यह सहन न हुआ। उसने भ्रू-युगल में संकुचन कर कहा—"अभिमान कैसा युवराज?"

मैत्री बोल उठी—"यही कि नारी की ठोकर पाकर खिलता है अशोक।"

"तुम्हारी स्वामी की शरीर-यष्टि शीघ्र ही घर लौट जाने के लिये व्यग्र हो रही है बार-बार कांचन! जाना ही चाहिए तुम्हें अब। मैत्री! अशोक-भाव छोड़ो न।" सिद्धार्थ ने मैत्री की ओर मुड़ कर कहा।

मैत्री ने विरक्ति के भाव से अशोक-भांड युवराज को दिया। कांचनमाला उसे ग्रहण कर चली गई।

"अप्रतिम सौंदर्यशालिनी है कांचन युवराज! तुमने ध्यान ही नहीं दिया। वह तुम्हारे प्रेम के लिये है।" मैत्री बोली— 'क्यों चित्रा?'

"इसमें संदेह नहीं कुछ।" चित्रा ने प्रत्युत्तर में कहा।

'जब रूप का अभिमान हो गया, तो रूप कहाँ रहा!" सिद्धार्थ ने कहा।

'सभी वस्तुएँ पूर्ण मात्रा में एक ही स्थान पर नहीं मिलतीं। अधिक चयन की वृत्ति स्वभाव का दोष है।"

"प्रेम करने के लिये दूसरे में भी तो प्रेम चाहिए। तुम्हीं ने एक दिन बताया था।" "एकांगी प्रेम प्रेम नहीं। बल-पूर्वक किया हुआ प्रेम चिरस्थायी नहीं होता।" सिद्धार्थ ने कहा—"तुम्हारा और मेरा प्रेम इसीलिये तो नहीं हुआ। तुम आकर्षक करती हो आकर्षित नहीं होतीं।"

'शाक्य-वंशी जाति के बाहर विवाह नहीं करते युवराज, और इसे जाति के भीतर भी यह संबंध स्वीकार नहीं। तुम तो केवल तर्क-लिप्त हो उठे हो। चित्रा, जा देख, कितनी राजकुमारियाँ अभी और शेष हैं। अशोक-भांड कम तो नहीं पड़ जायँगे?" मैत्री ने कहा।

चित्रा ने कहा—"जाकर देखती हूँ। राजभवन के सब भांड यहीं से आते हैं दासियाँ।" चित्रा चली गई।

एक और राजकुमारी आई और उपहार लेकर विदा हुई।

चित्रा ने लौट आकर कहा—"दस राजकुमारियाँ शेष हैं अब केवल। दो अशोक-भांड कम हैं, दासी ला रही है।"

एक-एक कर वे दसों राजकुमारियाँ भी अपने-अपने उपहार लेकर चली गईं, और सिद्धार्थ के मन में कोई भी अपने पंख न खोल सकी।

अंतिम राजकुमारी के जाने पर भैरवी ने कहा—"युवराज, तुम किस शिला-पाषाण का हृदय छिपाए हुए हो। सुंदरी राजकुमारियों की पूरी सेना तुम्हारे आगे से होकर निकल गई। किसका रूप, यौवन, गुण शील तुम्हारे चितवन का कारण बना? बताओ न।"

"किसी का भी नहीं।"

"फिर क्या होगा?" भैरवी ने आकाश की ओर देखकर कहा।

"कैसा क्या?"

"तुम्हारा विवाह?"

"जाने दो उसे। मैं केवल तुमसे प्रेम करूँगा।

"हमें अपना देश छोड़े बहुत दिन हो गए। हम नित्य एक ही स्थान में नहीं रह सकतीं युवराज! तुम्हारे विवाह तक यहाँ रहने की प्रतिज्ञा की है हमने।" भैरवी ने कहा।

"यह कौन आ रहा है?" सिद्धार्थ ने उपवन की ओर संकेत कर दिखाया—"इसी ओर साथ में दो दासियाँ भी हैं। कैसी मंद गति से। आँखें धरती में गड़ी हुईं, जैसे कुछ खोज रही हैं!"

भैरवी कहने लगी—"एक राजकुमारी और शेष रह गई क्या? चित्रा! तूने गिनती में भूल की।"

"नहीं तो, यह कहीं और जगह बैठी होगी।"—चित्रा बोली।

सिद्धार्थ उसकी ओर ऊपर देख रहा था। राजकुमारी उसी ओर आ रही थी।

भैरवी ने चुपचाप चित्रा को कुछ दूर ले जाकर उसके कान में कहा—"इस बार बंधन में आ पड़े युवराज कदाचित्!"

चित्रा ने हँसते हुए भैरवी के हाथ-पर हाथ रखा—"हाँ-हाँ, निस्संदेह!"

"मैं समझती थी इतने दिनों का रचा हुआ यह जाल व्यर्थ ही गया!"

श्रावस्तीवाली राजकुमारी सिद्धार्थ के बहुत निकट आ पहुँची थी। दोनों बहनें सिद्धार्थ के निकट और बहनों के साथ मिल गईं। चित्रा ने सबको संकेत में भैरवी का कहा हुआ रहस्य बता दिया।

राजकुमारी सिद्धार्थ के सामने कुछ दूरी पर रुक गई। उसके दोनों हाथ कुछ जुड़े हुए और कुछ छूटे हुए उसके वक्ष-देश पर स्थित थे। वह अपनी नीची दृष्टि से गरदन गिराकर भूमि पर कुछ भी नहीं देख रही थी।

उसकी भेंट लेकर उसकी दासी युवराज के निकट बढ़ी—"महाराज देव —"

युवराज ने उसे आगे कुछ कहने नहीं दिया—"नहीं दासी, तुम चुप रहो। सब राजकुमारियों ने अपना परिचय स्वयं ही दिया है। पिता के नाम और यश के वर्णन में कैसी लज्जा। मैं यह भेंट भी जिसकी है, उसी के हाथ से ग्रहण करूँगा।"

दासी खिसियाती-सकुचाती भेंट की थाली लेकर राजकुमारी के पास चली गई।

सुरभि ने हाथों से संकेत कर, युवराज की ओर में भैरवी से कहा—"अयाक-मोह!"

भैरवी ने एक हाथ से उसकी बाँह पकड़कर, दूसरे हाथ की उँगली से अपने अधर-सम्पुट दबाकर कहा—"चुप रह!"

दासी ने जाकर राजकुमारी की ओर थाली बढ़ाई, कहा—"लो राजकुमारी यह अपनी भेंट स्वयं ही जाकर दो।"

राजकुमारी अत्यंत संकोच में गड़ गई।

दासी ने कहा—"घर से इतनी दूर तो आई हो राजकुमार दर्शन के लिये। समीप आकर न-जाने क्या अब आगे जाती हो कितनी देर से तुमसे चलो-चलो कह रही थी। सब राजकुमारियों

जाने के पश्चात् बड़ी कठिनता से अब आई हो । अब भी क्या कैसा संकोच हो गया तुम्हें ! बोलो अपनी बाली ।'

"कुछ नहीं स्वामी ।" कहकर राजकुमारी ने अपने हाथों के आभूषण ठीक किए, अंग पर का वस्त्र सँभाला – 'राजकुमार किस ओर देख रहे हैं ?'

"तुम्हारा विलंब अवश्य ही उनके कौतूहल को बढ़ा देगा ।' दासी ने कहा ।

कमलिनी से उस राजकुमारी का संकट न देखा गया । वह द्रवीभूत हो उठी । राजकुमारी के पास तुरत ही दौड़ी हुई चली आई । बड़े प्रेम और चिरपरिचय के भाव से उसने उसकी पीठ पर हाथ रखकर कहा—"क्या बात हो गई बहन ! कुछ भूल आई हो क्या ?'

'नहीं । साहस में भरकर राजकुमारी बोली ।

"मैं ले चलूँगी तुम्हारी भेंट । चलो युवराज तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।" कमलिनी ने दासी के हाथ से थाली ले ली । दूसरे हाथ से उसे सहारा देकर ले चली वह ।

अपलक-विहीन नयन और निमि-विहीन नेत्रों से युवराज उस राजकुमारी को देख रहा था । उसके रूप और शील ने सिद्धार्थ के हृदय में अधिकार कर लिया यह स्पष्ट प्रकट हो गया ।

युवराज के निकट पहुँचकर कमलिनी ने थाली राजकुमारी को देकर कहा—"लो, अपने करों से ही समर्पित करो ।"

राजकुमारी ने काँपते हुए हाथों से वह भेंट सिद्धार्थ के चरणों पर रखी ।

'कुछ कहो भी तो ।" भैरवी बोली ।

विनत-मस्तक राजकुमारी ने कहा—"जन्म-तिथि के राजकुमार के लिये—'

पाँचों बहनें अट्टहास कर उठीं ।

सिद्धार्थ की तन्मयता भंग हुई—"क्या हुआ ?"

भैरवी ने कहा—"जन्म-तिथि के राजकुमार या राजकुमार की जन्म-तिथि ! घबराओ नहीं राजकुमारी । यहाँ कोई भी बाहरी व्यक्ति नहीं है ।"

राजकुमारी बड़ी कठिनता से फिर बोली—"यह मेरी वधु भेंट है ।"

"कौन हो तुम ?"

"महाराज दंडपाणि की कन्या हूँ ।" उसकी दबी हुई वाणी और भी मधुर हो उठी ।

"तुम्हारा क्या नाम है ?"

"मुझे यशोधरा कहते हैं ।"

"य-शो-ध-रा ! क्या सुंदर नाम ! मुख ऊपर करो यशोधरा ! तुम्हें किस बात का संकोच हो रहा है ?"

यशोधरा ने मुख ऊपर किया । उसके आरक्त कपोलों ने उसकी कांति बढ़ा दी ।

पाँचों बहनें परस्पर कानाफूसी करने लगीं । उन्होंने यशोधरा की दासी को भी अपने साथ बुला लिया ।

"मुझे बड़ी देर से जल की प्यास लगी है ।" कहकर सुरभि वहाँ से चल दी ।

"मुझे भी तो ।" कहकर सुरति ने उसका अनुसरण किया ।

रुक्मिणी बोली—"मैंने अपनी चोटी धूप में सुखाने के लिये डाली थी, उसे सँभाल आती हूँ ।" वह भी गई ।

भैरवी ने कहा—"अशोक-मोद नहीं है । देखती हूँ जाकर । कहीं एक मिल जाय, तो काम चले ।"

"मैं भी चलूँगी । मैं अशोक की मंजरी तोड़कर ले आऊँगी उसके लिये ।" चित्रा ने कहा ।

"दासी ! आओ तुम भी । हम तुम्हें अपना निवास दिखा आवेंगी ।" भैरवी ने दासी के कान में कहा ।

दोनों भी चली गईं । सिद्धार्थ और यशोधरा उन दोनों में से किसी को भी ज्ञात न हुआ ।

"यशोधरा ! मैं तुम्हारे यहाँ कभी नहीं आया । तुम पहले भी कभी यहाँ आई थी क्या ?"

"नहीं, युवराज !" उसने फिर दृष्टि नीची कर ली ।

"फिर तुम प्रिय और परिचित-सी दिखाई दे रही हो । कहीं देखा तुम्हें ?"

"मैं नहीं जानती ।"

"फिर क्यों मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि तुम आज बहुत दिनों में मिली हो मुझे । सुरभि ! तुम कहती थीं—"युवराज ने सुरभि की ओर दृष्टि घुमाई ।"

—मैं भी तो न था यहाँ ।

र्थ ने कहा—"तुम सब चले गए क्या ? क्यों ?'

शोधरा घबराकर बोली—"मेरी दासी भी चली गई !'

"क्यों, तुम भयभीत क्यों होने लगीं ? फिर सिद्धार्थ अप

बातों में शक्ति भी रखता है !"

'दासी ! दासी ! यशोधरा ने ऊँचे स्वर में पुकारा ।

'मैं कहता हूँ, इतना अधीर होने की क्या पड़ी है ।

"लोग क्या कहेंगे ? युवराज !"

"किसलिये ?"

"हमें यहाँ एकांत में देखकर ।"

"मैं नहीं समझा यशोधरा तुम्हारी बात । इतनी

राजकुमारियों में तुमसे बड़ी देर तक बातें करने की इच्

मैं नहीं जानता, मेरे मन में क्यों ऐसा विचार है ।"

सुरभि चिन्ता के साथ छुप-छिपकर आती है, और एक बड़ा कुञ्ज की ओट से उनकी बातें सुनने लगती है।

"युवराज, मुझे एकांत में असहाय पाकर आपको बहुत संयम पूर्वक मुझ बोलना चाहिए।"

"क्यों?"

"हमारे शील को आघात न पहुँचे।"

"मैं इस एकांत का अधिक समय पीत-कुमारियों के साथ ही व्यतीत करता हूँ। मैंने कभी कोई बात उनसे नहीं कही, जिससे उनके शील को आघात पहुँचा हो।"

"दासी! दासी! यशोधरा ने फिर विह्वल होकर पुकारा।

"मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।"

"नहीं, मैं कुछ न सुनूँगी।" कहकर यशोधरा वहाँ से जाने लगी।

युवराज आसन छोड़कर उठ गया—"मैं तुम्हारा हाथ पकड़कर तुम्हें रोक लूँगा।

"नहीं युवराज तुम मेरा अंग-स्पर्श नहीं कर सकते!"

"क्यों?"

"क्यों कि वह पाप है।"

"पीत-कुमारियाँ भी मुझे वर्जित करती हैं। पर उन्होंने इसे पाप की संज्ञा नहीं दी। पाप किसे कहते हैं यशोधरे?" सिद्धार्थ ने कौतूहल के साथ पूछा।

"दासी! दासी!" भय के स्वर में यशोधरा ने पुकारा।

"क्या हुआ! क्या हुआ!" कहती हुई मैत्री दौड़ी हुई चिन्ता के साथ—"क्या हुआ! तुम इतनी डरी हुई-सी क्यों हो गई हो?"

यशोधरा चुप रही। पर उसे धैर्य प्राप्त हो गया था और उसका भय चला गया था।

मैत्री ने सिद्धार्थ की ओर देखा—"क्या हुआ युवराज!"

"कुछ नहीं भैरवी! राजकुमारी अपने आप हँसने लगीं, मैं नहीं जानता, क्यों।"

"तुमने कुछ कह दिया?" भैरवी ने पूछा।

"केवल यही कि यशोधरा तुम अत्यंत सुंदर हो मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। तुमने बताया था प्रेम विश्व-विजयी मंत्र है।"

भैरवी ने हँसते हुए कहा—"राजकुमारी, यह तो कोई भय की बात नहीं है।"

"दासी कहाँ गई मेरी?"

"जल पीने गई है, लौटकर आती ही होगी।"

"भैरवी! तुमने कहा था, इन राजकुमारियों में से मैं जिसका चाहूँ, उसका हाथ पकड़ सकता हूँ।"

भैरवी बोली—"तुम बड़े चपल हो गए हो राजकुमार! पहले ऐसे नहीं थे। राजकुमारी का हाथ पकड़ने चल उठे तुम?"

"हाँ।" सिद्धार्थ ने सामान्य भाव से कहा।

"तभी तो।" भैरवी ने कुछ अनुमान किया।

राजकुमारी मुख फिराकर खड़ी हो गई थी।

भैरवी बोली—"पहले तुम्हें राजकुमारी से विवाह करना होगा। उसे सुख-दुःख की चिर-सहचरी बनाने की पवित्र प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी।"

"अच्छी बात है।"

"इसी का नाम विवाह है।"

"मैं प्रस्तुत हूँ। परंतु प्रेम?"

"यह प्रेम का सुदृढ़ बंधन ही तो विवाह है।"

शेष गीत-कुमारियों के साथ यशोधरा की दासी भी आ पहुँची।

यशोधरा ने धीरे-धीरे कहा उससे—"तू बिना मुझ पर अवगत किए ही कहाँ चली गई थी, दासी!"

"जल पीने। वहाँ से सारथी से रथ प्रस्तुत करने के लिये कह आई।"

"आज यहीं रहोगी राजकुमारी।" भैरवी ने कहा।

"नहीं। माता-पिता चिंतित हो जायँगे। क्योंकि आज ही लौट आने के लिये कहा है।" यशोधरा ने कहा।

"युवराज!" भैरवी ने सिद्धार्थ की ओर मुड़ कर कहा।

"क्या है भैरवी!" सिद्धार्थ ने अपने विचार में यति देकर कहा।

"राजकुमारी विदा चाहती है। किंतु इन्हें तुम उपहार में क्या दोगे? अशोक-भांड सब समाप्त हो गए।'

"कोई चिंता नहीं मैं इन्हें अपना हृदय उपहार में देता हूँ।"

यशोधरा ने साहस कर मुख खोला—"यह केवल एक कोरी कल्पना है युवराज! सब राजकुमारियाँ आपसे उपहार लेकर ही गई हैं। मुझे रिक्त हाथ लौटते हुए देखकर वे सब क्या कहेंगी? माता-पिता ने यदि यह मेरी अवमानना समझी तो?"

भैरवी बोली—"ठीक बात है। मैं ढूँढकर ले आती हूँ एक।"

सिद्धार्थ ने अपनी उँगली से अँगूठी निकाल ली थी—"इसे ली दो। उस हृदय-भांड को सामरस्य करने के लिये लो राजकुमारी, यह मेरी अँगूठी।

राजकुमारी यशोधरा ने सहर्ष उस उपहार को ग्रहण किया।

"और भी लो।" सिद्धार्थ अपने गले से रत्नहार निकालने लगा।

"नहीं युवराज! मुझे आपको अलंकार-विहीन करने का लोभ नहीं है। और कुछ नहीं चाहिए मुझे।"

भिक्षा कहने लगी—"हमारे राजकुमार का हृदय लेकर जो तुम यह जा रही हो, बड़े यत्न से इसकी रक्षा करना राजकुमारी!"

यशोधरा सकुचाकर जाने लगी।

"अभी कुछ कह सकूँगा यशोधरा!" कहकर सिद्धार्थ कुछ सोचने लगा। पर उसके मुख से एक भी शब्द न निकला।

कुछ समय बीत गया। सब निस्तब्ध रहे।

दासी ने कहा—"चलो राजकुमारी, देर हो रही है।"

राजकुमारी बोली—'चलो।'

दोनों चली गईं। सिद्धार्थ ऐसे गहरे विचार में पड़ गया था कि उसे भान ही न रहा यशोधरा उसके समीप ही खड़ी है या चली गई।

कुछ दूर जाकर यशोधरा रुक गई—"कुछ भूल तो नहीं आई दासी!"

"मैं नहीं जानती।"

यशोधरा ने सिद्धार्थ की ओर देखा—"नहीं, कदाचित् कुछ भी नहीं।"

दासी ने कहा—"लोग भी कैसा कहते हैं। मुझे तो युवराज अत्यंत सुंदर जान पड़े।"

यशोधरा ने फिर लौटकर युवराज को देखा, उसी प्रकार स्थिर थे वह।

पाँचों बहनों ने परस्पर संकेत कर पुकारा—"मालवी की जय!"

यशोधरा अपनी सखी के साथ ओट में चली गई थी।

सिद्धार्थ का ध्यान टूटा उस विजय-ध्वनि से—'यशोधरा चली गई?' उसने विरह-व्यथित वाणी से पूछा।

हँसकर गीत-कुमारियों ने कहा—"हाँ।" उन्होंने फिर मिलकर जय घोष किया—'मालवी की जय!'

"मालवी की जय!" सिद्धार्थ ने पूछा, फिर स्वयं ही उत्तर दिया—"भैरवी की जय!"

"भैरवी मानवी नहीं है युवराज !" भैरवी ने कहा—"अब अपना निर्णय दो युवराज। सबसे सुंदर, सर्वांग-सुंदर राजकुमारी कौन लगी तुम्हें ?"

"मैं नहीं बताऊँगा।"

"तुमने मान लिया।" भैरवी बोली।

गीत-कुमारियाँ गाने लगीं—

मानवी तुम्हारी जय हो।
अमर वंदिनी इस शिखर में प्यारे मानव की जय हो।
हो रहस्य-सी छिपे आवरित, रूप तुम्हारा परिचय हो।
सदा अमर रहो स्वामिनी, निःसंशय निर्भय हो।
मानवी तुम्हारी जय हो।



७ सुवर्ण पिंजर

सिद्धार्थ यशोधरा के साथ विवाह करने के लिये सम्मत हो गया। शीघ्र ही महाराज शुद्धोदन ने दण्डपाणि के पास यह संदेश भेजा कि वह अपनी सौभाग्यवती कन्या का विवाह युवराज सिद्धार्थ के साथ कर दें। पर महाराज दंडपाणि ने कहला भेजा—"शाक्य-कुल ने सदैव वीरता को मान दिया है। हम नहीं जानते, युवराज शस्त्र-कला-पारग हैं या नहीं। शीघ्र ही राजकुमारी यशोधरा के स्वयंवर का आयोजन हो रहा है। हम युवराज को निमंत्रित करेंगे। यदि उन्होंने अन्य प्रतिद्वंद्वी राजकुमारों के बीच में अपनी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध की तो यशोधरा निस्संदेह उनका वरण कर अपने को धन्य समझेगी।"

हंस की उस दिन की घटना के पश्चात् राजकुमार देवदत्त कदा-चित् फिर नहीं गया कभी सिद्धार्थ के राजभवन में। सिद्धार्थ के लिये प्रतिहिंसा प्रज्वलित कर ली उसने अपने हृदय में।

उस दिन यशोधरा की स्वयंवर-सभा में मिला वह सिद्धार्थ को।

सिद्धार्थ ने बड़े प्रेम-भाव से उसके निकट जाकर उसका हाथ पकड़-कर कहा—"भाई, आज बहुत दिनों में तुम्हारे दर्शन हुए।"

"आज इस सभा में तुम्हें देखूँगा मैं सिद्धार्थ! मंत्रागार में केवल पक्षपात की सहायता से तुमने मेरा आखेट हथिया लिया।" हाथ छुड़ाकर देवदत्त बोला।

"मैंने बचा लिया उस हंस को राजकुमार! तुम अभी तक उस घटना को नहीं भूल सके!"

"मैंने तभी तुम्हें सावधान किया था। क्या यह भूल जाने की बात है? आज इस सभा में तुम्हारा कोई पक्षपात नहीं करेगा। राजकुमारी यशोधरा के वरार्थी होकर आए हो तुम यहाँ? वीर-कुमारियों के बीच में क्या कभी धनुष-बाण का भार भी उठाने का अवसर मिला तुम्हें?"

"मैं क्या कहूँ राजकुमार!" बड़ी नम्रता से सिद्धार्थ ने कहा—"तुम्हारे शब्दों में इतना कटु व्यंग्य क्यों है?"

"आज कपिलवस्तु की सातों दीवारें खुल गईं क्या तुम्हारे लिये? आँखों में पट्टी बाँधकर आए होगे रात में। यहाँ भी देखता हूँ, इस स्वयंवर की सभा में तुम्हारी रुचि के लिये पूरा-पूरा प्रबंध किया गया है। पर यशोधरा को विजित कर के नहीं जा सकते तुम।" देवदत्त ने कहा।

उसकी बातों का अभिप्राय समझ में नहीं आया युवराज के। वह चुप रहा। और गया देवदत्त के पास से।

स्वयंवर-सभा में राजकुमारों की वीरता का प्रदर्शन आरंभ हुआ। देवदत्त के शस्त्र-कौशल की सारी सभा प्रशंसा करने लगी। सिद्धार्थ सबके अंत में परीक्षा देने के लिये उठे। उन्होंने देवदत्त के समस्त प्रदर्शन उससे भी अधिक दक्षता से कर दिखाए। उसके अतिरिक्त और भी अनेक बातें कर दिखाईं, जिससे सारी सभा चकित रह गई। यशोधरा ने आनंद में भरकर सिद्धार्थ के गले में वरमाल डाल दी। देवदत्त चोर की भाँति अपना दर्प-भरा मस्तक छिपाकर न-जाने किस समय वहाँ से खिसक गया।

यशोधरा का सिद्धार्थ से विवाह हुआ वह कपिलवस्तु में आई। प्रेमी वर, गुण और श्री-संपन्न वधू थी यशोधरा कि समस्त राजभवन जगमगा उठा उसकी ज्योति से। सब लोग युवराज के इस जोड़े को मणि-कांचन-संयोग कहने लगे। यशोधरा ने अपने स्व-

द्वार से लेकर संबंधियों, दास-दासियों, सभी को विमोहित कर लिया। यही क्यों, पशु-पक्षी भी उसके प्रेम में पग गए।

और सिद्धार्थ! सिद्धार्थ के जीवन-परिधि की वह केंद्र बन गई। उनके समस्त विचार और कर्म की यशोधरा पुण्य प्रेरणा बन गई। उसी के रूप और ध्यान में युवराज निमग्न रहने लगा। वह शील-कुमारियों को भी भूल गया! वे सब-की-सब उसे यशोधरा में विलीन हुई मिल गई।

विवाह के पश्चात् ही चारों निमित्तों का रहस्य उस पर प्रकट कर दिया गया। उसको कई बार सावधान कर दिया गया कि वह उनकी चर्चा युवराज से न करे।

यह भ्रम यशोधरा को बड़ा भार प्रतीत होने लगा। युवराज जब कभी यौवन के प्रकाश में जरा की छाया देखने लगता, जीवन के रस में मरण के विष की कल्पना करने लगता, तब यशोधरा को उसे बड़े कौशल से छिपाना पड़ता। बहुधा झूठ बोलना पड़ता। इस झूठ का कभी क्या फल होगा, इसे सोचकर वह चिंता में पड़ जाती।

यशोधरा को पाकर राजभवन के भीतर और बाहर, दोनों स्थानों में सिद्धार्थ का मन रम गया। इन चार दीवारों के बाहर कुछ है भी या नहीं, यह जिज्ञासा उसकी तिरोहित हो गई।

उस दिन युवराज यशोधरा के साथ उपवन में बैठे हुए थे।

'इसी आम्रकुंज की छाया में यशोधरे! मैं प्रभात और संध्या की संधि पर बैठा था। मन में अनेक चिन्ताओं के बादल उदित होते थे। एक के पश्चात् दूसरा, कोई अंत ही नहीं था उनका। किसी तर्क और किसी ज्ञान से मैं उन पर विजय पा ही नहीं सकता था। शील-कुमारियों ने अवश्य मेरे मन को कुछ स्थिर किया, पर वे मेरी आशंका का लेकर उड़ जाती थीं। मैं कभी उनके ओर

कोई न पा सका। तुम्हें पा जाने से ऐसा जान पड़ता है, जैसे मुझे सब कुछ मिल गया। सारे अभाव परिपूर्ण हो गए।"

यशोधरा को यह स्तुति अखरने लगी। उसने बात टाल देने के लिये कहा—"गीत-कुमारियाँ कहती हैं, उनका कार्य पूरा हो गया।"

"हाँ, उन्होंने तुम्हारी प्रतिष्ठा के लिये मेरे हृदय में आसन बनाया है।"

"वे अब शीघ्र ही अपने देश को चली जाना चाहती हैं।"

'तुम्हारे अस्तित्व तक उनका अभाव कुछ ज्ञात न होगा, पर उनका पुण्य-गीत स्मृति का परमोज्ज्वल धन होकर रहेंगे।'

'वे यहाँ और भी बहुत दिन तक क्यों नहीं रहतीं?"

'उन पर हमारा कोई वश नहीं है प्रिये! वे किसी भी सांसारिक लोभ को नहीं रखतीं। हमारे मणि-मुक्ता उनके गले में बंधन नहीं डाल सकते। वे अपनी ही इच्छा से विचरती हैं। उन्हें कोई रोक नहीं सकता। और, तुम्हें विवाह के बंधन में बाँध लिया है मैंने। तुम कहीं जा नहीं सकतीं।'

यशोधरा मुसकराते-मुसकराते उदास हो गई!

"क्यों-क्यों, तुम क्यों चिन्ता में पड़ गई?"

चारों निमित्त यशोधरा के मन में दिखाई देने लगे। उसे ज्योतिषीजी की भविष्य-वाणी स्मरण हुई—"यही तो युवराज स्त्री-पुत्र, पिता-माता राज सुख, सबको त्यागकर वनवासी हो जायगा।

सिद्धार्थ ने फिर पूछा—"यशोधरे?"

"नहीं युवराज! कुछ नहीं।"

"निस्सन्देह तुम्हारे मन में कोई चिन्ता उमड़ पड़ी है। तुम्हें उसे बताना चाहिए मुझे। बताओ।"

"मैं तुम्हारी सेविका हूँ युवराज! तुम्हारी शरण छोड़ने का विचार

भी मेरे लिये भयानक नरक के समान है, पर !" यशोधरा चुप हो गई। उसके दोनो नेत्रों के कोने सजल हो गए।

"फिर मुख क्यों मलिन पड़ गया तुम्हारा ?" आश्वासन देते हुए उसके कंधे पर हाथ रखकर युवराज ने पूछा।

"प्रियतम !" उसका कंठ रुद्ध हो गया।

"कौन सा भय व्यापने लगा तुम्हें ? कहती क्यों नहीं।"

"प्रियतम ! तुम ?—

"कहो, कहो।"

"तुम न त्यागोगे मुझे।"

"क्यों—क्यों त्यागूँगा तुम्हें। क्या मैंने विवाह के मंडप में सदैव तुम्हारा होकर रहने की प्रतिज्ञा नहीं की है। मुझे उसको दुहराने की फिर आवश्यकता ही क्या है। तुम्हें मेरा विश्वास होना चाहिए

वह कुछ धैर्यवती प्रतीत होने लगी।

"वह देखो, भैरवी चली आ रही है, गुनगुनाती हुई इसी ओर। इन्होंने तुम्हें अनेक गीत सिखा दिए हैं। अब जब यह चली जायँगी, तो—'

भैरवी निकट आकर चुपचाप मृदु मुसकान अपने अधर और कपोलों पर लेकर अपनी चर्चा सुनने लगी।

सिद्धार्थ कहते जा रहे थे—'तुम इनके अभाव में इनके गीत गाओगी। और मैं समझूँगा भैरवी यहीं किसी आम्र-कानन में छिप गई है।'

"अच्छा यहीं तो युवराज हमारी विदाई के लिये प्रस्तुत होकर बैठे हैं। मैं सोचती थी, युवराज से कैसे कहूँ कि अब हम जाना चाहती हैं।"

"जब तुम हमारी वशवर्तिनी नहीं हो तो हमारे कुछ कहने से काम ही क्या ? महाराज हमारे लिये षड्ऋतुओं के अनुकूल तीन

प्रमोद-भवन बना रहे हैं। उनके बन जाने के पश्चात् आतीं, तो कैसा होता ?"

"हमें इस अनुकूलता में प्रतिकूलता का अनुभव होता है। हमें प्रकृति का संसर्ग ही अधिक प्रिय है। इसीलिए हमें तुमसे बाँधती है। भगवान् ने तुम्हारे रुचि के अनुसार वधू तुम्हें दी है। हमारी अब वहाँ कोई आवश्यकता नहीं है युवराज !"

अब फिर कब आओगी ?"

"अब क्यों आने लगीं यहाँ।"

"कभी नहीं ?"

भैरवी कुछ सोचने लगी—'कदाचित्।" उसने आगे कुछ नहीं कहा।

"कदाचित् कब ?" युवराज ने पूछा।

"हम पाँचों बहनों ने अपने-अपने विशेष गुणों से युवराज्ञी को विभूषित किया है। मैंने उन्हें गीत सिखाए हैं। चित्रा ने उन्हें रूप का रहस्य दिया है। कमलिनी ने कोमल स्पर्श सुरभि ने गंध दी है। सुरुचि ने उन्हें पाक-शास्त्र की शिक्षा दी है। इन पाँचों गुणों में हमारी उपस्थिति है युवराज ! यदि किसी दिन तुमने इन पाँचों गुणों की उपेक्षा कर दी तो उस दिन फिर आना पड़ेगा हमें।"

युवराज हँसने लगे—' किसी प्रकार आने की प्रतिज्ञा तो की तुमने।"

"यशोधरा को आदर और प्रेम से रखना युवराज !

सिद्धार्थ हँसने लगे। यशोधरा ने मुँह छिपा लिया।

नियत तिथि को वे पाँचों बहनें विदा हो गईं अपने देश को। महाराज केवल वाणी और भाव से ही उनकी अभ्यर्थना कर सके। उन्होंने पारिश्रमिक या भेंट के रूप कोई भी पदार्थ स्वीकार नहीं किया।

यशोधरा को गीत-कुमारियों के चले जाने पर कई दिन तक बड़ी शून्यता प्रतीत हुई, पर सिद्धार्थ को यशोधरा की सहचारिता से कुछ अनुभव न हुआ।

जीवन और जगत् में युवराज को जो दृष्टि का दूसरा सिरा दिखाई देने लगा था, उस पर रूप का आवरण पड़ गया। संचित संस्कार दब गए। वे दुःख और अंधकार के दृश्य जो युवराज की चिन्ता उपजा रहे थे, वहाँ पर पतिव्रता यशोधरा अपने निर्विकार रूप और सहज-सुलभ गुणों को लेकर खड़ी हो गई थी।

ग्रीष्म वर्षा और हेमंत ऋतुओं के अनुकूल महाराज शुद्धोदन ने नव भव्य और मनोहर प्रमोद-भवनों का निर्माण किया युवराज के लिये। वे समस्त जगत् की विलास-सज्जा से विभूषित किए गए। दुःख और विषाद के दृश्य और भाव सिद्धार्थ की दृष्टि के पथ से सब हटा दिए गए, जो नहीं हटाए जा सके उन पर पर्दा डाल दिया गया।

अनेक नर्तकियाँ और दासियाँ नियुक्त हुईं उन प्रमाद के भवनों में उनके समारंभ और सेवा के लिये। वे भवन दिन में सूर्य की किरणों से और रात्रि को दीपावलियों से होकर प्रकाशित होते। दिन-रात पुष्प और धूप से सुगंधित रहते। समय-समय पर नर्तकियाँ अपने गीत और नृत्य से आनंद और उल्लास की धारा बहातीं।

ग्रीष्म के भवन में रात को दासियाँ छत पर नीचे कूप से पानी खींचतीं, और उसे चलनियों से छानकर फुहार उड़ातीं। रश्मियों की अपेर से एक मधुर-मंद ध्वनि उपजाते जिससे मेघों की गरज का भ्रम होता। मशालों की शिखाएँ इस चपलता से चमकाई जातीं कि बिजली का प्रकाश ज्ञात होता। नर्तकियाँ मेघ-राग के लिये अनुकूल वातावरण पातीं, और सिद्धार्थ यशोधरा के प्रेम में आबद्ध उस कृत्रिमता में लोप रहते।

इसी प्रकार हेमंत के भवन में इच्छानुसार नाना उपकरणों से बसंत का सवेरा बनवा दिया जाता था। एक के पश्चात् दूसरे मनोरंजन की सामग्री युवराज के मन को खींच लेती। व उन्हें अवकाश ही नहीं देतीं कि वह किसी अभाव की चिंता करते।

महाराज और महारानी युवराज को इस सांसारिकता में आबद्ध देखकर प्रसन्न रहते। वे सोचते अब सिद्धार्थ के मन में वैराग्य उत्पन्न न होगा। वे भगवान् से उनकी संतान के लिये प्रार्थना करते। उनका विचार था, संतान का प्रेम सिद्धार्थ के अनुराग के पाश को और भी दृढ़ कर देगा।

उस दंपति के पारस्परिक प्रेम में वर्ष दिनों की भाँति बीतने लगे। एक दूसरे की छाया-सी ज्ञात होते वह। केवल गणित के लिये वह दो थे। एक ही हृदय के स्पंदन में प्राणों से दो प्राणी खाते-पीते, हँसते-बोलते चलते फिरते, क्रीड़ा और विनोद करते एवं सोचते और विचारते थे। दो सरिताएँ जैसे एक दूसरे में अपने-अपने समत्व को खोकर एक हो गई थीं। यह जानना कठिन और असंभव था कि उनके व्यक्तित्व का अंतर कहाँ पर था।

एक दिन युवराज ने यशोधरा से कहा। वह उपवन में उस दाड़िम के वृक्ष के नीचे था—"प्रिये प्रमोद-भवन में मूक जाता हूँ। इस दाड़िम के वृक्ष के निकट कभी-कभी याद आ जाती है।" कुछ विचारने लगा वह।

क्या ?"

"यही कि यह सुंदर हरित वन, सूर्य और चाँद की किरणों को धारण कर जिसके पत्र वासंतिक पवन से नृत्यशील होते हैं उसके नीचे कितनी घनी छाया है।"

"छाया से मन में चिंता के उदय की क्या आवश्यकता है प्रियतम ?"

'हानि न चाहिए, पर यह मुझे जगत् के दूसरे सिरे की ओर संकेत करता है। यह वसंत के विपक्ष में हेमंत का विनाश दिखाता है। मुझे शंका होने लगती है, क्या हमारा यौवन चिरदिन हमारा साथी कायम रहेगा?

यशोधरा चुप रही।

"अनुमान नहीं करता है यशोधरे! जिस प्रकार वसंत को ग्रीष्म मुरझा देता है और शरद् का शीत श्री-हीन कर देता है, उसी प्रकार, प्रेयसी, क्या उसी प्रकार—"

यशोधरा ने आगे नहीं कहने दिया उन्हें—"आराम के लिये विश्राम चाहिए युवराज! ऋतु थककर पतझड़ में सो जाती है, और फिर नवीना होकर वसंत में जाग उठती है। वैसे ही दिन के साथ वसुधरा पर का समस्त जीवन रात्रि की निद्रा में अपना श्रम मिटा डालता है, और नव प्रभात में नवीन स्फूर्ति से भर उठता है।"

"हाँ, ये दो क्यों हुए? एक ही क्यों नहीं? केवल जागरण चिर और श्रमहीन जागरण, स्थिरीकृत वसंत के ऊपर यशोधरे निद्रा और निशि से विहीन ये दोनों नैन! दिन और रात की अभेद्यता में मैं तुम्हारे इस चिर रूप का दर्शन करता ही रहता।"

'ऐसा भी क्या संभव है? जिस वस्तु का आरंभ होगा, उसका अवश्य ही अंत भी होगा।" कहने को तो कह गई यशोधरा अंतवाचक शब्द पर बना उसी न-जाने युवराज किस ओर तर्क का बीज ले जाएँ।

'सबसे बड़ी व्यापकता यही है सृष्टि में।"

चुप्पी हुई। यशोधरा ने दूसरी शंकाओं से काम लिया—"यदि केवल एकता ही होती, तो फिर सारी सृष्टि जड़ न हो जाती। प्रकाश एक सिरा है जिसका, दूसरा छोर है अंधकार। इस

दोनों के होने से ही जीवन है, भ्रम है और है संघर्ष । केवल आलोक होने से बढ़ता जा जाती और यही केवल असीम अंधकार के राज से भी ।'

"किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा सकता कोई । इस निराशा से बार-बार निश्चय करता हूँ, अब कभी इस विषय में तर्क-वितर्क न करूँगा । पर यह मन बरबस उधर ही आकर्षित हो जाता है ।" सिद्धार्थ ने कहा ।

यशोधरा अपने मन में सोचने लगी—"इस जामुन के वृक्ष के नीचे युवराज ने बहुत समय तक विचार को वशीभूत कर रखा लिया है । यह जब इसके संपर्क में आते हैं, तब यह इनकी उस स्मृति को जगा देता है ।"

'तुम क्या विचारने लगीं यशोधरा ?"

'यही कि यदि इस जामुन के वृक्ष के स्थान पर एक छोटा-सा भवन बन जाता, तो हम वर्षा-ऋतु में इस झरोखे में बैठ कर बूँदों की शोभा देखते ।"

"इस वृक्ष को कटा देने का विचार है क्या ?"

"हाँ, जामुन के वृक्षों की कोई कमी नहीं है इस उपवन में ।"

"तुम्हें क्यों इस वृक्ष के लिये शत्रु-भाव हो गया । नहीं यशोधरा ! यह वृक्ष मेरे जीवन से बड़ा घनिष्ठ संपर्क रखता है । तब तुम यहाँ थी नहीं । मेरे शून्य एकांत का यही सहचर रहा बहुत दिन । इसी के नीचे मैंने जीवन और जगत् की दुविधा पाई है । यह सत्य है, मैं उस समस्या को अभी तक सुलझा नहीं सका हूँ, पर एक दिन अवश्य ही सुलझा लूँगा ।'

"ऐसे ही मेरे मुख से एक बात निकल गई । मुझे नहीं ज्ञात था, तुम्हें इस वृक्ष से इतना प्रेम है ।"

"पर मैं तुम्हारी इच्छा की भी उपेक्षा नहीं कर सकता । इस

को काटे बिना भी तो यहाँ पर भवन बन सकता है।" सिद्धार्थ ने कहा।

"नहीं, कोई आवश्यकता नहीं है।"

बड़ी तीव्र गति से सिद्धार्थ के विवाह के दस वर्ष बीत गए। आमोद-प्रमोद, भोग-विलास नृत्य-संगीत के बीच-बीच में अब कभी-कभी युवराज का ध्यान टूट जाता और उनकी चेष्टा से ऐसा प्रतीत होता जैसे उनका कुछ खो गया है, और वह उसे ढूँढने की चेष्टा कर रहे हैं।

हँसते-खाते वह एकाएक चुप हो जाते। खाते-खाते उनका हाथ वहाँ-का-वहीं ही रह जाता। सोते-सोते वह एकाएक चौंक कर उठ बैठे एक दिन।

यशोधरा ने अधीर होकर पूछा—"क्या हुआ? स्वामी!"

"जैसे किसी ने हाथ पकड़कर खींच लिया मुझे तुम्हारे प्रेम की शृंखला में से।"

"स्वप्न में?"

"ठीक-ठीक नहीं कह सकता स्वप्न में कि जागृति में।"

"जागृति में? हम दोनों के अतिरिक्त और कौन है इस कक्ष में?"

"फिर क्या स्पष्ट स्वप्न था वह यशोधरे! मैं अब तक अपने हाथ में उसका स्पर्श अनुभव कर रहा हूँ।"

"केवल एक भ्रमित कल्पना आर्यप्रिय!"

"तुम जो भी कहो।"

फिर एक दिन खाते-सोते ही युवराज कहने लगे—"इस राज-भवन के सुख को छोड़कर कहाँ जाओ कह रहे हो तुम!"

यशोधरा जाग ही रही थी। चुपचाप सुनने लगी।

कुछ पत्तों की गति देखकर सिद्धार्थ फिर बोले—"नाना प्रकार के दुःखों और पीड़ाओं से सारा जगत् त्राहि-त्राहि कर रहा है,

और मैं केवल अपने ही सुख में मग्न हूँ ! हाँ, स्मरण हुआ मुझे, तुम साथ जा रहे हो। ठहरो, मैं आता हूँ।"

अभी चिंता के साथ यशोधरा उस स्वप्न के प्रलाप को सुन रही थी। उसने बढ़कर दीपक की शिखा को अधिक उज्ज्वल किया।

फिर कुछ स्तब्धता के अनंतर सिद्धार्थ ने कहना आरंभ किया—"माता-पिता, उन्होंने जन्म देकर प्रतिपालन किया उनसे बिना पूछे ही !"

यशोधरा सिद्धार्थ के निकट आकर उनके सुंदर मुख-मंडल को निहारने लगी। उसने देखा भावों का तुमुल संग्राम हो रहा था वहाँ।

सिद्धार्थ फिर कहने लगे — 'और वह प्रियतमा यशोधरा। प्रतिज्ञा-पूर्वक जिसे जीवन-संगिनी बनाया है। उससे भी न पूछूँ !"

अपना नाम सुनकर सहम उठी युवराज्ञी। उसने सिद्धार्थ का हाथ पकड़ लिया।

फिर भी नींद न टूटी उनकी। वह बोले—"फिर मेरा हाथ पकड़ लिया तुमने ?"

यशोधरा ने उन्हें झकझोरा।

सिद्धार्थ ने आँखें मल-मलकर खोलीं। यशोधरा ने अभी तक उनका हाथ छोड़ा न था।

प्रिये ! कहाँ से आना चाह रही हो

सपना देखा तुमने ?"

से चौंककर किसी

ही मेरी। क्यों

"मैं सोचने लगा था सोते-ही-सोते ! किससे ?"

"मैं नहीं जानती । मुझे भय लगने लगा ।"

कई मास व्यतीत होने के अनंतर एक दिन आधी रात का समय होगा । एकाएक यशोधरा की नींद टूट गई । उसने देखा, क्षीण प्रकाश से दीपक जल रहे थे । युवराज की शय्या की ओर उसकी दृष्टि पड़ी । वह शून्य पड़ी थी । काँपकर उठी यशोधरा कक्ष में चारों ओर तीक्ष्ण दृष्टि निक्षिप्त की—"कहाँ गए ?" द्वार की ओर देखा अर्गल-मुक्त !" उन्होंने ही खोला इसे । बाहर गए ? कहाँ ?" यशोधरा द्वार खोलकर बाहर आई ।

दासियाँ सो रही थीं । किसी को नहीं जगाया उसने । सोपान-श्रेणी का अतिक्रमण कर प्रांगण में आई वह । प्रहरी भी सो रहे थे । वहाँ का द्वार भी मुक्त था । बड़ी तीव्र गति से दौड़ी हुई चली गई वह । जिस के द्वार पर विश्वास था ही । सिंह-द्वार भी खुला पड़ा था ।

बिना कोई सोच-विचार किए ही वह बाहर दौड़ गई, नग्न पद, मुक्त शिर । उसके मुक्त कुन्तल आँखों पर झटकने लगे उसका वस्त्र पैरों में उलझने लगा । एक हाथ से बालों को और एक से चोली सँभालती हुई तारकों से भरे हुए आकाश के नीचे चली गई वह ।

चारों ओर दृष्टि कर देखा उसने । तोरण के मार्ग में किसी को जाते हुए देखा । छाया की मूर्ति-सी, उसके आकार की पृष्ठ-भूमि पर प्रकाश की रेखा पहचानी—युवराज ही थे । चुपचाप उसने उनका अनुसरण किया ।

सिद्धार्थ सीधे प्राचीर के फाटक पर पहुँचे । प्रहरी जाग रहा था । उसने दूर ही से पुकारा—"कौन ?"

"तुम जाग रहे हो प्रहरी ! मैं तुम्हारा युवराज हूँ ।"

"युवराज ?" आश्चर्य हुआ प्रहरी को ।

"हाँ।" युवराज उसके निकट पहुँच गए थे।

और यशोधरा भी छुपते-छिपते उनसे कुछ दूरी पर उनकी बात सुनने लगी।

"इस अन्धेरी घोर भयावनी रात में आप क्यों जाग रहे हैं? मैं समझता था आप दीपोद्भासित राजभवन में फूलों की कोमल स्निग्ध शय्या पर विश्राम कर रहे होंगे।"

'कपिलवस्तु के युवराज के मन में चैन नहीं है प्रहरी! वह सो नहीं सकता अब।"

"क्यों? आप कहाँ फिर रहे हैं?"

'शांति को ढूँढ रहा हूँ। तुम सहायक नहीं हो सकोगे?"

"मैं सेवक ही हूँ आपका। मेरी तुच्छ शक्ति और साधना आपके चरणों पर ही समर्पित है।'

"अच्छी बात है। मैं तुम्हारे उपकार का बदला चुकूँगा नहीं, हार थक कर भी नहीं!"

'हार थक कर हूँ!" चौंककर प्रहरी बोला—' इस तामसी रात में आप जायेंगे कहाँ?'

"यह नहीं जानता प्रहरी! मैं तुम्हारी कपिलवस्तु का सबसे दुखी प्राणी हूँ। मेरी सहायता करो। कोई बुला रहा है मुझे वहीं से।'

"कहाँ से?"

"यह भी नहीं जानता।"

"युवराज! आपको क्या हो गया। हार नहीं चुका सकता इस जनम में। मुझे क्षमा करो। चलिए, मैं आपको राजभवन तक पहुँचा आऊँगा।'

"शोक मत करो प्रहरी! महाराज कुछ नहीं कहेंगे। मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा। मैं सात रत्न जड़ित अँगूठियाँ लाया हूँ। सातों चौकियों के

हारों को न्याय देने के लिये उपहार-स्वरूप । था, इनमें से तुम एक चुन लो।" सिद्धार्थ ने अँगूठियों से भरा हुआ हाथ प्रहरी की ओर फैलाया।

प्रहरी दूर हट गया— "नहीं युवराज! बिना महाराज की आज्ञा के प्राप्त किये यह द्वार मुक्त नहीं किया जायगा।"

"क्यों?"

"यह मैं नहीं जानता। महाराज से पूछिए। मैं हाथ जोड़कर आपके चरणों में प्रार्थना करता हूँ। मेरा लालच देकर मेरी कर्तव्य-परायणता से विमुख न कीजिए मुझे। यदि मैं नौकरी से निकाल दिया गया, तो फिर अपने कुटुंब का कैसे पालन करूँगा?"

यशोधरा ने मन-ही-मन प्रहरी की दृढ़ता और स्वामिभक्ति की प्रशंसा की।

"अच्छा, मैं लौट जाता प्रहरी! यह राज-भवन मेरा कारागार है। मैं इसका जीवन-बंदी हूँ, इसे मैं जानता हूँ। यह मेरे लिये खुल नहीं सकता, इसे तुम जानते हो। पर मेरा अपराध क्या है, इसे कोई नहीं जानता।" सिद्धार्थ लौट पड़े।

उन्हें जाता देख यशोधरा एक पेड़ की ओट में हो गई। युवराज के आगे बढ़ जाने पर वह प्रहरी के पास गई।

"लो प्रहरी, यह तुम्हारा पुरस्कार।" कहकर उसने प्रहरी की ओर हाथ बढ़ाया।

"क्या है यह?"

"अँगूठी नहीं।"

"नहीं-नहीं।" दूर जा खड़ा हुआ प्रहरी। "मैं कोई पुरस्कार नहीं ग्रहण करता। कौन हो तुम बन-बाला-सी?"

"डरो नहीं। यह द्वार खोल देने के लिये नहीं है। इसे

अवश्य ही रख सके, इसलिये है। तुम्हारे कर्तव्य की इस पालना की अभ्यर्थना के लिये है।"

प्रहरी उधर बढ़ा—"कौन हो तुम? ऐसी सूक्ष्म क्रिया में तुम भी भय से अपराजिता हो?"

"मैं हूँ तुम्हारी युवराज्ञी यशोधरा। डरो नहीं, वाणी पर बड़ी ही हूँ, जय-रव-कम्पा भिखारी-परी नहीं हूँ कोई। नहीं पहचाना मुझे?"

"जय हो युवराज्ञी की जय हो!" उच्च स्वर में कह उठा प्रहरी—"क्यों नहीं पहचाना!"

"चुप रहो, धीरे धीरे बोलो। स्तब्ध निशा ने और भी ऊँचा कर दिया तुम्हारे स्वर को।" यशोधरा ने कहा—"कोई सुनेगा।"

मोर द्वार पर खींचते हुए युवराज ने सुना। मन-ही-मन मुस्कराया उन्होंने—"युवराज्ञी की जय हो!" बढ़ चले फिर तोरण की ओर।

प्रहरी ने हाथ जोड़कर अँगूठी ले ली। यशोधरा बिदा हो गई राजभवन को।

प्रहरी उपहार व हर्ष के साथ युवराज और युवराज्ञी के इस प्रकार एकांत रात में बाहर निकल जाने के कौतूहल को मिटाकर देखने लगा उस लौटती हुई यशोधरा को। जब वह दूर पथ के अंधकार या वृक्षों के झुरमुट में खो गई, तो उसने अपने हाथ पर की अँगूठी को देखा—"परम सुन्दर! कैसी चमक रही है!" उसने उसको हाथ में उछालकर उसका भार ज्ञात किया। मुख पर संतोष प्रकट कर बोला—'ठीक है। यदि निकालकर रख दूँगा। आगामी मधूत्सव में आसव का काम चल जायगा।" उसने फिर दूर पथ पर दृष्टि डाली—"चले गए!" उसने अपने माथे के बोझ-हीन सिर से वाणी लटकाई—'मैं समझ गया। अब समझ गया! हमारे युवराज की यह मान-लीला चल रही है।'

प्रहरी जाकर अपने आसन पर बैठ गया, इस शंका का भार लेकर।

माथा टेक दिया भूमि पर, हाथ सिद्धार्थ की कंधे पर से। चिबुक पर हाथ रखकर सोचने लगा—"परंतु युवराज का विवाह हुए अब दस-बारह वर्ष व्यतीत हो गए। मान और कोप के दिन कहाँ रहे? कुछ भी हो, आगत वसंत स्वच्छ ढंग से व्यतीत होगा।'

मंद स्मित अधरों में अंधकार के बीच से मार्ग निकालती हुई वह रही थी यशोधरा। अचानक सिद्धार्थ को देखकर रुक गईं।

"क्यों, यशोधरा? तुम कैसे यहाँ आई हो, यह न पूछूँगा। तुम्हारा मान भंग किसने किया? यह बताओ।"

"उसी प्रहरी ने, जिसे तुम अपने अधीन न कर सके!" मृदु हास्य के साथ यशोधरा बोली।

"क्या वह तुम्हारे लिए द्वार खोल देने को प्रस्तुत हो गया?"

"नहीं वह अपने कर्तव्य पर अचल-अटल था। मैंने उसे उसकी प्रभुता के लिये अपनी अँगूठी उपहार में दे दी जो आप-आप का कारण बनी।"

"चलो, तुम भी नहीं खुला सकती वह बन्द द्वार। महाराज—केवल महाराज। न जाना उन्हीं की आज्ञाओं से बन्द है। चलो और चलें।"

यशोधरा ने बड़ी कष्ट असहायता से सिद्धार्थ के हाथ पकड़ लिए। वह दोनों झुकने देकर तब भूमि-मण्डल धरती पर बैठ गईं। वह केवल इतना ही कह सकी—'प्रियतम! स्वामी!" कंठ भावातिरेक से रुद्ध हो गया, और आँखें आँसुओं में बहा उठीं!

सिद्धार्थ ने यशोधरा को भूमि पर से उठाकर अपनी भुजाओं में भर लिया—"क्यों-क्यों? ऐसी चिंता का कारण क्या हो गया?"

"ऐसी बार चिंता में मुझे छोड़कर तुम क्यों चले आए?"

"तुमसे क्या कहूँ? न करोगी तुम विश्वास। पहले मैं इन सब बातों को एक भ्रम समझता था, परंतु अब समझने लगा हूँ, भ्रम ही यह

८ तीन निमित्त

कुछ वर्ष और भी बीत गए। युवराज के मन के भीतर का वह गीत फिर जाग पड़ा, और उन्हें बाहर रागिनियों की स्वर-माधुरी विरस जान पड़ने लगी। उस अंतर-गीत की केवल आभा उन्हें सुन पड़ती। स्पष्ट नहीं उसे समझने पाए भले प्रकार। इधर कुछ दिन से कुछ देखने भी लगे थे। पहले स्वप्न में अथवा यह। लोग उसे उनका दृष्टि-विभ्रम कहते। जब यशोधरा ने भी उस पर अविश्वास किया, तो वह फिर उसे मन में ही रखकर रह गए।

सिद्धार्थ का फिर पहले-का-सा स्वभाव हो जाने के कारण प्रजावती की चिंता बढ़ गई थी पर एक नवीन आशा बँध गई थी। यशोधरा गर्भवती थी, और महारानी विचार करतीं पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर कदाचित् युवराज के सांसारिक बंधन फिर दृढ़ हो जाएँ।

यशोधरा के पश्चात् राजकुमार नंद ही सिद्धार्थ के सुख-दुख का साथी था। नंद कभी-कभी महाराज के गोपनीय मंत्रि-प्रकोष्ठ उनके विश्वस्त मंत्रियों तथा नायक-अधिनायकों के पास तक पहुँच जाता था, साथ में प्रहरी और राजमुद्रिका लेकर। यह सब सिद्धार्थ से छिपाया जाता था। चौथी दीवार तक नगर था और बाहर नगर को पाँचवीं दीवार से परिवेष्टित।

कभी एक-दो बार नगर देखने का हठ किया था राजकुमार नंद ने महाराज के सामने नहीं महारानी प्रजावती के समक्ष।

एक दिन नंद के ऐसे ही हठ पर प्रजावती ने उससे कहा—

"देखो राजकुमार, तुम्हें युवराज का ध्यान होना चाहिए। कपिलवस्तु तुम्हारे लिये इतनी भयकर नहीं है, जितनी उनके लिये। तुम्हें उनके इस बंधन के लिये समवेदना होनी चाहिए। तुम्हारी कितनी चिंता रहती है उन्हें। उनसे आगे बढ़ जाने की सब आकांक्षाओं की बलि देनी चाहिए। अभी तुम कल ही तो दूर-दूर तक घूमने गए थे।"

"अपने लिये नहीं, मैं युवराज के लिये ही कह रहा हूँ। इस प्रकार आँखें बंद कर रख दिया है तुमने कपिलवस्तु के भावी महाराज को। महाराज से कहो न, एक दिन उन्हें नगर-भ्रमण की आज्ञा दे दें। निर्दिष्ट कर दी जावें सड़कें पहले ही से स्वच्छ निर्मल निमित्तों की चौकसी के लिये प्रबंध कर दिया जाय। फिर क्या डर है।' नंद ने कहा।

प्रजावती बोली—"कर रही हैं, महाराज शीघ्र ही इसका प्रबंध।"

नंद ने यह समाचार शीघ्र ही जाकर युवराज को सुनाया।

पर सिद्धार्थ उस समय अन्य विचार में थे। नंद का समाचार विचलित न कर सका उन्हें। उन्होंने कहा—"नंद, कई दिन से तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।"

नंद उनके निकट जाकर बैठ गया।

सिद्धार्थ कहने लगे—"छोटी अवस्था में मेरा विवाह कर दिया गया। मैं यह तो नहीं कहता कि यह एक अस्वाभाविक बात है। पर जैसे न जाने कितों में बँधा हुआ, राजभवन के कार्य क्रम में जकड़ा हुआ हाथी फिर वन-पर्वतों में भाग जाने के लिये छटपटा उठता है ऐसी ही कुछ दशा मेरी हो गई! ये राजभवन की सातों दीवारें दुर्भेद्य हैं, मैं इनके ऊपर से कूद सकता हूँ। पर, पर स्नेहमयी पत्नी का सुख-पाश, भाई, यह अमोघ बंधन है—टूट भी नहीं सकता, छूट भी नहीं!"

नंद फिर बीचा का युवराज की बात सुन रहा था।

"तुम्हारे विवाह की चर्चा चल रही है। मैं अपने अनुभव से भी तुम्हें दूँगा।" सिद्धार्थ चुप हो गए।

नंद कौतूहल से भर गया।

कुछ क्षण विचारकर फिर कहने लगे वह—'तुम मत रो राजकुमार, मैं विवाह नहीं करता।"

नंद को ऐसा ज्ञात हुआ मानो युवराज ने उसकी अमूल्य वस्तु छीन ली कोई। वह अतल विचार के सागर में डूब गया।

सिद्धार्थ ने उसे चुप देखकर कहा—'तुम्हारी सौम्यता पर मैं बल-पूर्वक अपना यह अनुशासन लादना नहीं चाहता। मेरे विचार में सहमति ज्ञान से ही राजकुमार! मैं तुमसे प्रतिज्ञा नहीं कराना चाहता कोई। विचार करना इस बात पर।"

"हाँ मैं विचार करूँगा।" नंद ने उत्तर दिया।

राजकुमार देवदत्त के मन में सिद्धार्थ ही नहीं, सारी कपिल वस्तु और शाक्यों के उस समस्त तन्त्र-मंत्र के लिये घृणा उत्पन्न हो गई। आठों याम वह अनेक वर्षों से वहाँ से दूर जाकर रहने का विचार और प्रयास कर रहा था।

अंत में उसने अपने पिता को सम्मत कर लिया। मगध की राजधानी राजगृह में महाराज बिंबिसार की राजसभा में राजकुमार देवदत्त के मातुल अच्छी प्रतिष्ठा का पद पाए हुए थे। उनके संतान नहीं थी कोई। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता-पूर्वक देवदत्त को राजगृह में बुला लिया।

धीरे-धीरे देवदत्त का राजगृह के राजभवन में प्रवेश हो गया। देवदत्त चतुर और हृष्ट-पुष्ट था पर था वह कठोर और क्रूर। मगध के युवराज अजातशत्रु का ध्यान आकर्षित कर लिया उसने। धीरे-धीरे

अजातशत्रु से इसका परिचय मित्रता में परिणत हो गया और मित्रता घनिष्ठरूपता में परिवर्तित हो गई ।

दोनों की प्रकृति मिलती-जुलती थी। देवदत्त ने अजातशत्रु पर ऐसा मंत्र पढ़ा, ऐसी मोहिनी डाली कि उसे बिना देवदत्त को देखे चैन ही न पड़ता। अल्पकाल में देवदत्त मगध के राजभवन का अंतरंग निवासी हो गया। वह राजभवन में ही आकर रहने लगा।

देवदत्त के भाग्य की तारिका चमक उठी। वह सिद्धार्थ के प्रति आमरण की हुई प्रतिहिंसा को दिन-दिन परिपुष्ट करने लगा। उसने अजातशत्रु के मन में भी कपिलवस्तु के युवराज के लिये घृणा का बीज बो दिया।

अंत में एक दिन महाराज शुद्धोदन को युवराज सिद्धार्थ के नगर-भ्रमण का प्रबंध करना पड़ा। नगर का पूर्वीय भाग परिष्कृत किया गया। दुःख और विषाद की स्मृति दिलानेवाले समस्त दृश्य दूर किए गए। कई दिन से नगर में राजाज्ञा प्रचारित की गई कि नगर के उस भाग में कोई वृद्ध, रोगी प्रवेश न करने पावे। वहाँ के सब वृद्ध रोगी, दुर्बल और दुःखी लोगों को कई दिन पहले से ही अपने-अपने घरों के भीतर बंद रहना पड़ा। स्थान-स्थान पर प्रहरियों की नियुक्ति की गई। वे विशेष तत्परता से इस राजाज्ञा के प्रतिपालन में संलग्न हो गए।

सिद्धार्थ के भ्रमण के साथ के लिये राजकुमार और भी प्रस्तुत किए गए। सारा भार सौंपा गया सारथी छंदक को। नियत तिथि की नियत घड़ी पर छंदक ने सुसज्जित रथ राजभवन के द्वार पर ला लगाया।

दो अश्वारोही बालक भी उनके साथ जाने के लिये सन्नद्ध थे— एक उनकी। यात्रा के अग्रभाग में दूसरा उनका अनुसरण करता

हुआ। चारों निमित्तों से युवराज की रक्षा करना उनका उद्देश था।
स्नान और भोजन के अनंतर।

दोनों राजकुमार अलंकार और परिधान धारणकर महाराज और महारानी से विदा ले रहे थे।

यशोधरा का सरल-कोमल हृदय चिंता से विकल हो उठा। राजमहल के इन रहस्य-विचार से कि युवराज संन्यासी होकर चले जायँगे वह पिछले कई दिनों से चिंता-जर्जरित होने लगी।

वह बड़ी सावधानी से छंदक के पास आई, और बड़ी दीनता से बोली—"सारथी! रथ-सूत्र तुम्हारे हाथ में हैं। देखो युवराज कहीं जाने न पावें।

छंदक से आश्वासन पाकर लौट गई वह अश्रुमुखी। सिद्धार्थ और नंद को रथ में बिठाकर छंदक ने सूत्र सँभाले, घोड़ों को चलने का संकेत दिया। रथ चल पड़ा।

पाँचों प्राचीरों पर के तोरण आज खुल गये सिद्धार्थ की प्रगति के लिये। सुरभित मार्ग धोकर विमल-दर्पण जैसे थे एक ओर। सिद्धार्थ ने अनुभव किया, बाजार मादक हो उठे आज।

एक-एक कर पाँचों तोरणों का अतिक्रमण कर सिद्धार्थ ने नगर में प्रवेश किया। ध्वजपट-सुसज्जित सड़कों पर मनुष्य आनंद और उन्माद से युवराज की अभ्यर्थना और जय-घोष कर रहे थे। स्त्रियाँ अट्टालिकाओं पर से उनके ऊपर अक्षत। और पुष्पों की वृष्टि कर रही थीं मधु-मधुर स्वरों में उनके स्वागत के गीत गा रही थीं। उनकी आरती कर रही थीं।

"ऐसे भय और आशंका का कोई चिह्न नहीं दिख रहा है राजकुमार नंद! फिर क्यों यह नगर इतने दिनों तक हमारी आँखों की ओट में रख दिया गया। प्रजा बड़ी प्रसन्नचित्त और सुखी प्रतीत हो रही है। छंदक, क्या ये नित्य इसी प्रकार रहते हैं?"

"युवराज के पदार्पण से ही हमें प्राप्त हुए हैं, इसी से ह
हर्ष का पारावार नहीं है।" छंदक ने अधर को छिपाते
कहा।

"मैं इतना युवराज, इतना सुखी नहीं हूँ।"

एक छोटा-सा बालक "युवराज की जय हो!" कहता हु
एक फूल की माला लेकर रथ के बिलकुल संपर्क में ही आ गया
व्यक्तियों की आँख बचाकर।

"हैं! हैं! पगली बालक!" कहते हुए छंदक ने बड़े कौश
से रथ रोक लिया—"अभी रथ के चक्र के नीचे आ गए होते
कैसे माता-पिता हैं तुम्हारे!"

"नहीं-नहीं छंदक! ऐसे कड़े शब्द न निकालो मुख से। तुम्हा
जिह्वा पावन भी बालक का उत्साह क्षीण नहीं हुआ है।
खड़ा हुआ ही रहने दो, मुझे यह बालक बड़ा प्रिय प्रतीत हो र
है। इसकी आशा पूर्ण हो जाने दो। यह माला मुझे पहना
चाहता है अपने ही हाथों से।"

युवराज से प्रश्रय पाकर बालक उनकी ओर बढ़ गया, आनंद
विरेक बड़बड़ाता हुआ।

"आओ आओ, मैं तुम्हें गोद में लूँगा।" युवराज ने उ
बालक को रथ पर चढ़ाकर अपनी गोद में ले लिया।

बालक ने बड़ी निर्भयता से अपनी भेंट युवराज के गले
में पहना दी।

"बड़ा सुंदर बालक है यह!" सिद्धार्थ ने कहा।

छंदक रथ पर से नीचे उतर पड़ा था। उस बालक को रथ से
नीचे उतार देने के लिये हाथ बढ़ाते हुए बोला।

बोला—"भगवान् की कृपा होगी, तो शीघ्र ही युवराज को
अपना देखना इससे भी कहीं सुंदर पुत्र-रत्न!"

"तुमने अनघ अर्हत्‌ रूप में यह वाक्य कहा। पर मैं विकल हो उठा हूँ इससे छंदक!" युवराज बोले।

"आओ, अब उतर पड़ो बालक, हमें विलंब हो रहा है।" छंदक ने कहा।

'रथ में धारण करने पर भी पुष्प-फल की राशि एकत्र हो गई है। छंदक इसमें से इस बालक को दे दो।"

छंदक ने उस बालक को रथ पर से भूमि पर उतारकर उसके उत्तरीय में बहुत-से फल बाँधकर उसे दे दिए।

रथ आगे बढ़ा। बड़ी कठिनाई से प्रहरी भीड़ को सँभाले हुए थे। रथ बहुत धीरे-धीरे मार्ग में बढ़ रहा था। युवराज के हृदय में नगर-दर्शन की उत्सुकता बहुत थी, पर दर्शन का संतोष तिल-मात्र भी नहीं दिखाई पड़ा उनके मुख पर।

कौतूहल से भरे हुए वह नगर को देख रहे थे। किसी छिपे और रुके हुए को, जैसे उसके साथ उनका बहुत दिनों का परिचय है। कोई भी वस्तु असाधारण न दिखाई दी उन्हें। वह मन में सोचने लगे—"फिर किसलिये मेरे मन में इतना आग्रह उत्पन्न हुआ। यहाँ तो वही जगत्‌ है, जैसा राजभवन की दीवार से घिरा हुआ। केवल आकार-प्रकार में कुछ विभेद। उन्होंने छंदक से कहा—'छंदक, तुमने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया?'

हाथ जोड़कर वह बोला—"किस प्रश्न का उत्तर युवराज!"

"क्या यह प्रजा सदैव ऐसी प्रसन्न और परितृप्त रहती है?"

"सदैव प्रसन्न कौन रहता है। प्रत्येक वस्तु का छोर है, सीमा है। एक छोर से दूसरे छोर तक का आवर्तन और प्रत्यावर्तन लगा ही रहता है—इसी का नाम जीवन है। सुख के अनंतर दुख, दिन की अनुसरण-कारिणी रात्रि, हर्ष के पीछे विषाद जीवन में लगा ही हुआ है।"

"ठीक है छंदक! मैंने उत्सव की कृत्रिमता, बहुत देख ली है मुझे दूसरा सिरा दिखाओ। यह पथ कहाँ को गया है?"

"यह एक गली है।"

"उधर ले चलो।"

"गली संकीर्ण है युवराज, भीड़ से भरी। रथ से किसी के चोट लग जायगी।"

"अच्छा, हम पैदल ही चलेंगे।"

"नहीं युवराज पैदल नहीं जा सकते, भीड़ में मिलकर।"

"क्यों?"

"महाराज की आज्ञा और एक प्रचलित प्रथा।"

सिद्धार्थ उदास हो गए।

छंदक ने कुछ दूर और जाकर रथ रोक दिया—"युवराज, हमारी यात्रा यहाँ पर समाप्त होती है। आज्ञा दीजिए कि रथ राजभवन की ओर लौटा दिया जाय।"

"लौटा दो।" बड़ी उदासीनता से युवराज ने कहा।

छंदक ने रथ लौटाया। घोड़ों ने राजभवन की ओर पैर बढ़ाए।

"तुम्हारे मुख पर प्रकाशित भाव कह रहे हैं, तुम इस भ्रमण से संतुष्ट हुए हो।" छंद की ओर सम्बोधन कर युवराज बोले।

छंद ने स्निग्ध मुस्कान की रेखाएँ प्रकट कीं मुख पर।

पथ के दायें बायें एकत्र जन-समूह के बीच से, अविराम जय-नाद में फूलों की वर्षा से होकर छंदक रथ ले जा रहा था। इस बार पहले की अपेक्षा कुछ तीव्र गति थे। रथ नगर की भीतरी दीवार के प्रवेश पर आया। छंदक ने बढ़ाने घोड़ों रथ का वेग अधिक कर दिया।

हठात् युवराज चिल्लाए—"ठहरो सारथी, लौटा दो रथ।" उन्होंने पीछे की ओर संकेत कर कहा—"वहाँ-तक ले चलो।

किसी ने मुझे पुकारा बड़ी मर्म-भरी वाणी में। वह वहाँ पर हलचल सी मची है। वहाँ से चलो। मैं देखूँगा, वह कौन है।"

उस भीड़ में प्रहरी एक मनुष्य को धक्का देकर पीछे की ओर कर रहे थे।

"कहाँ से आ मरा यह यहाँ। हट पीछे।" एक प्रहरी ने कहा।

दूसरे ने उसका हाथ पकड़ पीछे को खींच लिया।

उस मनुष्य के चोट लग गई। वह बड़ी करुण चीत्कार कर उठा।

छंदक का रथ खींचकर वहाँ पर लाया गया।

"प्रहरी, ठहरो तुम क्यों मार रहे हो इस व्यक्ति को। इसने क्या अपराध किया? इसे मेरे सम्मुख लाओ।"

वह व्यक्ति सिद्धार्थ के समीप लाया जाने लगा।

सिद्धार्थ ने बड़े भय और विस्मय के भाव से छंदक की ओर देखकर कहा—"छंदक, यह कैसा अद्भुत मनुष्य है इसके केश और श्मश्रु सब श्वेत हैं! मुख झुर्रियों से भरा हुआ, कमर टेढ़ी, बड़ी कठिनता से लाठी के सहारे मेरे पास तक आ रहा है!

छंदक किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर, चुप हो सोचने लगा—"क्या उत्तर दूँ इन्हें? यह पहला निमित्त, इतनी सावधानी करने पर भी कहीं से घुस पड़ा यहाँ।"

उस मनुष्य ने लड़खड़ाते हुए युवराज के सामने आकर हाथ जोड़ कहा, अस्पष्ट और टूटी-फूटी वाणी में—"युवराज की जय!"

"है! इसका सारा अंग कंपित है, वाणी भी स्पष्ट नहीं। कान बहरा है, आँखों से भी कम दिखाई देता है।"

"हाँ युवराज, आँखों से भी कम दिखाई देता है। एक तो बिलकुल ही फूट गई!" उस व्यक्ति ने दयनीय स्वरों में कहा।

"छंदक !" सिद्धार्थ ने सारथी की ओर मुख किया।

छंदक के अंग में काटो, तो रक्त नहीं। उसने सोचना शुरू किया कि अब जब निमित्त सामने हो गया है, तो उसे राजाज्ञा पर यह दैन्य मूर्खता लगी। छंदक बोला—"हाँ युवराज !

"छंदक ! यह भी क्या मनुष्य है ?"

"हाँ युवराज ! यह वृद्ध मनुष्य है।"

"क्या मनुष्य ! क्या विचित्र ! आज तक नहीं देखा मैंने कभी कोई ऐसा ! ऐसा क्षीण, ऐसा दुर्बल, इतना निरीह और इतना निस्सार !"

"भगवान् का नियम युवराज ! एक दिन सभी को इस मार्ग पर आना है।" वृद्ध ने कमर पकड़कर निःश्वास छोड़ी।

"छंदक ! यह मनुष्य क्या सच बोल रहा है ?"

"हाँ महाराज !"

"क्या मैं एक दिन ऐसा ही जर्जर, क्षीण पंगु और अंधा हो जाऊँगा ?"

छंदक ने धीरे-धीरे कहा—"इसे वृद्धावस्था कहते हैं युवराज ! युवावस्था के पश्चात् सभी की देह धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है।"

"क्या यशोधरा भी एक दिन ऐसी ही हो जायगी ?"

"सृष्टि के इस नियम का अपवाद कोई भी नहीं है। रंक से लेकर राजा तक, मूर्ख से लेकर पंडित तक, एक छोटे-से कीट से लेकर मनुष्य तक, सभी को इस जरा के समीप पराजित होना पड़ता है।

"आश्चर्य ! ऐसे सुंदर यौवन की कांति से भरे हुए शरीर का ऐसा परिणाम ! कैसा हाँफ रहा है यह मनुष्य ! सारा शरीर सूख गया है, स्थिर होकर खड़ा नहीं हो सक रहा है। प्राण निकल रहे हैं,

आँख भी सब दूर गए मालूम पड़ते हैं ! केवल हड्डियों का एक ढांचा ! छंदक ! मुझे भय लग रहा है !"

प्रहरी उस वृद्ध को हटाने लगे ।

'नहीं-नहीं इन्हें मेरे सामने रहने दो अभी । मैंने बहुत दिनों के पश्चात् इन्हें देखा है । इन्हीं को देखने के लिये तो मैं आया हूँ यहाँ ।'

वृद्ध ने फिर विकंपित वाणी में कहा —"यु-व-रा-ज की ज-य हो !"

"तुम क्या चाहते हो ?" सिद्धार्थ ने पूछा ।

"यौवन दे सकता है ?" वृद्ध ने कहा ।

"मैं प्रयत्न करूँगा ।"

"नहीं दे सकते । युवराज, मेरी फूटी आँख में दे सकते हो ज्योति ?"

युवराज ने असहाय होकर छंदक की ओर देखा— 'नहीं दी जा सकती ज्योति ? किसी प्रकार नहीं ?'

"नहीं युवराज, किसी प्रकार नहीं ।" छंदक बोला ।

"मैंने पहले ही कह दिया था युवराज !" वृद्ध बोला ।

"कितनी सरसता है तुम्हारी वाणी और व्यथा में !" युवराज ने कहा ।

"बाल्यावस्था और वृद्धावस्था की तुलना जब कहा जाता है, वे समानता से भरी हैं ।" छंदक बोला ।

"जीवन एक धंधा है ।" वृद्ध ने कमर पर हाथ रख बड़ी कठिनता से सिर उठाकर कहा—"बाल्यावस्था में प्रकृति से सब लिया जाता है, और वृद्धावस्था उसे चुका देने का समय है । अब मुझे जाने दो ।" वृद्ध लाठी टेक-टेककर जाने लगा ।

"प्रहरी, इन्हें कुटिया तक पहुँचा दो ।" सिद्धार्थ ने कहा ।

एक प्रहरी भीड़ हटाता हुआ, दूसरा उस वृद्ध का हाथ पकड़कर उसे ले चला ।

छन्दक ने घोड़ों की बागडोर खींची।

"छंदक! और भी ऐसे वृद्ध हैं, कितने?"

"अनेक।"

"फिर मैंने औरों को क्यों नहीं देखा?"

"दुर्बल और असहाय होने के कारण भीड़ में क्यों आते?"

रथ पाँचों प्राचीरों के तोरणों को पार कर राजभवन में आ पहुँचा।

महाराज ने पूछा—"नगर-भ्रमण किया युवराज?"

एक सकरुण मुस्कान में रहस्य को छिपाकर युवराज ने कहा—"महाराज, नगर देखा।"

छंदक अपराधी-सा, रथ द्वार पर अटकाकर खड़ा हो गया महाराज के सामने।

चंद के मुख पर भी प्रसन्नता न थी। मुँह लटकाए वह खड़ा था युवराज के पार्श्व में।

प्रजावती ने पूछा—"सबसे अधिक कौन-सी वस्तु रुचिकर हुई तुम्हें युवराज?"

"क्या कहूँ वह रूप-यौवन रूप, जो जीवन का अपरिहार्य अंग है। मुझे उस वृद्ध का—"

"वृद्ध!" महाराज शुद्धोदन ने आधे क्रोध और आधे पश्चात्ताप में भरकर दाँत पीसे, दोनों हाथ मले, और छंदक की ओर देखा।

छंदक ने आकाश की ओर संकेत कर कहा—"भगवान् की इच्छा सबसे प्रबल है महाराज!"

सिद्धार्थ यशोधरा के कक्ष में चले गए। शुद्धोदन राजकुमार चंद से पूछने लगे—"कहाँ, कब और कैसे वह बूढ़ा आ गया। यह किसकी असावधानी से भूल हुई, इसकी खोज में लगे।

"यशोधरे, मैं रूप, रस और यौवन की सीमा के दर्शन कर आया हूँ परम सुंदर। परम मनोहर!" सिद्धार्थ ने कहा।

एक पहेली-सी हल करने लगी यशोधरा। वह गर्भ के भार से श्रान्त, कोमलांगिनी युवराज की अन्यमनस्कता से और भी खिन्न-मना हो गई थी इधर कई मास से।

युवराज ने कहा—"आश्चर्य है, मैंने आज तक इसे नहीं देखा। यह छिपा दिया गया मुझ से इतने दिनों!"

यशोधरा चौंक उठी! समझ गई कि युवराज को आज किसी निमित्त के दर्शन हो गए।

"क्यों, तुम क्यों चौंक उठीं? क्या तुमने कभी कोई वृद्ध देखा है? और फिर दर्पण में अपनी प्रतिच्छवि देखकर यह भी विचार किया है कि यह रूप हवा में रखे हुए कपूर की भाँति एक दिन उड़ जायगा!" सिद्धार्थ ने कहा।

यशोधरा अत्यंत विकल हो उठी।

सिद्धार्थ ने फिर कहा—"जीवन का यही क्रम है, या यह मित्र अभी और कुछ दूर तक गया है!"

इसके पश्चात् युवराज एक दिन नगर की दक्षिण दिशा में भ्रमण के लिये गए। वहाँ उन्होंने दूसरा निमित्त भी देख लिया। राज्य की सारी सतर्कता और प्रबंध धरे ही रह गए।

'यह कैसा मनुष्य है सारथी! क्या यह भी वृद्ध है? युवराज ने पूछा।

"नहीं यह वृद्ध नहीं है।" छंदक ने उत्तर दिया।

"फिर? यह तो भूमि पर पड़ा है, उठ भी नहीं सकता। बड़े आर्त्त स्वर में कराह रहा है।'

'यह युवक ही है रोग ने इसकी ऐसी दशा कर दी है।'

"क्या यौवन का एक शत्रु और है यह रोग?"

"केवल यौवन का ही नहीं, प्रत्येक अवस्था का।"

"और प्रत्येक मनुष्य का भी?"

"हाँ।"

"मेरा भी?

"हाँ युवराज!"

"कब?"

'किसी समय भी। यह शरीर पाँच तत्वों से निर्मित है। तत्वों के असमान होने पर रोग पैदा होता है।"

'कितना कुरूप और मलिन हो गया है यह। चारों ओर कफ थूक-थूककर इसने भर दिया है। मक्खियाँ भिनभिना रही हैं और दुर्गंधि आ रही है।'

'इसीलिये तो मैंने रथ इतनी दूर पर रोका है।' छंदक ने उत्तर दिया—"और चलें अब।"

"तुम्हारी इच्छा छंदक!" सिद्धार्थ ने कहा—"बुढ़ापा इसकी अवधि का शत्रु, और रोग इसके वध-बन्ध का वैरी! और हम इसे भूल जाने का परिश्रम कर रहे हैं। अंत में कब तक!"

छंदक रथ राजमहल की ओर ले जाने लगा, और मन में सोचने लगा—"आज भी जो जितना छिपाया गया था, उतना ही प्रकट हो गया!'

'छंदक! कहीं दूर नहीं ले जा सकते रथ?'

"कहाँ युवराज?'

'दूर-दूर—कहीं दूर, छंदक! जरा और रोग से दूर!"

"ऐसा स्थान कहीं नहीं है युवराज!"

'होगा। सूर्य की परिधि से बाहर कहीं। जहाँ यौवन वर्षों की चोट से क्षीण नहीं हो जाता। तुम्हें नहीं ज्ञात है, कोई ऐसा स्थान?"

"नहीं।"

'मैं भी नहीं जानता। तब चलो, राजभवन को ही चलो। वहीं कम

ओर जीवन को धीरे-धीरे समय के इस चक्र में विलय होता हुआ देखूँगा। जिसको अपना और प्रिय समझा है, उन्हें रोग में असहाय होकर भूमि पर तड़पते देखूँगा। चलो सारथि, द्रुत वेग से चलो।"

इसके पश्चात् फिर एक दिन सिद्धार्थ नगर के पश्चिम भाग का परिभ्रमण करने के लिये निकले।

छंदक पर ही से उन्माद-हीन था। महाराज भी युवराज के इन निमित्तों को हृदय लेने के कारण अपनी शक्ति का विश्राम कर चुके थे।

"यह क्या छंदक! यह क्या ले आ रहे हैं अपने कंधों पर रखकर? —ना हाहाकार करते हुए। कुछ लोग रुदन भी कर रहे हैं। इधर ही आ रहे हैं। रथ रोक दो छंदक! मैं देखूँगा, यह क्या है।'

"ऐसा क्या देखने योग्य है यह! आगे चलें युवराज!"

युवराज ने सूत पकड़ लिया छंदक के हाथ में से—"छंदक अभी समझा नहीं क्या है तुमने मेरी। ठहरो! मैं अवश्य देखूँगा इसे।"

छंदक ने बड़ी ग्लानि के साथ रथ रोक दिया।

"क्या है यह? शव-यात्रा है? लेकिन ये इसको क्या ले जा रहे हैं?"

"यह शव-यात्रा है।" छंदक को बाध्य होकर रहस्य खोलना पड़ा।

"शव क्या हुआ?"

"मनुष्य-शरीर! जिसके प्राण छूट गए हों, जिसकी मृत्यु हो गई हो।"

"मृत्यु! जानता हूँ इसे। क्या मनुष्य की भी मृत्यु हो जाती है?"

"जीव-मात्र का यही परिणाम है।"

"अब समझा, रोग और जरा के साधन इसी की सिद्धि हैं !"

शव-यात्रा निकट ही आ गई थी।

एक वृद्ध-दंपति रो रहे थे—"हाय हमारा पुत्र !"

एक बालक चिल्ला रहा था—"हाय मेरे पिता !"

बाल-बिखरे एक युवती सिर पीट रही थी—"हाय मेरे पति !"

"ठहरो मुझे भी देख लेने दो।" कहकर सिद्धार्थ ने उन लोगों को रोक लिया।

शव का मुख खोला गया। सिद्धार्थ ने उसे भले प्रकार देखा और वे लोग आगे को चले।

'कैसा निस्तेज और विकर्षण मुख, एक दिन यह हमारी ही भाँति होगा। इंद्रियों में चेतनाएँ और मन में संकल्प लिए हुए !"

"हाँ युवराज !

"और एक दिन हम भी ऐसे ही हो जाएँगे !"

"अवश्यमेव !"

"धन, बल कीर्ति और बुद्धि कोई भी न बचा सकेगी !"

नहीं युवराज, कोई भी न बचा सकेगी !"

सिद्धार्थ ने बड़ी गहरी साँस खींचकर कहा—'हमारे सुख के स्वप्न यहीं पर आकर पर्यवसित होते हैं। हमारे विलास के भवनों की मूल-भित्ति यहीं पर है ! यह राज अब किसी काम का नहीं रहा !'

"नहीं युवराज !"

"ये कहाँ ले जा रहे हैं उसे ?"

"श्मशान में ले जाकर उसे भस्मीभूत कर देंगे !'

"यही अंत है हमारे इस अर्जित बल और श्रृंगार से लालित-पालित देह का ! सुन माधव, बड़ी सावधानी से तू भूमि पर चरण रखता है। इसलिये नहीं कि कहीं कोई कृमि-कीट कुचल जायगा,

पर इसलिये कि तेरे पैर में कहीं कोई ठोकर न लगे, कोई कुश-कंटक न चुभ जाय! और अब क्या होगा! जब अग्नि की शिखाएँ अपनी लपलपाती हुई जिह्वाओं से तेरी त्वचा को चाटकर तेरा रक्त-पान करेंगी, जब लाल-लाल अंगारों पर तेरी हड्डियों का पंजर चटचटायेगा, तब क्या होगा! शव को जलाकर ये सब लौट आवेंगे घर को। क्यों चंदक!"

"हाँ महाराज!"

"और ये सब फिर एक कल्पित सुख-विलास हास्य-रंग में निमग्न होकर अपनी मृत्यु की स्मृति को ढक देंगे, एक के ऊपर दूसरा आवरण डालकर।"

"सभी जानते हैं युवराज! मृत्यु अवश्यंभावी है।"

"नहीं चंदक, कोई नहीं जानता। मृत्यु की यह माधुरी कैसी छिपा दी गई मुझसे! मैं जान गया था उसी दिन, जिस दिन मैंने छिदे हुए हंस को भूमि पर मुमूर्षावस्था में पड़ा देखा था। मृत्यु से अधिक निश्चित और कोई वस्तु नहीं है मेरे। फिर उसे छिपाने के लिये इतनी दीवारों का आयोजन किया गया।"

"सुनता हूँ, ये दीवारें पहले ही से थीं युवराज, हमारे जन्म से भी पूर्व।"

"जो कुछ हो, मैंने जीवन का यह एक छोर आज देखा और पहचाना। इसका दूसरा छोर!—"

इसी समय राजभवन से एक अश्वारोही रथ के समीप पहुँचा, और उसने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"युवराज को बधाई है! युवराज्ञी ने अभी-अभी एक सुंदर बालक को जन्म दिया है! यह आप और कपिलवस्तु के लिये कल्याणकारी हो! महाराज को यथाशीघ्र राजभवन में श्रीमान् की उपस्थिति वांछनीय है।"

छंदक बोला—"आ ही गए, अब तो राजभवन के निकट। एक ही दीवार और पार करनी है।"

महाराज और महारानी युवराज का स्वागत करने के लिये और उन्हें पुत्र-जन्म का शुभसमाचार सुनाने के लिये सिंहद्वार पर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। पर सिद्धार्थ दूसरे ही मार्ग का अतिक्रमण कर विषण्ण-हृदय और विनत-मस्तक से अपने कक्ष में चले गए।

महाराज समझते थे, पुत्र के जैसे मोह में मैं आबद्ध हूँ, पुत्र के उत्पन्न होने पर ऐसे ही ममत्व के जाल में सिद्धार्थ भी फँस जायँगे। पर ऐसा न हुआ।



६ महाभिनिष्क्रमण

न निमित्तों के दर्शन कर लेने पर युवराज की बड़ी विचित्र दशा हो गई! जगत् की नश्वरता मूर्तिमती होकर, स्थिर और अचल होकर उनके सामने खड़ी हो गई। ऐसे विकल और विह्वल सिद्धार्थ पहले कभी नहीं देखे गए!

महाराज और महारानी ने जब यह सुना कि युवराज ने तीसरा निमित्त भी देख लिया, तो उनके मस्तकों पर मानो असमय वज्रपात हो गया! वह बड़े विराट् आयोजन से पौत्र का जन्मोत्सव मना रहे थे पर पुत्र की ओर से एक अज्ञात आतंक शूल की भाँति उनके हृदय को बेधने लगी थी।

सूतिका-गृह में यशोधरा का दुःख कौन जानता है। प्रसव की वेदना और पति की ओर से भयानक चिंता। रात को बुरे-बुरे स्वप्न दिखाई दिए उसे, दिन-भर डरावनी कल्पनाओं ने घेर लिया उसे।

बड़ी धीर और गंभीर गति से युवराज ने प्रसूति-गृह में प्रवेश किया। जीवन का एक नया रूप उन्होंने उस दिन में दूसरा फिर देखने के लिये पग बढ़ाया।

सारा राजभवन उत्सव से प्रतिध्वनित गुंजरित और जगमगा रहा था। पिता-माता के आग्रह की उपेक्षा कर दी थी उन्होंने। कुछ देर के अनंतर स्वयं अंदर जाने के लिये पैर बढ़ गए।

प्रसूति-गृह समस्त हर्ष और आनंद का केंद्र बना हुआ था, सिद्धार्थ ने उसके भीतर प्रवेश कर देखा। अनेक दासियों के बीच

में घिरी हुई महारानी प्रजावती अपने हाथों से नवजात शिशु की परिचर्या में संलग्न थीं। यशोधरा शुभ्र फेन-निभ शुभ्र और कोमल शय्या पर एक हलकी कामदार चादर से मुँह ढककर सो रही थी।

सिद्धार्थ को देखते ही विशेष आदर प्रकट कर दासियों ने एक ओर को हटकर मार्ग छोड़ दिया। उनका ध्यान यद्यपि सहधर्मिणी की ओर ही खिंचा, पर शिशुता ने पैरों में बेड़ियाँ डाल दीं।

प्रजावती ने युवराज की ओर शिशु को बढ़ाकर कहा—"लो, भगवान् की इस नवीन सृष्टि के दर्शन करो।"

युवराज को बड़ी अनिच्छा से उधर देखना पड़ा। उधर, तो उधर दृष्टि स्थिर हो गई। जीवन के लिए लालायित, उस असहाय और चेतना-विरहित शिशु की चेष्टाएँ उनके हृदय में घर कर गईं।

"लो इन्हें गोद में लो!" कहा महारानी ने।

हाथ बाँधे हुए खड़े थे अभी तक सिद्धार्थ, खुल पड़े। पुष्प के भार के सदृश उस शिशु को उन्होंने अपनी गोद में लिया—"जन्म और मरण के इन दो सिरों में लटके हुए का नाम जीवन है। क्या यही मनुष्य का प्रारंभ है?"

"तुम्हारी इस समीक्षा का न यह समय है न हमें अवकाश। भगवान् से प्रार्थना करती हूँ, और तुम दोनों को आशीर्वाद देती हूँ कि चिरायु रहो।"

"आज तुम्हारे मुख से यह चिरायु-प्राप्ति का कैसा आशीर्वाद सुना जीवन में पहलेपहल!" सिद्धार्थ ने कहा।

"क्या न करूँ तुम्हारे दीर्घ जीवन की कामना?"

"अवश्य मैं आज ही।" सिद्धार्थ ने शिशु माता की ओर बढ़ाया।

प्रजावती ने शिशु को अपनी रक्षा में ले लिया।

सिद्धार्थ ने कहा—"निमित्त-दर्शन के पश्चात् न जाने कितनी सम्भावनाएँ छिपी हुई गुफाओं में से निकल-निकलकर मेरे सम्मुख आ रही हैं।"

प्रजावती ने चौंककर पूछा—"कैसा निमित्त-दर्शन?"

"मैं स्वयं ही तुमसे पूछना चाहता था निमित्त-दर्शन क्या हुआ?"

"किसने कहा?"

"मैंने महाराज को कहते हुए सुना। वह ज्योतिषियों पर क्रुद्ध हो रहे थे कि उन्होंने मुझे तीसरा निमित्त भी दिखा दिया।"

"निमित्त कारण से कहते हैं? और क्या हुआ?"

"किसका कारण?"

"किसी वस्तु का भी। जैसे दिन का कारण सूर्य है।"

"क्या रात नहीं?"

प्रजावती के मुख पर कुछ उलझन झलकी। वह बोली—"मैं नहीं जानती।"

"जैसे मृत्यु का कारण जन्म है?" सिद्धार्थ ने कुछ विचारकर फिर पूछा।

प्रजावती ने अत्यंत उद्विग्न होकर कहा—"नहीं युवराज, हम तुम्हें इस प्रसूति-गृह के भीतर ऐसे अमंगल शब्दों का उच्चारण न करने देंगी। यदि तुम कोई दूसरा प्रकरण नहीं छेड़ सकते तो मौन रहकर हमारी बातें सुनो।"

युवराज ने फिर यशोधरा की ओर देखा। वह अभी तक नहीं जागी थी, उसी प्रकार सो रही थी।

सिद्धार्थ के मुख-मंडल पर चिंता का उदय देखकर महारानी बोलीं—"शरीर अस्वस्थ है प्रसूता का। बड़ी गहरी निद्रा में सो रही है। तुम्हें क्या कुछ कहना है उससे?"

कुछ अनुमति-सी मुख पर दिखाकर सिद्धार्थ ने कहा—"नहीं।"

"उन्हें विश्राम लेने देना चाहिए इसे।" प्रजावती ने कहा। सिद्धार्थ लौट गए।

आधी रात के उपरान्त जब प्रासाद स्तब्ध हो गया था, राजभवन में जब केवल प्रहरीगण ही जाग रहे थे, तब शाक्यकुल-भूषण युवराज भी जीवन और मरण के विचारों में डूबे हुए थे। आज उनकी गति-विधि पर अनुशासन रखने वाली प्रजावती अनुपस्थित थी।

कभी कक्ष में टहलते। कभी खुले हुए गवाक्ष से बाहर निशा की शून्यता में कुछ ढूँढते। कभी मंच पर बैठ जाते, दीर्घ श्वास लेते, और कभी फिर शय्या पर पड़ जाते। किसी प्रकार चैन नहीं कहीं पर शान्ति नहीं।

बड़ी विश्वास-पात्र और चतुर समझा-बुझाकर यशोधरा ने दो दासियाँ सिद्धार्थ की सेवा के लिये भेज रक्खी थीं। यशोधरा ने बड़ी विनय और आग्रह से उनसे सजग नींद खोने के लिये कह रखा था। दिन-भर की थकी हुई बेचारियाँ, शीघ्र ही उनकी आँखों में नींद घुस गई थी, और दोनों खर्राटे भर रही थीं।

युवराज द्वार खोलकर उपवन की ओर जाने के उद्देश्य से बाहर निकल आए। प्रहरी की आँख बचाकर सीधे अपने प्रिय और चिर-परिचित जामुन के पेड़ के नीचे चले गए।

प्रकृति में सर्वत्र ही भीत स्तब्धता छाई हुई थी। कभी-कभी पवन की मंद गति वृक्ष के पत्तों पर सरसराहट पैदा कर रही थी।

सिद्धार्थ ने वृक्ष के तने का सहारा लिया और मन में विचारने लगे—"फिर केवल एक मैं ही क्यों मृत्यु के दंश से विकल हो गया! सबके निर्भय होकर सभी चैन की नींद ले रहे हैं। मैं नहीं सो सकता। मैं इस दुर्भेद्य अंधकार को चीरकर उसमें कोई मार्ग निकालना चाहता हूँ। विश्वजाति की नींद में खोए हुए

जगत्! मैं तेरी ही पीड़ा से विकल हूँ। तू सो रह, मैं जागकर तेरी पीड़ा की औषधि का अनुसंधान करूँगा!"

किसी के पैरों की आहट ज्ञात हुई! उसके पश्चात् ही वह बिलकुल समीप आ गया सिद्धार्थ के। शांत-सौम्य मूर्ति, अपने ही प्रकाश से उज्ज्वल, उस अंधकार में स्पष्ट दिखाई देने लगा। वह काषाय वस्त्र पहने हुए था। उसके मुख पर आनंद था, और उसके हाथ में एक भिक्षा का पात्र।

"कौन हो तुम? तुम भी जाग रहे हो इस मूक निशा में? क्यों? किसलिये? पर व्याकुलता का कोई चिह्न नहीं है तुम्हारे मुख और तुम्हारी गति में। कौन हो तुम?"

"मैं एक श्रमण संन्यासी हूँ।" बड़ी मृदु और धीर वाणी से वह मनुष्य बोला।

"क्या तुम्हें अवगत नहीं, सारा जगत् जरा, व्याधि और मृत्यु के कठोर पैरों से दलित है।"

'जानता हूँ। इसीलिये तो यह चीवर और यह भिक्षा का पात्र धारण किया है कि उस वस्तु की खोज करूँ, जिस पर जरा का प्रभाव नहीं, जो व्याधि से मुक्त है और जिसने मृत्यु पर विजय पाई है।'

प्रसन्न होकर सिद्धार्थ ने पूछा—"मृत्यु का विजेता कौन है?"

"जिसने निर्वाण प्राप्त किया है, उसने मृत्यु पर ही नहीं, जन्म पर भी विजय पाई है।" श्रमण बोला।

सिद्धार्थ ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"तुमने पाई है वह विजय?"

"नहीं, मैं केवल एक यात्री-मात्र हूँ उस मार्ग का।"

"मैं आ सकता हूँ वहाँ?"

"सत्य और ज्ञान परिश्रम जिसने किया, उसने अवश्यमेव पाया उसे।

"मैं भी यह चीवर और भिक्षा का पात्र धारण करूँगा। मैं उस सत्य को प्राप्त करूँगा, जिस पर जरा का प्रभाव नहीं है। मैं सुख की खोज करूँगा, व्याधि-हीन और अविनश्वर। मैं इस अज्ञानमय जगत् में अचल, शाश्वत और शुद्ध सत्य का अनुसंधान करूँगा।" सिद्धार्थ असहाय-से होकर उस अंधकार में इधर-उधर टटोलने लगे—"पर किधर है पथ?"

"सर्वत्र ही है पथ। जैसे सूर्य के मंडल में से किरणें फूटकर निकलती हैं उसी प्रकार सबमें ही। केवल भ्रम छोड़कर एक ही दिशा में निरंतर प्रगति करते रहना ही पथ की प्राप्ति है। प्रत्येक पथ का मार्ग नहीं यही भ्रम है।"

"तुम्हें नमस्कार है भगवन्! तुमने मेरा अपना द्वार अनावृत कर दिया! किंतु—" युवराज ने विचार करते-करते जिज्ञासा-मुद्रा ग्रहण की। माता पिता, पत्नी, पुत्र सखा, सहचर, मित्र, लोगों के बंधन उनके चारों ओर नाचने लगे।

"तुम रुक गए क्यों? तुम शुद्ध बुद्ध हो। तुम्हारी वाणी मेघ की गर्जना में अशांत और अतृप्त जगत् के अंधकार और अज्ञान में सत्य के सूर्य का प्रकाश करेगी। उठो, प्रवृत्त होओ।"

"राज्य-भोग, सुख-विलास, इसे सदा ही साधारण दृष्टि से देखा है, परंतु पिता और परिजन?"

"क्या जरा-मरण ने इनके बंधनों को दुर्बल नहीं कर रक्खा है? सारा जगत् सूक्ष्म होकर तुम्हारे मन में सुप्त है। प्रवृत्ति और त्याग वे एक ही भावना के दो सिरे हैं।"

"तुमने मुझे नवीन स्फूर्ति से भर दिया। मेरे मन के भीतर चमकते हुए तारक पर के समस्त आवरण हटा दिए। कौन हो तुम?"

"मैं असित ऋषि का शिष्य हूँ। तुम्हारे पुत्र का आशीर्वाद

देने आया था। मुझे रात ही में उठकर चले जाने की राजाज्ञा हुई थी। मैं जा रहा हूँ।' ऋषि ने सिद्धार्थ का हाथ छोड़कर परिक्रमा की ओर चले गए।

''इस राजभिक्षा का नाम हमने सुख रखा है। हम आज रमणियों की कड़ियों को बढ़ा-बढ़ाकर हमने अपने बंधन के लिये क्या न सजाई नहीं जोड़ी हैं। केवल एक पात्र और एक वस्त्र! और चाहिए ही क्या? माँगने के लिये वस्त्र का छोर और खाने के हेतु पात्र।" एकाएक उन्होंने कुछ और सोचा—"अभी क्यों न चला गया मैं उस समय के ही साथ। उसके लिये द्वार खोलने की आज्ञा मिली होगी। उसकी छाया में मिलकर क्या मेरी भी निष्कृति नहीं हो सकती?" वह उषा को कह गए एक-दो पग। रुक गए। "जिन्हें त्यागकर जाना है उनसे कहना तो उचित है न?" राजमहल की ओर फिर गए युवराज।

प्रसूति-गृह में जाकर देखा, प्रसूता शय्या पर पड़ी हुई जाग ही रही थी। सिद्धार्थ ने चुपचाप बाहर से देखा।

प्रसूता उनकी आहट पा गई, बोली—'कौन?'

सिद्धार्थ भीतर उनके पास चले गए—'मैं हूँ यशोधरा! सिद्ध कहाँ है?'

यशोधरा आज्ञा पाकर उठ बैठी शय्या पर। मन में सोचा इसने—"इन्हें बालक की ममता खींच लाई इस बार क्या?" सिद्धार्थ से कहा उसने—"महारानी की रक्षा में है। मेरी नींद में बाधा पड़ने के कारण वह उसे अपने कक्ष में ले गई है।"

"फिर भी तुम जाग ही रही हो? मैं पहले भी आया था, तब तुम नींद में अचेत थीं।' सिद्धार्थ ने बहुत धीरे-धीरे कहा—"तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।"

भूमि पर यशोधरा की सेवा के लिये नियत कई दासियाँ पड़ी हुई सो रही थीं।

कुछ पल प्रतीक्षा करने पर भी जब सिद्धार्थ ने आगे जिह्वा न खोली, तो यशोधरा ने पूछा—"क्या कहना चाहते हो ?"

बड़े शांत और करुण भाव से युवराज बोले—"बड़ा भयानक स्वरूप दिखाई पड़ा मुझे इस संसार का। हमारा समस्त सुख-विलास, सुहाग-अनुराग, स्नेह-संबंध सब नाशवान् है। जल-बुद-बुद पर पड़े हुए प्रकृति के प्रतिबिंब के समान क्षणिक। हम अपनी सारी विभूति और सारा बल लगाकर न अपने को बचा सकते हैं न अपने मित्र और परिजनों को।"

यशोधरा ने हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया सिद्धार्थ के चरणों की ओर "तुम्हारे चरणों की शरण हूँ युवराज! मैंने रात में बड़ा भयानक स्वप्न देखा है।"

"मैंने यौवन पर जरा के दंश देखे हैं, मैंने सुख पर व्याधि का विकट-आक्रमण देखा है, और देखे हैं मैंने मृत्यु के तीक्ष्ण और कठोर नखों पर जीवन के चीथड़े!"

"मुझे भय लगता है, तुम ऐसी बातें और न करो युवराज! मैं स्वयं ही उस स्वप्न की स्मृति से व्याकुल हूँ।"

"क्या स्वप्न देखा तुमने?"

"मैंने देखा बड़े वेग से आँधी चली, भीमकाय मेघों ने उमड़कर सारी धरती ढक ली। पृथ्वी चालित पेड़े के पत्ते के समान थरथराने लगी। ग्रह-नक्षत्र अपने-अपने केन्द्रों से च्युत होकर इधर-उधर टूट पड़ने लगे। उस प्रलय और भूचाल में मैंने देखा, आपका मुकुट आपके मस्तक पर से गिर पड़ा, और छत्र टूटा हुआ उड़ा गया। मैं उसे पकड़ने को दौड़ी, उसकी गति को न पा सकी। वह विशाल शिलाओं में टकराकर चूर-चूर हो गया।"

बड़े मनोयोग से सिद्धार्थ सुन रहे थे। हँसते हुए बोले—"एक सरल सत्य है, वह केवल इतना ही है, तुमने कई शताब्दियों को वर्षों में देखा। क्या निरंतर एक आँधी नहीं चल रही है, अखिल जड़ और चैतन्य प्रकृति में व्याप्त। क्या काल के कराल कर ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं को धूलि में नहीं मिला रहे हैं। बड़ी-बड़ी राज्य-सत्ताएँ छिन्न, राज-वंश क्या उसके प्रभाव से भूमिसात् नहीं हो रहे हैं। बसते घर उजाड़ती है, मिटते हुए दिखाई भी नहीं देते। एक तुच्छ मनुष्य, महाकाल की दृष्टि में एक चींटी से भी नगण्य सिद्धार्थ, उसके मुकुट को जो तुमने धूल-धूसरित होते हुए देखा, वह यथार्थ है। क्या समय का भारे-से-भारी भार उसको खींच करता हुआ नहीं ले जा रहा है आगे को?"

यशोधरा अधरों पर दीर्घ श्वास और छाती पर हाथ लेकर दिग्-दिगन्तों में अधीरता से देखने लगी।

'धीरज को मत छोड़ो यशोधरे! यह सृष्टि का नियम है, एक के लिये नहीं, सभी के लिये है। फिर इसका क्या भय, क्या दुःख!"

यशोधरा ने कुछ चकित होकर सिद्धार्थ को देखा।

"हाँ-हाँ, मेरे वे शोक, चिन्ता, अश्रु निःश्वास, आतंक और संशय के सब अवसित हो गए!'

यशोधरा ने और भी स्तब्ध होकर युवराज पर दृष्टि गड़ाई।

"क्या देख नहीं रही हो? जहाँ अंधकार निवास करता था, आज वहाँ प्रकाश की खोज के लिये उत्साह उत्पन्न हो गया। जिन आँखों में संसार की नश्वरता के आँसू थे, वे शाश्वत चिरन्तनता के दर्शन के लिये आग्रह से भर उठी हैं। हे यशोधरे! परिताप के पीछे अनन्त शांति, इस अंधकार के पीछे अखंड ज्योति!'

"तुम्हारी प्रसन्नता में मैं अपनी समस्त वेदना भूल गई। भगवान्

बड़े सहज हैं। आज मेरी आकांक्षाएँ फलवती हुईं।" यशोधरा ने मुस्कराहट से कहा।

"परंतु यहाँ बैठे-बैठे कुछ नहीं हो सकता सुंदरी! कुछ पाने के लिये कुछ खोना ही पड़ेगा।"

यशोधरा के प्रसन्न-दीप्त मुख पर भी भौंहों में बल पड़े—"क्या, क्या, मैं फिर काँप उठी हूँ। तुम्हारा स्पष्ट अर्थ क्या है?"

"मुझे जाने दो।"

"कहाँ?" यशोधरा ने उनका हाथ पकड़ लिया।

"दूर जगत् के संघर्ष से दूर, एकांत में।"

"क्यों? किसलिये?"

"उस सत्य की खोज के लिये।" वह आशा-भरे हृदय से युवराज बोले—"मैं उसका अनुसंधान करूँगा, वह मुझे मिलेगा। जन और जनपदों से दूर एकांत में मैं उसके दर्शन करूँगा। गहन और शून्य वन-प्रांतों में मैं उसकी छाया का छोर पकडूँगा।"

"नहीं, किसी प्रकार नहीं। मैं जाने न दूँगी।" अत्यंत अधीर होकर यशोधरा बोली।

"यह तुम्हारा तुच्छ मोह है। सारा संसार जरा व्याधि और मरण से परितापित है। मैं उसकी शांति के उपाय ढूँढने जा रहा हूँ। तुम्हें पति को इस महान् प्रवास पर प्रोत्साहित करना उचित है या इस प्रकार उसके पथ को रोक लेना?" सिद्धार्थ बोले।

"युवराज, तुमने मुझे जीवन-मरण की संगिनी बनाया है, इसके लिये पवित्र प्रतिज्ञा की है। तुम मुझे छोड़ नहीं सकते।

"सातों प्राचीरों के रक्षक स्वयं ही सुप्त गत हैं यशोधरे! मैंने चारों निमित्तों को देख लिया है। अब कौन मुझे बंधन में रख सकता है?"

"मुझे भी अपने साथ ले चलो।"

"नहीं, यह असंभव है।" सिद्धार्थ जाने लगे।

"प्रिय के बड़े हाथ से अभी नहीं जाने पाओगे।" यशोधरा ने झपट कर बढ़ते हुए सिद्धार्थ का हाथ पकड़ लिया।

दासियों की नींद टूट गई थी कोलाहल सुनकर, पर वे आँखें बंद किए ही, नींद का बहाना कर पड़ी रहीं।

"नहीं यशोधरे! स्वल्प स्वार्थ का त्याग करो। सारा जगत्, व्याकुल तृष्णा से मेरी ओर देख रहा है, मैं उसकी तृप्ति के लिये अमृत की खोज में जा रहा हूँ, जाने दो।"

"जा रहा हूँ!" रुदन के स्वर में यशोधरा ने पूछा।

"हाँ, प्रियप्राणेश्वरि! मुझे तप के लिये कुछ भी समझ करना नहीं है।" युवराज ने कहा।

यशोधरा ने दासियों को जगाते हुए कहा—"और तुम क्या जाग नहीं रही हो, उठो उठो, युवराज जा रहे हैं। रोको उन्हें, न जाने दो।"

दासियाँ आँखें मलती हुई उठीं, और घबराकर बोलीं—"क्या है युवराज्ञी!"

"जाओ, तुममें से एक जाकर महाराज को सूचित करो। कहो, युवराज न-जाने कहाँ को जा रहे हैं।" यशोधरा ने कहा।

सिद्धार्थ स्थिर ही खड़े-खड़े हँस रहे थे।

यशोधरा कहती जा रही थी—"दूसरी जाकर महारानी को सूचित करो। जाओ-जाओ, सभी द्वार सचेत हो जायँ, और द्वार बंद। शीघ्रता करो।"

युवराज ने हँसकर जाती हुई दासियों को रोक लिया। उन्होंने यशोधरा से कहा—"क्या हो गया तुम्हें? ऐसी पगली-सी क्या हो गई तुम? अभी थोड़े जा रहा हूँ मैं? महाराज से और महारानी से परामर्श करना है, और उनकी आज्ञा लेनी है।"

यशोधरा को कुछ धीरज हुआ।

"जाओ, विश्राम करो। दासियो! तुम भी। मैं अपने कक्ष में जाऊँगा।" कहकर युवराज अपने कक्ष की ओर चले गए।

यशोधरा के मन में शांति कहाँ! उसने दासी से पूछा—"रात कितनी बीत गई?"

एक दासी बाहर जाकर आकाश में ग्रहों की स्थिति देख लौटी, बोली—"अभी आधी रात है।"

सब सोने लगे, पर यशोधरा की आँखों में नींद कहाँ! उसने कुछ ही देर पश्चात् एक दासी को बुलाकर कहा—"जा देख आ दासी युवराज क्या कर रहे हैं। कहीं चले तो नहीं गए?"

"जायेंगे कहाँ? इस शून्य और तम की भरी रात में?" दासी बोली।

"यह मैं भी जानती हूँ। पर मेरा दुर्बल मन आशंकाओं से भर गया है। तुम्हें मेरे ऊपर दया करनी चाहिए दासी!"

दासी ने हाथ जोड़े—"ऐसी बात आप क्या करती हैं स्वामिनी हम आपकी सेविका हैं।" वह युवराज के कक्ष की ओर चली गई।

युवराज संकल्प-विकल्पों में करवटें-बदलते जाग ही रहे थे अपने कक्ष में। बाहर कुछ आहट पाकर बोले—"कौन है?"

"मैं हूँ दासी। युवराज्ञी ने भेजा है मुझे आपके पास।" घबराकर दासी बोली।

"किसलिये?"

"केवल देख आने के लिये।"

हँसने लगे सिद्धार्थ।

दूसरे दिन भोर होते ही युवराज महाराज के सामने जाकर बोले—"महाराज, मैं चारों निमित्त देख चुका हूँ।"

"चौथा निमित्त भी?" बड़े आश्चर्य में महाराज ने पूछा।

"हाँ महाराज !"

सिर पीट लिया महाराज ने ।

"दुःख का अवसर ही क्या है महाराज ! निमित्तों के दर्शन से आपके पुत्र का कुछ भी अहित नहीं हुआ ।"

"तुमने चौथा निमित्त देखा ? कहाँ देखा ? क्या देखा ?" बड़ी बेचैनी और दुःख के स्वर में शुद्धोदन ने पूछा ।

"यहीं देखा महाराज ! बड़ा सौम्य और शांत रूप । उसने अभी से आ मेरा हाथ खींचकर इस राजमहल में से बाहर निकाल लेना चाहता है, यही है महाराज !"

"है ! है ! तुम यह क्या कह रहे हो ?" कहकर सिद्धार्थ का हाथ पकड़ लिया उन्होंने ।

"मैं भिक्षु बनकर वन और पर्वतों में निवास करना चाहता हूँ ।"

शुद्धोदन ने युवराज के कन्धों पर हाथ रख दिया — "नहीं, नहीं, तुम हमारी वृद्धावस्था के आलोक हो ।"

"सारे जगत् पर वृद्धावस्था मँडराई हुई है । सारा जगत् अंधकार में व्याप्त है । मैं आपके लिये ही नहीं सबके लिये प्रकाश की खोज करूँगा ।"

"युवराज ! सिद्धार्थ ! तुम्हें हमारा त्याग उचित नहीं है । तुम्हारी यह अवस्था योग-वैराग्य के लिये नहीं है ।"

"जब यौवन जरा से दूषित होकर अंत क्षीण हो जायगा, तब फिर क्या हो सकता है । मेरा आत्मसंकल्प स्थिर है महाराज ! अब यह किसी प्रकार किसी से विस्मृत नहीं किया जा सकता ।"

"हाय ! तुम्हारा यह कोमल शरीर कैसे विजन के कष्टों को सहन करेगा ?"

"निरंतर अभ्यास से पिताजी ! हमारे अभ्यास ने ही ठूँठों में अंकुर उपजाया है ।

"तुम्हारे क्या अभाव है ? राज्य है, राजकोष है राजसदन है सर्वगुण-संपन्न, सुलक्षणा युवराज्ञी है, देवकुमारों-सा कांति-युक्त पु भगवान् ने तुम्हें दिया है। माता-पिता हैं, सदैव तुम्हारे सुख लिये क्रियाशील, भाई-बंधु हैं सेवा और सहायता के लिये।"

"मैं अपना सुख नहीं चाहता महाराज ! मैं तो प्राणि-मात्र सुख के लिये चिन्तित हूँ। ये राज्य और सर्वस्व सब क्षणिक हैं, क्ष हैं। मैं उस अनंत सुख को खोजना चाहता हूँ, जिसे पाकर फिर को किसी वस्तु की तृष्णा न रहेगी।"

"जहाँ जो कुछ तुम चाहते हो मैं वही दूँगा।"

"देंगे आप ? तब मैं यहीं रहूँगा।"

"हाँ दूँगा।" आशा में भरकर महाराज बोले।

"दीजिए, तब जरा-विहीन यौवन दीजिए, रोग-मुक्त काया दीजिए और मृत्यु-रहित जीवन। दे सकते हैं आप ?"

"कौन दे सकता है, ह्रास तो प्रकृति का नियम है।"

"बस तब हो गया महाराज ! धन और वैभव जिस सुख को प्र नहीं कर सकता मैं उसी की खोज में जा रहा हूँ। आप अब मुझे बंधन में नहीं रख सकते। ये सख्तों दीवारें आज मेरे सामने एक एक ईंट होकर गिर पड़ी हैं।"

शुद्धोदन रुदन करने लगे—"हा वत्स ! तुम्हारा मुख देखकर—' उनका कंठ अवरुद्ध हो गया।

उस करुण वातावरण में बड़े धीरे कदमों से प्रजावती ने प्रवेश किया। पति का देखकर उसकी आँखें भी अश्रु-पूर्ण हो गईं। को स्नेह-मंद्र स्वर में उसने कहा—"युवराज !"

"हाँ महारानी !" पीठ किए हुए सिद्धार्थ बाहर मूक प्रकृति को देख रहे थे। उसी प्रकार बोले।

"तुम क्या करना चाहते हो ?"

"जो हाथ अंधकार-प्रकाश, विकास-विनाश, मिलन-विरह दुःख-सुख और जन्म-मरण का चक्र चला रहे हैं, उनको पकड़ना चाहता हूँ। यदि मेरी साधना सफल हुई, तो तुम धन्य होओगी। मेरे पथ में बाधा न हो।" सिद्धार्थ ने माता-पिता दोनों के चरणों का स्पर्श किया—"मुझे प्रसन्न मन से आशीर्वाद देकर विदा करो।"

प्रजावती उच्च स्वर से रोने लगी।

माता के आँसू अपने उत्तरीय से पोंछते हुए सिद्धार्थ ने कहा—"कैसा तुच्छ स्वार्थ है तुम्हारा!"

प्रजावती ने उनके कंधे पर हाथ रखकर कहा—"अभी न जाओ, अपने पुत्र के बड़े होने तक न जाओ।"

"विचार बहुत दृढ़ होकर बहुत दूर चला गया है। कर्म को उसका अनुसरण करना ही पड़ेगा। आयु के प्रत्येक पग की ओर से जीवन की संधियाँ टूटती चली जा रही हैं। मैं अब सो नहीं सकता। मैं अब जाग्रत् हूँ और बोधित्व को प्राप्त कर सारे संसार को जगाऊँगा।" सिद्धार्थ बाहर की ओर चले गए।

महाराज ने कहा—"देखा देखा महारानी! हमारा युवराज अभी तो नहीं चला जायगा!"

आँसुओं के वेग को थामकर महाराज राजसभा में गए, और उन्होंने दुर्ग में चारों ओर के प्रहरियों को अत्यंत सावधानी से काम करने का आदेश भिजवाया।

महारानी ने युवराज को कक्ष में जाते हुए देखा। उनका अनुसरण किया उसने। एक दासी से बातें कर रहे थे वह।

दासी—"आप कहाँ जा रहे हैं?"

युवराज—"सभी तो जा रहे हैं, सब विनाश की ओर, सब मरण की दिशा में। यौवन और विकास केवल एक चमक है। जिस क्षण उपजती है, उसी में मिट जाती है।"

दासी—"महाराज और महारानी को दुःख देना उचित नहीं आपको, और कुछ नहीं जानती मैं। सब सुना मैंने। और फिर वह भोली-भाली युवराज्ञी और वह नवजात कुमार! युवराज! बड़े कठोर हो गए तुम, किसी की दया-माया नहीं तुम्हें। वे सब तुम्हारे जाने पर किसके आधार पर जिएँगे?"

युवराज—"दासी मृत्यु का कोई निश्चय नहीं है, इस बात को जानती हो न तुम?"

दासी—"हाँ।

"कोई मनुष्य किसी समय भी मृत्यु को प्राप्त हो सकता है।"

"हाँ।"

"मैं अपवाद नहीं हूँ। युवराज, महाराज, सम्राट कोई भी अपवाद नहीं होता। जाऊँगा ही, केवल एक मृत्यु रोक सकती है, और कोई नहीं। आज न जाऊँगा यह निश्चय है।"

दासी चली गई। मार्ग में उसे आती हुई महारानी मिलीं। उसने उनका अनुसरण किया।

कुछ क्षण पश्चात् छंदक ने प्रवेश किया सिद्धार्थ के कक्ष में।

"आओ छंदक! खिड़कियों का भेद तुमने खोला मुझ पर। मान-सिक बन्धन सब टूट गए हैं—ये द्वार भी खुल जायेंगे।"

सिद्धार्थ के हाथों में छंदक ने एक अँगूठी रक्खी।

"क्या है यह?" पूछा उन्होंने।

"अमित ऋषि के शिष्य ने यह अँगूठी आपको दी है। बहुत सावधानी से छिपाकर इसको रखा करने को कहा है। यह आपके काम आयेगी। मैं रात उन्हें पहुँचाने गया था।"

"यह किस काम की है मेरे?"

"यह राजमुद्रिका है। इसे दिखाकर प्रहरियों ने उनके लिये द्वार खोल दिए थे।"

"मेरे लिये भी खोल देंगे ?"

"हाँ, इसे दिखाने पर।"

"तुम धन्य हो छंदक ! तुम मुझे भी पहुँचा दोगे इस कारागार के बाहर ?"

"महाराज—"

"महाराज कुछ न कहेंगे। होनहार प्रबल है। तुम पाँचवें निमित्त हो।"

"सेवक को क्या आज्ञा है ?"

"शीघ्र बताऊँगा छंदक !"

युवराज के पुत्र-जन्म के सातवें दिन की बात है। प्रभात-समय एक उद्बोधन-गीत ने उनकी नींद तोड़ी।

कोई गायिका गा रही थी, मनोहर तन्मयता के साथ—

विश्व का हरो दैन्य-भार,
विकलों में है हाहाकार।
जग का त्रास, जन्म का मरण,
कर रहे हैं पग-पग अनुसरण।
एक छाया सा है आवरण
स्वप्न है सारा जग व्यापार,
विश्व का हरो दैन्य-भार।
स्वार्थ-रत मानव हीन विवेक,
एक का शत्रु हुआ है एक।
व्याप्त सर्वत्र, दुःख अतिरेक
खोल दो अब करुणा के द्वार।
विश्व का हरो दैन्य-भार।

"कौन गा रहा है यह ? लगता है, केवल मेरे ही उद्देश्य से।" युवराज ने बड़ी एकाग्रता से यह गीत सुना। एक अभूतपूर्व

उत्साह उसके हृदय में भर गया। उसके मुख से सहसा निकल पड़ा—"सिद्धार्थ, तू आज जायगा !"

आज पौत्र के जन्म के सातवें दिन महाराज ने विशेष उत्सव का आयोजन कर रक्खा था। प्रभात-समय से ही राजभवन में चहल पहल आरंभ हो गई थी।

गायिका गा ही रही थी अभी—

सुखमय है तुमसे जग-प्रांत,
मनोहर प्रकृति, सकल दृगंत।
दीन-दुखियों की रक्षित भ्रांत,
हुई है भीत पुकार-पुकार।
विश्व का हरो वेदना-भार।

युवराज ने कक्ष के बाहर आकर देखा उस गायिका को। संकेत से बुलाया अपने पास।

गायिका स्मितानन से दीपती हुई चली आई युवराज के पास, और हाथ जोड़कर खड़ी हो गई।

"बड़ा मधुर गीत गाया तुमने !"

गायिका ने ग्रीवा के भार से मस्तक विनत किया।

"कदाचित् आज ही प्रथम बार ?"

गायिका ने सम्मति व्यक्त की मूक रहकर ही।

"तुम नवीना तो नहीं हो, तुम्हें देख रक्खा है बार-बार। फिर आज ही तुमने गाया। क्या सीखा है यह गीत ?" युवराज ने पूछा।

"नहीं युवराज ! बहुत दिनों का कंठ किया हुआ है।"

"किसी ने कहा था इसे गाने को ?"

"नहीं, केवल अंतःप्रेरणा युवराज !"

"अभी और गाने को कुछ शेष है गीत ?"

"हाँ।"

"गाओ गाओ, बड़ा सुंदर है !"

गायिका फिर गाने लगी—

प्रिया का तन हो यह शुभ गात्र
राज का अंतःपुर आगार।
अलक के गुच्छ प्रसव प्रचार'
कुछ क्षण आओ राजकुमार,
मिलन का हरो वेदना-भार।

"सारा संशय गया ! मैं ही धन्य हूँ !"

"मैं नहीं जानती।"

'मेरे पथ पर और भी आलोक बढ़ा दिया तुम्हारे गीत ने। मेरे मन में प्रचुर विश्वास उत्पन्न हो गया मैं सफल होऊँगा उसे प्राप्त करने में। मेरे सारे बंधन छिन्न हो गए, और मैं संसार के दुःख कातर-कातर प्राणियों की वेदना हरण करूँगा, जो बड़ी आशा से मेरी ओर देख रहे हैं।' कहकर युवराज ने अपने गले का रत्नहार निकालकर उस गायिका को उपहार में दे दिया।

गायिका कृतकृत्य होकर चली गई।

सिद्धार्थ को ऐसा प्रतीत होने लगा, जैसे यह पुरी उनका प्रवास है। अ-जाने किस अज्ञात-अपरिचित शून्य एकांत को वह अपना घर समझने लगे। बहुत दिनों के प्रवास पर घर को लौट जाने का जो हर्ष किसी को होता है, वैसा ही वह अनुभव करने लगे।

दिन-भर बड़ी प्रसन्न मुद्रा में वह पुरी के एक-एक लता-कुंज, एक-एक पशु-पक्षी से मूक विदा लेने लगे। इष्ट-मित्र, भाई-बंधु, माता-पिता उनके हर्ष और उमंग को देखकर समझने लगे कि सिद्धार्थ के मन में सुख का भाव उत्पन्न हो गया।

छंदक के पास जाकर सिद्धार्थ ने कहा — 'छंदक, वह शुभ घड़ी आ गई है आज।

"कौन-सी ?"

"अब तुम मेरी सहायता करोगे। तुमने वचन दिया है, इसके लिये।"

छंदक उदास होकर मूक हो गया।

"मेरे प्रिय घोड़े कंथक को लेकर तुम दुर्ग के बाहर मेरी प्रतीक्षा करो बंधु! संशय-भय सब दूर कर दो। बड़े उज्ज्वल भविष्य ने मुझे पुकारा। मैंने उसे सुना और समझा और आज मैं उसके निकट चला जाऊँगा। प्रत्येक कंकड़ ने झुककर मेरे मार्ग पर सूख लगाया है, और प्रत्येक छोकर मेरे स्पर्श से पुष्पों में परिवर्तित हो गई। यही शुभ का दिन है आज का छंदक! तुम बोलते क्यों नहीं ?"

छंदक ने डबडबाई हुई आँखों से युवराज की ओर देखा।

"मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा। जहाँ-जहाँ जाओगे वहाँ-वहाँ साथ रहूँगा।"

"कुछ दूर तक चलोगे छंदक अवश्य। जाओ मेरा कहना मानो।" कहकर युवराज ने उसे विदा किया।

धीरे-धीरे रात्रि उतरी उस उत्सव से सुवासित राजभवन पर। सहस्रों दीप-शिखाओं से प्रासाद ज्योतिर्मय हो उठा। नृत्य-गीत और आमोद-प्रमोद की अविराम लहर बहने लगी।

मिदिरों का रोक-टोक कुछ भी नहीं था। राज्य के समस्त दीन-दुखियों को राज दंपति मुक्त हस्त से अन्न-वस्त्र रत्न-धन दान कर रहे थे।

भोजन के उपरांत युवराज का कक्ष नायिकाओं से भर गया। वे अपने हाव-भाव नृत्य-मुद्रा, गीत-वाद्य से नाना प्रकार के रमोद्दीपन की चेष्टायें कर रही थीं सिद्धार्थ के मन में। सिद्धार्थ के अनुराग से विमुख सिद्धार्थ अवश्य ही उनके परिश्रम में मनोरंजित हो रहे थे। नर्तकियाँ उन्हें आकृष्ट समझकर उत्साह-पूर्ण हो उठीं।

रात के दूसरे प्रहर के आरंभ होते-न-होते गायिकाओं ने देखा, युवराज गहरी नींद में सो गए।

एक बोली—"जिनका मनोरंजन कर रही थीं, वह तो सो गए! हो गया बस।"

दूसरी ने कहा—"हाँ, अब व्यर्थ के परिश्रम से क्या काम? यही नींद-सुख अब उनके विश्राम का साधन हो सकता है। हम भी तो बहुत थक गई हैं।"

अत्यंत थकी-सी थीं वे। सिद्धार्थ की नींद ने तो सहसा विश्राम का भाव डाल दिया उन पर। उन्हीं वस्त्र और अलंकारों में सो गईं वे, भूमि पर के बिछावन में। अंगों को भी ठीक प्रकार से सँभालकर रखने की सुधि न रही उन्हें। वे गहरी नींद में अचेत हो गईं और नाक-मुख से ऊँचे-नीचे आकारों पर के वस्त्र और तलवार बजाने लगीं।

सिद्धार्थ की आँखों में नींद कहाँ! नेत्र मूँदकर मानसिक आनंद में वह अपने निष्क्रमण का मार्ग निकाल रहे थे। आँखें खोलकर उन्होंने देखा सब गायिकाएँ अस्तव्यस्त बेसुध पड़ी हैं।

धीरे धीरे उठे वह। एक बार दृष्टि डाल अपने मन में बोले—"कैसा भयानक दृश्य है। अभी कुछ समय पहले ये अपने अंग-विक्षेप और कटाक्ष-विक्षेप से अपनी रमणीयता बढ़ा रही थीं। पर अब इस समय कोई विवसना है किसी की कबरी ने बिखरकर अत्यन्त भयावना रूप बना दिया। किसी के मुख से लार चू रही है, और अनेक पसीने में लथपथ हैं। कैसा बीभत्स दृश्य है! किसी के दाँत कटकटा रहे हैं, और किसी की नाक बज रही है। ओह! क्या इसी शरीर पर हमने मनोहारी रूप की कल्पना की है! नहीं, नहीं। और भी यदि सूक्ष्म दृष्टि से हम देखें तो क्या यह काया मूत्र-पुरीष, कफ-थूक, रक्त और हड्डियों के समुच्चय का नाम नहीं

है। मानव! तू भूल गया! जीवन के उंतीस वर्ष एक रात के स्वप्न-से काल की तरंगिणी में डूबकर न-जाने कहाँ को बह गए!— अब नहीं! यह कैसी निस्तब्ध रात्रि है! अब जाना ही उचित है मुझे।"

सिद्धार्थ कक्ष के बाहर चले। मार्ग में सोचने लगे—"उसे भी देख लूँ जाते-जाते। न-जाने कब फिर भेंट हो। होगी भी या नहीं? नहीं जानता।"

प्रसूति-गृह के निकट जाकर विचारने लगे—"नहीं कोई जागता होगा। देख तो लूँ।" द्वार खुला था। बाहर ही से देखा—सो रही है, स्वप्नों में खोई हुई! नहीं जानती क्या हो रहा है।— है, यह क्या! मेरे मन में मोह बढ़ने लगा। शिशु को देख लेने की इच्छा हो गई! यशोधरा से दो बातें कर लेने की कामना उत्पन्न हो गई। नहीं, नहीं, नहीं। मेरा संकल्प दृढ़ है, और इस रात की छाया में मेरे सारे बंधन शिथिल हो गए! तात-मात, सुत-वनिता, बंधु-बांधव, दास-दासी, सबसे विदा! कपिलवस्तु से विदा! जन्म-भूमि से विदा। अब सारी धरती मेरी जन्म-भूमि हो जायेगी, और मेरे भाव समस्त विश्व में फैल जायेंगे।"

चल दिया वह शून्य और अनंत का पथिक। राजभवन के बाहर मार्ग पर आया। उसने पीछे फिरकर फिर नहीं देखा।

"सात द्वारों तक मेरा मार्ग निश्चित है। यह मुद्रिका खुल कर देगी उन्हें। उसके पश्चात्?—विदा कंथक से जायगा।"

एक-एक कर सातों द्वार खुल पड़े! प्रहरी ऐसे मोह में पड़ गए थे। उन्होंने जानेवाले को नहीं पहचाना, केवल अँगूठी पहचानी।

दुर्ग के बाहर पहुँचते ही कंथक उच्च स्वर से हिनहिना उठा।

"हाँ, मैं आ गया कंथक!"

छंदक बोला—"युवराज!"

"अब कैसा राज और कैसा युवराज छंदक! हम देर के लिये डरते होगे। वह भी उतर जायगा। अब कोई पल गँवाना नहीं है, चलो। तदनन्तर सिद्धार्थ ने अश्वारोहण किया। आओ तुम भी बैठ जाओ।"

छंदक भी घोड़े के पिछले भाग में बैठ गया।

संकेत पाते ही कंथक हवा से बातें करने लगा।

---

१० अनोमा-तट पर

तूफ़ानी-रात में कंथक शाक्य-राज्य और वैशाली-राज्य अतिक्रमण कर मल्ल-राज्य की सीमा पर जा पहुँचा। अनोमा-नदी मार्ग में पड़ी। कंथक छलाँगकर पार हो गया। उसने अनोमा के उस तट पर पहुँचकर सिद्धार्थ ने घोड़ा रोक दिया। दोनों उतर गए। वे कपिलवस्तु को लगभग ३० कोस पीछे छोड़ आए थे।

बालुका-राशि पर खड़े होकर सिद्धार्थ ने कंथक की पीठ थपथपाई—"तुमने अपने प्राणों को तुच्छ समझकर जिस वेग से मुझे यहाँ पहुँचाया वह स्तुत्य है। बहुत दूर लाकर तुमने मुझे छोड़ दिया। कपिलवस्तु के जो कर्मचारी मुझे ढूँढ़ने यहाँ आयेंगे, उनके आने से पहले ही मैं उनके परिचय से बाहर होकर किसी कुटीर में जा बसूँगा।"

छंदक की आँखों से लगातार आँसू गिरने लगे। वह हाथ जोड़कर खड़ा था सिद्धार्थ के सामने।

"क्यों छंदक, इस सुहावनी प्रभात-वेला में तुम क्यों मोह भर रहे हो! लो, ये मेरे अलंकार। इन्हें लेकर कपिलवस्तु को लौट जाओ, और जाकर मेरे जाने के समाचार दो। सारी राजधानी निस्सीम शोक-सागर में डूबी होगी।"

"मैं आपके ही साथ चलूँगा युवराज!"

"तुम फिर भूले छंदक! युवराज कपिलवस्तु में है।" सिद्धार्थ ने अपने मस्तक का मुकुट निकालकर छंदक को देते हुए कहा—"कहो, युवराज बड़ा होकर इस मुकुट को पहनेगा।"

छंदक ने कंपित करों से वह मुकुट सँभाला।

सिद्धार्थ ने कमर से खड्ग निकालकर कहा— 'और लो यह खड्ग।" पर रुक गए—"ठहरो, यह काम-पाश किस लिये।' उन्होंने कंधे पर लटकती हुई लटें उस खड्ग से काट डालीं। अब इनसे कैसा शृंगार!" उन्होंने खड्ग भी छंदक को दे दिया, और अपने अंग पर के आभूषण उतारने लगे। छंदक उच्च स्वर से रोकर उस वन की शांति को निनादित करने लगा।

"तुम पागल हो गए क्या छंदक! मैं अकेला ही जाऊँगा। तुम्हें कपिलवस्तु को ही लौट जाना उचित है। जाओ, जाकर महाराज और महारानी को मेरे समाचार दो। उन्हें धीरज बँधाना, कहना सिद्धार्थ कुछ ही समय में, ज्ञान प्राप्त कर उनके दर्शन करेगा। जाओ, ये आभूषण उन्हें दे देना। कंथक को भी वहीं पहुँचाना है।" कहकर सिद्धार्थ ने छंदक को अपने आभूषण सौंपे।

छंदक सब वस्तुएँ सँभालने लगा।

"तुम बहुत समझदार हो छंदक। तुम सेवक होकर भी सदैव ही मेरे सहचर होकर रहे हो। विश्वास रखो, मैं जिसकी खोज में जा रहा हूँ, यदि वह मुझे मिल गया, तो उसमें तुम्हारा भी भाग निश्चित है।" कहकर उन्होंने पैर का खड़ाऊँ भी उतार दिया। छंदक जाने के लिये प्रस्तुत हुआ। उसने सिद्धार्थ के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। वह सिसक-सिसककर रोने लगा।

"सारी कपिलवस्तु इस समय मुझे तुममें ही केंद्रीभूत दिखाई दे रही है। अभी तक तुम्हारे साथ रहने से गृह-त्याग की भावना प्रबल नहीं हुई थी।" कहते-कहते उस वीतराग नवीन सन्यासी का भी गला भर आया। कुछ देर तक न बोल सके वह।

छंदक अभी प्रणत उनके चरणों पर पड़ा था।

सिद्धार्थ ने उसके हाथ पकड़कर उठाया, उसे छाती से लगाया,

और विदा देते हुए कहा—"जाओ, इसी वेग से कंथक पर चढ़ जाओ, जिस वेग से हम आए हैं। तुम्हें विदा करते हुए मैं अतीत कथा का अंतिम सिरा छोड़ता हूँ। जाओ, तुम्हारा पथ मंगलमय हो। माता-पिता से कहना मेरी कोई चिंता न करें। यशोधरा! यशोधरा!...नहीं छंदक, कुछ नहीं, वह स्वयं बड़ी समझदार है। जाओ छंदक!"

छंदक चला गया। पग-पग पर मुख मोड़-मोड़कर वह सिद्धार्थ की ओर देखता ही रहा।

सिद्धार्थ भी एक वृक्ष के सहारे बैठकर उसे जाते हुए देखने लगे। बाद में एकाएक दूरी में धूमिल होकर आँखों की ओट हो गया। रात-भर के जागरण और श्रम से थकित सिद्धार्थ की आँखें झप गईं। वह स्वप्न में देखने लगे, यशोधरा ने आकर उनका हाथ पकड़ लिया।

"छोड़ दो यशोधरा मेरा हाथ। तुम मेरे ही पथ की बाधा बन! तुम मेरी बाधा बनोगी?" सोते-सोते ही सिद्धार्थ बोल उठे। अचानक नींद खुल गई! उठकर फिर इधर-उधर पुकारने लगे—"यशोधरे! यशोधरे!" हँस पड़े! "एक स्वप्न, जिसे हम केवल एक माया, एक निस्सारता समझते हैं, कैसा भ्रमित कर देता है।...कहाँ कहाँ है यशोधरा! जाग उठी होगी अब! ढूँढ रही होगी मुझे! सारा समय कल्पना में खोया हुआ है मेरे ही मन में। क्या सोचा और क्या ग्रहण किया मैंने, नहीं जानता। यशोधरे! तुम्हें कभी नहीं परित्याग किया। तुम मेरे ही प्राण में हो। यही कभी दुर्बल बनाता है और जाने को मेरा मार्ग बाधक से मेरी संगिनी और मेरी सहायिका है। अब किधर! वह चारों दिशाओं में देखी दृष्टि कर देखने लगे—"कोई मनुष्य है इधर!" वह दौड़कर उसके पास आ पहुँचे।

वहाँ जाकर देखा एक मनुष्य बैठा है, बड़ा मैला कुचैला और कुरूप। कुछ सी रहा था वह। सिद्धार्थ का तेजस्वी रूप देखकर वह दंग हो गया।

सिद्धार्थ ने पूछा—"कौन हो तुम ?"

"मैं एक व्याध हूँ। यह देखो मैंने भूमि पर जाल फैला रखा है। एक स्थान पर यह टूट गया है। इस जाल को जोड़कर मैं उसमें थिगली लगाने का विचार कर रहा हूँ। देखो, अभी चिड़ियाँ फँसती हैं।"

"चिड़ियों को पकड़कर क्या करोगे ?"

"जीविका ! सुन्दर युवक, यह पेट की ज्वाला शांत करूँगा। कुछ चिड़ियों को बेचूँगा जो नहीं बिकेंगी, उन्हें भूनकर खाऊँगा और अपने परिवारवालों को खिलाऊँगा।' व्याध ने कहा।

सिद्धार्थ के मुख पर बड़ी अरुचि प्रकट हुई। उन्होंने बड़ी दीनता से कहा—"किसी और उद्योग से जीविका नहीं चला सकते बंधु ! कोई और वस्तु खाकर पेट नहीं भर सकते ?"

"बड़ी मर्म वाणी है तुम्हारी। क्या करूँ ? और कोई उद्योग सीखा नहीं। बचपन से ही माता-पिता की यही वृत्ति देखी और सीखी है। तुम्हारी आज्ञा का पालन करने की इच्छा होती है पर विवश हूँ।"

"मैं भी क्या कहूँ तुमसे। प्राण सबमें एक ही से हैं पर ये निरीह मूक पक्षी, जिनमें प्रतिकार और याचना कर सकने की कोई क्षमता ही नहीं है, क्या इनकी पीड़ा और भी अधिक नहीं हो जाती ?'

"होगी। पर शिकार के अभ्यास से यह हमारा एक साधारण सा कार्य हो गया है। बड़े मूल्यवान् वचन धारण कर रक्खे हैं तुमने। सुख का दुःख और शरीर का श्रम भी कर रहा है, तुम

कहोगे तो अपने घर से। ऐसी भी क्या कमी थी इसमें, सभी सुविधि-पराजयका आपकी है यह। कभार ही गया है यह पथ। मैं ही पहुँचा देता तुम्हें, पर मुझे घर जाना है शीघ्र अच्छा, चलता मैं।"

व्याध चला गया। जाते-जाते बिना पीठ घुमाए ही फिर बोला—"यह रेशमी कमीज रख लो नहीं तो।'

'नहीं भाई, जो दे दिया, फिर उसका लालच ही क्या ?"

व्याध चौंककर अदृश्य हो गया।

सिद्धार्थ चले। नंगे और नंगे पाँव। सूर्य की किरणें तीक्ष्ण हो चलीं। व्याध अपनी लाठी वहीं भूल गया था असावधानी के आवेग में। सिद्धार्थ ने सहारे के लिये उसे उठा लेना चाहा। हाथ रोक लिया बीच ही में—"पर इस पर मेरा अधिकार ही क्या। वह कितनी ही तुच्छ वस्तु क्यों न हो, इस पर उस व्याध ने अपना ममत्व स्थापित किया है। उसकी आज्ञा लिए बिना ही इसे ले लेना चोरी है। वह कल यहीं आकर अवश्य ही इसकी खोज करेगा।"

इसी प्रकार चले जा रहे। उपानह विहीन पैर! कभी कोई पग चले न चले बैठे। पग-पग के कुश-कंटक चुभते उनके सुकुमार-कोमल तलों में। चार अंगुल की एक कौपीन और कंधे पर एक मलिन वस्त्र जो बड़ी कठिनता से उनकी पीठ और छाती को ढकने में समर्थ था। सूर्य अब नंगे सिर पर चमकने लगे थे। कपिलवस्तु से वह अब तक प्रायः पूर्व दिशा की ओर ही चले जा रहे थे।

अपनी ही इच्छा से वह नवीन संन्यासी, सुख-वैभव से भरे हुए घर को छोड़ आया है। आगे क्या सोचता हुआ चला जा रहा है। उसके उन्नत मस्तक में विश्वास का बल है, उसकी मुट्ठी में एक दृढ़ निश्चय। वह शीघ्र और उत्साह के साथ युद्ध करने जा रहा है— नंगे पैर और हाथ।

कुछ समय पश्चात् वह आम्र-कानन में पहुँच गए। सूर्य

जाने लगी थी अब उन्हें। वह स्थान बड़ा रमणीक ज्ञात हुआ उन्हें। एक आम के पेड़ की छाया में बैठ गए वह। पुरवाई चलती।

निकट ही एक गोशाला में गाएँ रँभा रही थीं, बीच-बीच में। मनुष्य कोई भी नहीं दिखाई दिया वहाँ। दोपहर का समय था। शिशिर के जाड़े को काटकर वसन्त-ऋतु पृथ्वी पर विचरण करने के लिये उतावली हो रही थी। पेड़ों पर पवन की मर्मर-ध्वनि और वन में मधुमासवाही मलयज का झोंका उस शून्य प्रकृति की उदासी को और भी अधिक बढ़ा रहे थे।

सिद्धार्थ का विचार-क्रम एक केंद्र में परिधि बनाने लगा। वह सोचने लगे—"कैसे स्पष्ट दो विभागों में बँटा हुआ है यह जगत्—सुख-दुख, आलोक-अँधेरा, जन्म-मृत्यु, शीत-ताप, आदि। ये दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। इनमें एक का कारण दूसरा है। इनको अलग-अलग समझना, हमारी भ्रान्ति का रूपान्तर है। धूप से जल रहा मैं, यह छाया भाती है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि शीत और ताप में अंतर समस्या है। ताप के बढ़कर होने से शीत भी अवश्य सतावेगा।" सिद्धार्थ वहाँ से उठकर धूप में बैठ गए। फिर कुछ सोचने लगे। -

कुछ समय के अनंतर एक नारी भी वहाँ आई। वह सिद्धार्थ को वहाँ बैठा देखकर उनके पास गई और बोली—"यह भी कोई बैठने का स्थान है तुम्हारे?"

"क्यों माँ?" मधुस्मित वाणी में सिद्धार्थ ने पूछा।

'तुमसे कुछ कहने की इच्छा होती है। बच्चे मेरा अर्थ है तुम यहाँ पर आकर बैठ गए। मेरे घर आते न। तुमने खाना नहीं खाया जान पड़ता है। मैं तुम्हें भोजन खिलाती। अभी भी यदि भाग्यवान ही आ जाओ, तो मैं घर से भोजन लाती।"

तत्वों को ऐसी सधी पीठ पर कभी नहीं ग्रहण किया तुमने । इसकी भिक्षा ऐसे मर्मों से नहीं मांगी जायगी वत्स ।'

"बड़ी सत्य जान पड़ती है तुम्हारी बात ! इसे मन में सहेजकर रख लेने की इच्छा होती है । केवल एक झूठे प्रकाश में ही रख दिया गया मैं इतनी प्रौढ़ अवस्था तक । इसी से प्रकृति के साधारण तत्वों से सर्वथा अजान हूँ । प्रकाश और अंधकार के भिन्न-भिन्न अनुपातों से इन अद्भुत रूपों की सृष्टि हुई है । तुमने तप-चिन्तन किया है मा ! कौन हो तुम ! और कौन-कौन है तुम्हारे ?"

"कोई भी नहीं वत्स ! पति और पुत्र विसूचिका के प्रकोप में साथ ही चल बसे केवल एक ही दिन के अंतर में । मेरे मन में जगत् से बड़ी घृणा हो गई । तब कुछ जानकर मैं वैशाली में महात्मा आराड़कालाम की शरण में गई । उन्होंने मुझे एक मंत्र दिया और घर लौट जाने की आज्ञा । मैंने उनका कहना माना । पति के हाथों की लगाई हुई यह आम्रवीथी है । मैं इनका संरक्षण करती हूँ । इनके फलों को वितरित कर तृप्ति अनुभव करती हूँ । कुछ गायें पाल रखी हैं, समय के अतिक्रमण के लिये, इनकी सेवा करती हूँ और ये करती हैं मेरी पालना, मैं गुरु का दिया हुआ मंत्र जपती हूँ और संसार के इस प्रपंच का बड़े कौतूहल से देखती रहती हूँ ।"

'तुम धन्य हो मा ! कुछ मुझे भी बताओ ।'

"मैं क्या बताऊँ । स्वयं ही खोजी हूँ । वैशाली जाओ, गुरु के समीप, अवश्य ही वह मार्ग-निर्देश कर देंगे । उसमें प्रगति प्राप्त करना तो फिर शिष्य की ही साधना से होगा ।"

हाथ-पैर धोने को उठे सिद्धार्थ । दुर्बलता से पग अस्थिर थे, गिरते-गिरते सँभल गए । भोजन के लिये बैठे, नहीं खाया गया । बहुत सूक्ष्म ग्रहण किया । पत्ता में गाय का दूध पीने को दिया ।

कुछ दूर बीतने पर यशा ने कहा—"अब तो मस्तक-पीड़ा शांत हो गई स्वामी ?

"नहीं हुई।" जब कभी मां तुम्हारी बातों में उलझ ध्यान हट जाता है तो नहीं जान पड़ती स्मरण आते फिर होने लगती है। विचार में ही उसकी जड़ उसका स्रोत ज्ञात होता है। क्या कारण होगा।"

"गुरु महाराज कहते थे जब एक देह से मनुष्य दूसरे देह में चला जाता है वही तीव्र गति तब शरीर में स्थित पंचभूत स्थान-विच्युत हो जाते हैं और रोग उत्पन्न हो जाता है।"

"पंचभूत क्या हुए ?"

'"पाँच मूल तत्त्व, जिनसे यह सारा प्रपंच उत्पन्न हुआ है अर्थात् पृथ्वी, जल अग्नि, वायु और आकाश, इसलिये धीरे-धीरे, सँभल सँभलकर चलने की आवश्यकता है। तुमने कपिलवस्तु से यहाँ तक की दूरी बड़े वेग से तय की, तुमने इस सुरक्षित शरीर को और भी शीघ्रता के साथ विचलन कर दिया। इसी से रोग प्रबल हो उठा। अंग ढक लो वस्त्र से भले प्रकार। मेरे घर ही पर चलो वहीं सुख से रहोगे।"

"कैसा सुख !"

"शीत से रक्षा होगी।'

"वह भौतिक सुख, इसे अब छोड़ दिया, तो फिर क्या। वही ठीक है।'

छोड़ने को कुछ और बचा रही हूँ।"

'नहीं। तुम जाओ मा।'

सिद्धार्थ का अच्छी तरह आराम, गौशाला के द्वार रुककर यशा अपने घर चली गई। प्रभात-समय जब वह गौशाला में आई, तो उसने युवराज का ताप बढ़ा हुआ ही पाया। वह पिता के साथ उनके पास गई। वह पड़े-पड़े कराह रहे थे।'

"शरीर कैसा है ?"

"बड़ी पीड़ा है। सारा अंग दुखता है।"

पद्मा ने उनके मस्तक और नाड़ी पर हाथ रखा—"तुम्हें तो ज्वर है।"

सिद्धार्थ सहसा उठकर बाहर जाने लगे।

पद्मा ने उनका हाथ पकड़ लिया—"नहीं, ऐसे ही नंगे अंग बाहर ठीक न होगा। अंग ढककर पड़े रहो अभी, यदि ज्वर कुपित हो जायगा, तो बड़ा दुख उठाना पड़ेगा।"

"आज चला जाना चाहिए मुझे।"

"श्रम करोगे, तो रोग वृद्धि पर आ जायगा।"

सिद्धार्थ फिर सो गए। कुछ खाया-पिया नहीं उस दिन। संध्या-समय ज्वर का वेग बहुत बढ़ गया और वह नवीन संन्यासी उसके ताप में प्रायः अचेत हो गया।

और यहाँ कपिलवस्तु में सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के समय यशोधरा बड़े भयंकर स्वप्न देख रही थी। जब उसकी नींद खुली, तो उसने एक दासी को जगाकर कहा—"दासी, जा युवराज के कक्ष में जाकर देख वह क्या कर रहे हैं।"

दासी ने वहाँ जाकर देखा। वह दौड़ी हुई यशोधरा के पास आई—"युवराज नहीं हैं वहाँ !"

यशोधरा ने विक्षुब्ध होकर कहा—"नहीं हैं! अच्छी प्रकार देख लिया था ?"

दासी फिर जाकर देखने गई। जो दासियाँ वहाँ पड़ी सो रही थीं, कहा—"युवराज कहाँ हैं ?"

"शय्या में नहीं हैं ?"

"नहीं !"

हमें कुछ ज्ञात नहीं। कहीं कुछ, शौचगृह या उपवन में गए होंगे।

आ जायेंगे अभी। घूमते ही तो रहते हैं वह रात-भर चारों ओर।'

"आओ, देखो उन्हें कहाँ हैं। मैं युवराज्ञी को जाकर सूचित करती हूँ।" वह दौड़कर यशोधरा के पास पहुँची और हाँफती हुई बोली—"नहीं हैं।"

यशोधरा रुदन करती हुई उठ पड़ीं—"मैंने उन्हें देखा, स्वप्न में, वे राजसी वेश परित्यागकर वन की ओर चले गए। उनके पैर कांपे थे और उनका मस्तक झुका हुआ। जा, जा, दासी महाराज और महारानी से जाकर कह हमारे सब प्रयत्न विफल हुए और युवराज समस्त बंधनों को छिन्न कर चल दिए। जा चारों ओर अश्वारोहियों को उनकी खोज के लिये भिजवा। अभी वह बहुत दूर नहीं पहुँचे होंगे।"

महाराज-महारानी जागे, दास-दासियाँ जागीं इष्ट-मित्र जागे द्वारपाल-प्रहरी जागे नायक-अधिनायक जागे दीपावलियाँ जागीं और जाग उठा सारा राजभवन। सब लोग एक-एक कोने में सिद्धार्थ की खोज करने लगे।

महाराज स्वयं इधर-उधर खोज करने लगे, एक कक्ष से दूसरे कक्ष में, पर्यंक प्रांगण, द्वारों के कोनों, शय्या के नीचे, भीतर बाहर, उपवन-कुञ्ज में, कहीं सिद्धार्थ का पता नहीं।

एक सेवक दौड़ा हुआ प्रथम प्राचीर के द्वार पर गया। प्रहरी से पूछा—"युवराज भी देखे तुमने?"

महाराज भी दौड़ते हुए आ पहुँचे वहीं उन्होंने भी वही प्रश्न किया।

प्रहरी विचार करने लगा।

"शीघ्र उत्तर दो। क्या तुमने युवराज को जाते देखा?"

"नहीं, महाराज।" हाथ जोड़कर प्रहरी बोला।

"सच-सच कहो।"

प्रतीक्षा के लिये कोई सिंधु न था ! इसे तुम्हारी कठोरता कहूँ या अपनी भाग्य-हीनता ! नहीं, तुम मुझसे छिपकर जा नहीं सकते मैंने तुम्हारे प्रतिज्ञा-पालन में सदा पवित्रता पाई । तुम कहीं छिप गए हो यह जानने को कि मेरे प्रिय-परिजन मेरे विरह को किस प्रकार सहन करते हैं । पर अब तो बहुत विलंब हो गया ! तुम चले ही गए हो । मेरे स्वप्न सत्य थे, पर मैं सचेत ही न हो सकी !"

उमा ने कहा सिद्धार्थ से— 'तुम्हें ज्वर है बड़ी सावधानी बरतनी होगी । यदि रोग बढ़ गया तो कई दिन लग जायेंगे । इसी प्रकार पड़े रहो । हमारे गाँव में एक वैद्य हैं मैं उन्हें बुला लाती हूँ ।'

"मैं वैसे ही ठीक हो जाऊँगा । एक प्रार्थना है मां !" सिद्धार्थ रुक गए ।

"कहो न !"

"मैं कहना भूल गया था, मेरे समाचार किसी को न देना, महाराज ने अवश्य ही मेरी खोज के लिये चारों ओर मनुष्य दौड़ा दिए होंगे । छंदक यहाँ पहुँचकर और भी ठीक-ठीक पता न देगा । मुझे राजमहल के बंधन शूल-से चुभते हैं । एक बार वहाँ से मुक्ति पाकर फिर उसी जाल में जिससे जकड़ न जाऊँ मां, ऐसा प्रबन्ध कर दो ।"

"मैं क्या पागल हूँ ! न कहूँगी किसी से । तुम्हारा महान् उद्देश्य है, उसमें बाधा पहुँचाकर क्या पातक लूँगी अपने सिर पर !"

"फिर वैद्य को सूचित न करो । क्या वैद्य रोग को मिटा देता है !"

"वह औषधि देता है उसके उपशम के लिये ।"

"क्या वह मृत्यु की भी औषधि देता है !"

उमा ने हँसकर कहा—"नहीं, मृत्यु की औषधि कौन दे सकता है ! केवल गुरु को छोड़कर ।"

"गुरु दे सकते हैं !"

"हाँ।"

"महात्मा आराडकालाम आ सकते हैं?"

"हाँ, वह मेरे गुरु महाराज हैं। वह आ सकते हैं।"

सिद्धार्थ उठने लगे—"मैं चल देता हूँ मा उनके पास अभी।" वह उठे। दुर्बलता से सिर में चक्कर आया और शय्या पर गिर पड़े।

"अब उठो, कह रही हूँ अभी। चोट तो नहीं लगी?"

"नहीं।"

पाँच दिन सिद्धार्थ ज्वर से पीड़ित रहे। पद्मा ने उनकी बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। छठे दिन वह फिर जाने के लिये तत्पर हो गए, पर पद्मा ने बड़ी अनुनय-विनय से उन्हें रोक लिया। सातवें दिन फिर उन्हें कोई न रोक सका।

पद्मा ने उन्हें एक कवच देते हुए कहा—'सहसा प्रकृति का सामना करना उचित नहीं। क्रमशः उसके अंतर में प्रवेश करने पर वह आक्रमण नहीं करती। आम्र-वन के इस निवास में तुम्हें इतना अनुभव हो चुका है। लो, यह कंबल। शीत से युद्ध करने के लिये।'

"जानते हो मा यह कवच है। माता से विदा की आज्ञा माँगने में मिला यह। महारानी से यदि जाने की आज्ञा माँगता, तो वह भी देतीं।" सिद्धार्थ ने कहा—'उनकी आँखों में प्रेम और आनंद की बूँदें चमक रही थीं।"

पद्मा दक्षिण-पूर्व आग्नेय दिशा में चली सिद्धार्थ के साथ। बड़ी दूर तक उन्हें पहुँचा आई वैशाली के पथ में।

छंदक जब कपिलवस्तु को लौट रहा था, तो कुछ ही दूर जाने पर कंथक पीड़ित हो गया। छंदक के सेवा-उपचार का कोई फल न हुआ, और कंथक ने प्राण त्याग दिए!

छंदक भय से बोला—"कंथक! तुम पुण्य-प्रताप हो। स्वामी के

वियोग में तुमने प्राण त्याग दिए। और, कंथक को यह युवराज के महाभिनिष्क्रमण के समाचार से बाबा जीवन-भार हो गया है।"

भरत की सहृति कर कंथक चला राजधानी की ओर। निरंतर इसी चिन्ता में था—"क्या कहूँगा महाराज-महारानी से। कैसे युवराज्ञी का विलाप-क्रंदन सुनूँगा। महाराज निःसंदेह मुझ पर क्रुद्ध हो जायेंगे। युवराज की निष्क्रांति में सहायक होने के लिये यदि उन्होंने मुझे दंड देने को पग बढ़ाए, तो—"वह अपनी यात्रा में थकि देकर बैठ गया, पथ में एक किनारे पर।

महाराज की अवज्ञा, युवराज का विद्रोह और इस प्रकार सुख-भोग त्यागकर, विपत्ति और असहाय होकर अपरिचित देश में जो जाना कंथक की मृत्यु, इन सब एकत्रित समाचारों ने कंथक के मानस में उथल-पुथल कर दी। वह रोगी हो गया, किसी प्रकार अपनी यात्रा आगे नहीं बढ़ा सका।

निकट के ग्रामवासियों ने जब उसे देखा, तो अपने घर ले जाकर उसे शरण दी। शरीर का रोग से छुटकारा पाकर उसने अपने मन में साहस एकत्र किया, और फिर कपिलवस्तु के पथ में कमर कसी।

राजभवन में राजकुल व यह समझता था कि युवराज कंथक को साथ लेकर ही गए हैं। पर जब सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के सातवें दिन महाराज को यह समाचार दिया गया कि कंथक विवरण-युक्त लौटा आ रहा है, तो महाराज उधर ही दौड़े।

आँगन में ही आते हुए कंथक को पा लिया उन्होंने। पुत्र-प्रेम के आवेश में बेसुध महाराज ने कंथक को गले से लगा लिया। रुदन से विकृत वाणी में बोले— 'कंथक मेरा सिद्धार्थ कहाँ है ?"

कंथक मन में सोच रहा था महाराज अवश्य ही विश्वासघात के लिये मुझे भयानक दंड देंगे, उनका ऐसा प्रेम-व्यवहार देखकर महाराज के चरणों पर सिर रखकर उन्हें अपने आँसुओं से धोने लगा।

"कहाँ है, सिद्धार्थ कहाँ है ?"

प्रजावती भी वहीं आ पहुँची थी, उसने भी रोते हुए पूछा—"छंदक, कहाँ है हमारा युवराज ? तुम उत्तर देते नहीं क्यों ?"

छंदक ने आँसू पोंछते-पोंछते हुए हाथों से गहनों की पोटली महाराज के सामने रखी।

"क्या है यह ?"

"युवराज के आभूषण ।"

"तो क्या इस प्रकार श्री-विहीन होकर चला गया मेरा सिद्धार्थ ?" माथा पीटकर महाराज ने कहा।

"हाँ महाराज !"

छंदक की बाँह पकड़कर उन्होंने उसे झकझोरते हुए पूछा—"कहाँ गया ?"

"यह नहीं जानता महाराज, मैंने उन्हीं के साथ रहने के लिये बार-बार अनुनय-विनय की पर वह माने ही नहीं।

"हे भगवान् ! कुछ भी नहीं बताया उन्होंने कि वह कहाँ जायेंगे ?" प्रजावती ने पूछा।

"नहीं, कुछ भी नहीं ।" छंदक ने उत्तर दिया।

"क्या कहा उन्होंने हमारे लिये ?" शुद्धोदन ने पूछा।

"यही कहा कि मेरे लिये शोक वृथा है। मैं उचित काल में सत्य की प्राप्ति कर आऊँगा।"

यशोधरा अभी तक ओट से सुन रही थी न रह सकी, वहीं पर आकर खड़ी हो गई।

महाराज पोटली खोलकर एक-एक आभूषण को अपने मस्तक पर लगाकर प्यार करने लगे—"इनमें अभी तक सिद्धार्थ के शरीर पर लगे हुए अंगराग की सुगंधि आ रही है !"

यशोधरा ने बड़ी तीक्ष्ण और क्षुब्ध दृष्टि से वे आभूषण उनके

और पछताने। उसके शोक का वेग उमड़ पड़ा। वह वहाँ से चली गई, और एक एकांत कक्ष में जाकर रोने लगी।

महाराज और महारानी अत्यंत करुणा-भरे स्वर में विलाप करने लगे—'हमारी इस चौथी अवस्था में हमें घोर अंधकार में छोड़कर कहाँ चले गए तुम सिद्धार्थ? हमारी आँखों की ज्योति!"

छंदक बोला—"महाराज, युवराज के लिये शोक करना वृथा है। ज्योतिषियों की वाणी सत्य होकर रही। भगवान् युवराज के रक्षक हैं। और यह उन्हीं की इच्छा की पूर्ति है। युवराज शीघ्र ही ज्ञान प्राप्त कर कपिलवस्तु लौट आयेंगे।"

यशोधरा अपने समस्त आभूषणों को खोलकर ले आई, उन्हें महाराज और महारानी के समीप रक्खा।

महारानी घबराकर बोलीं—'हैं! यह क्या किया तुमने? सौभाग्य के प्रतीक उतार दिए क्यों?"

'जिसके स्वामी भिक्षु के वेश में वन और पर्वतों में विचर रहे हैं, उस स्त्री को आभरणों में कोई शान्ति नहीं। उसका मान ही क्या? किसके लिये?' यशोधरा ने कहा।

---

११ गुरु की खोज

यात्रा में माँगते-खाते, पथ पूछते-पूछते सिद्धार्थ आगे बढ़ते गए वैशाली की दिशा में। राजमार्ग छोड़ दिया क्योंकि। जन और जनपदों को बचाकर निर्जन से होकर चले, केवल दिशा का ध्यान रखकर। जब कभी भ्रम हो जाता, तो रुक जाते, किसी ग्वाले, लकड़हारे या पथिक से मार्ग पूछते और फिर अपनी यात्रा आरंभ करते।

इस प्रकार सहज आनन्द मिलता, जो, इस पथ के पथ में पहले पैर रखते हुए त्यागी को जो भी देखता, बातें करने के लिये रुक जाता। उससे अनेक प्रश्न पूछता। स्वभाव से ही सत्य में प्रतिष्ठित सिद्धार्थ कुछ भी न छिपाते।

रात हो जाने पर कहीं तारों के प्रकाश की सहायता से किसी गाँव की सीमा पर पहुँचकर, चुपचाप वहीं से भिक्षा माँगते, गुफा में आहुति देकर किसी प्रकार रात काटते, और सूर्योदय से पहले ही चल देते।

जो षड्रस भोजन करता था उसे भिक्षा में बहुत साधारण खाना मिलता। कभी-कभी सिद्धार्थ का उससे वमन करने की इच्छा होती। फिर वह सोचते—"जिह्वा को मन के अधीन करना चाहिए। जिस प्रकार शीत का दंश अभ्यास से सहन करने लगा वैसे ही इसे भी पराजित कर दूँगा। सारे संसार में अधिक दीन और दुखी कौन है। वे जिस साधारण अन्न को खाकर कठिन परिश्रम करते हैं मैं भी उसमें स्वाद का अनुसंधान करूँगा। ये इंद्रियों के आकर्षण एक अनाकलित व्यापार हैं। इनकी कभी तृप्ति नहीं होती। जब

सिद्धार्थ की सहायता हुई, पर अनेक उनको केवल आडंबरसी बात हुई।

एक दिन महात्मा ने एकांत में सिद्धार्थ से कहा—"मुख्य सूत्र जो हमें समझना है, वह मन के वशीकरण का है। मन में से पाँच शाखाएँ फूटी हैं पाँच इंद्रियों की। मन जब पाँचों इंद्रियों में होकर कर्म करता है, तो वह कर्म उसे बाँधते हैं।"

"कैसा बंधन ?"

"कर्म-बंधन, जन्म और मृत्यु का चक्र। जन्म होने के पहले भी कई बार हमारा मरण हो चुका है, और मरने के पश्चात् भी कई बार हमारा जन्म होगा। उस जन्म का समाप्त कर देना ही मुक्ति है।"

"वह जन्म कैसे समाप्त होगा ?"

"अविचल विश्वास और अटूट साधना से। सुनो, मन के अधीन होकर जब इंद्रियाँ कर्मरत होती हैं तो फिर वे कर्म नहीं बाँधते। अतः पहला कर्तव्य है इंद्रियों की अधीनता से मन को मुक्त करना। हमारा शरीर पृथ्वी, जल तेज, वायु और आकाश, इन पाँच तत्त्वों से बना है। हमारी पाँचों इंद्रियाँ इन पाँचों तत्त्वों के गुणों से प्रभावित हैं। वे गुण हैं, रस, रूप, गंध, स्पर्श और शब्द। यह सारा भौतिक प्रपंच सूक्ष्म होकर मन में सोता है। उसको जगाना ही ध्यान-योग का उद्देश है।'

"उसका आशय कैसा हुआ ?"

'इंद्रियों पर अपनी सत्ता की स्थापना ही उसका आशय है। कामना की जन्मभूमि मन है। कामनाएँ जब मन में उदित होकर, वहीं लुप्त होकर वहीं क्षेप हो जाती हैं, इसे भी मन का आयत्त कर सकते हैं।'

"मैं क्या वह मन ही है ?"

"नहीं, न वह मन है, न पाँचों इंद्रियाँ, न पाँचों भूत।"

"फिर ?"

"मन की गति की संचालिका है बुद्धि। बुद्धि 'अस्ति' और 'नास्ति' की जननी है। द्वंद्व का विभ्रम यहीं उत्पन्न होता है। द्वंद्व के भेद को मिटाकर समता पाना ही बुद्धि का स्थिर होना है। स्थिर-बुद्धि मनुष्य ही सत्य के साक्षात्कार के योग्य होता है।"

"तो क्या मैं बुद्धि हूँ ?"

"नहीं। तुम बुद्धि से भी परे हो।"

"फिर मैं कौन हूँ ?"

"मैं नहीं जानता 'मैं' कौन है ? यही तो पहेली है। बरसों से मैं अपने स्वरूप का अनुसंधान कर रहा हूँ। इस तिल-तिल में व्यापक माया के प्रपंच में भूल-भूल जाता हूँ। यह भी तो स्मरण नहीं रहता कि मैं क्या खोज रहा हूँ। जब मैं स्वयं अपने को ही नहीं जानता, तो कैसे बता दूँ तुम कौन हो। मैं हूँ, यह मेरा अहंकार है, पर वही नहीं हूँ मैं। जो मैं हूँ, वही तुम भी हो।"

"क्या मैं अहंकार हूँ ?"

"नहीं, यह होने पर हम अपनी स्थिति से पतित हो जाते हैं। हमारी ही आत्मा समस्त विश्व में व्याप्त है।"

"क्या मैं आत्मा हूँ ?"

"संभव है।"

"परमात्मा क्या है ?"

"बिंदु और सिंधु का संबंध। आत्मा परमात्मा के ही विस्तार का एक कण है।"

"आत्मा अहंकार नहीं है ?"

"नहीं।

"क्या हो सकता है यह रहस्य-पूर्ण ?"

"हाँ, हाँ।" भारद्वाजाचार्य ने स्थिरता से कहा।

"मेरे नहीं जमती यह बात।"

"बात ऐसी है। बुद्धि के स्तर तक तर्क काम देता है। उससे अतीत लोकों में भाषा और शक्तियों से काम नहीं चलता। वहाँ तो फिर ध्येयगम्य ही है। उतावली से काम न होगा राजकुमार! बड़े धैर्य के साथ ही पैर बढ़ेगा इस मार्ग में। स्वाध्याय सहायक वस्तु है। उपनिषदों का अध्ययन करो यहीं एकांत में। मैं ध्यान-योग की शिक्षा दूँगा। केवल पुस्तक-पाठ से ही कुछ न होगा। ध्यान से मन की शीघ्र स्वच्छता प्राप्त होती है। ध्यान मन को बाँधने के लिये खूँटा है। रस्सी है मंत्र।"

"मंत्र क्या हुआ?"

"यह अत्यंत गोपनीय वस्तु है, इस रहस्य को फिर बताऊँगा, जब तुम्हारा पात्र उसे ग्रहण करने योग्य हो जायगा।"

"पात्र है मेरे पास। भिक्षा आहरण करने के लिये दिया है मुझे यशा भाभी ने। मैंने इसे माँग कर विशेष रूप से रक्खा है।' सिद्धार्थ ने वह पात्र महात्मा आलारकालाम के सामने बढ़ाया।

मंद हास्य के साथ महात्मा बोले—"इस पात्र से मेरा काम नहीं है। मेरा अर्थ है इस देह-रूपी पात्र से। इसी में धर्म का संचय भोग और क्षय होता है।'

'"मैंने जगत् के समस्त भोगों का त्याग कर दिया। क्या मेरा यह पात्र अभी ज्ञान के ग्रहण के लिये उपयुक्त नहीं हुआ! फिर और क्या छोड़ना शेष रहा?"

"इसमें संदेह नहीं, तुमने भोगों को परित्याग कर दिया है। पर अभी उनका एक ही अंश हुआ है। दूसरा कामना-रूप से तुम्हारे मन में है। जब कामना के से भी वे समूल नष्ट हो जायँगे, तभी तो राजकुमार!"

'क्या ज्ञान की इच्छा कामना नहीं है ?'

'नहीं है । क्योंकि वह कामनाओं से छुटकारा पाने की इच्छा है ।

"जब आत्मा परमात्मा का ही एक अंश है तो उसकी प्रवृत्ति बंधन की ओर क्यों है ?"

'अहंकार के अज्ञान-वश ।"

' नहीं समझा ।"

'धीरे-धीरे समझोगे । निश्चय बढ़ाना ।"

'निश्चय क्या हुआ ?"

"निश्चयात्मिका बुद्धि का नाम निश्चय है । जहाँ ध्यान विकास को प्राप्त हुआ तुम्हारा, वहाँ समस्त बाधाएँ स्वतः ही मार्गदर्शिकाएँ हो जायेंगी, भ्रम नष्ट हो जायगा, और बन्धनों के बीच में मार्ग ऋजु और स्पष्ट प्रतिभासित होगा ।"

"ध्यान किसका किया जायगा ?

"अक्षर और अव्यय ब्रह्म का ।"

'अक्षर ब्रह्म क्या है ?"

"अज-अक्षर, न जो उपजता है, न जिसका नाश होता है ।"

सर्व कैसे उपजता है ?'

"यह नहीं जानता । कदाचित् यह बुद्धि का विषय नहीं है ।"

'जब वह बुद्धिगम्य नहीं, तब उसका ध्यान कैसा ?"

'उसकी छाया का तो स्पर्श किया जा सकता है ? उसका आभास तो मिलता है ? इस सृष्टि का सृजन करनेवाला तो कोई है न ? एक निश्चित नियम दिखाई देता है न ?"

"हाँ, दिखाई देता है । इस नियम का ही ध्यान क्यों न किया जाय ?"

"हो सकता है ।"

"किस प्रकार ?"

"इसीलिये तो विधायक की आवश्यकता है। उनके रूप की कल्पना चाहिए। उसका आकार बनाना होगा।"

"कैसा है उसका आकार ?"

"कमल के पुष्प में से उपजे हुए ब्रह्मा। ध्यान के आधार चारों वेदों को चारों हाथों में लिए हुए।"

"चार हाथों में एक कर्ममय कल्पना। सारी सृष्टि का नियामक एक तुच्छ मनुष्य के रूप में। मुझे मान्य नहीं है यह रूप।"

"केवल आरंभ करने के लिये। ध्यान को सबल और चिरस्थायी कर आस्था में बदलने के हेतु। समाधि-प्राप्ति होने पर फिर ज्ञाता, ध्याता और ध्येय का सब अंतर समाप्त हो जाता है।"

सिद्धार्थ उस आश्रम में रहकर साधन-ध्यान में लगे। पर उनका मन वहाँ स्थिर न हुआ। अभिसंबोधि के लिये उन्होंने उस स्थान को अनुपयुक्त पाया।

वहाँ से विदा हुए वह। आचार्य रुद्रक नामक एक दूसरे ऋषि के आश्रम में गए। वहाँ भी बड़े आदर-पूर्वक उनका स्वागत हुआ। आचार्य रुद्रक के सैकड़ों शिष्य थे। कुछ दिन वहाँ रहने पर सिद्धार्थ ने निश्चय किया, जिसके लिये गृह और राज्य का त्याग किया, वह यहाँ भी न मिलेगा।

उस आश्रम में सिद्धार्थ के सरल जीवन, तत्त्व-चिंतन, सत्य, त्याग और तितिक्षा से पाँच ब्रह्मचर्यशील ब्रह्मचारी उनके बड़े भक्त हो गए।

सिद्धार्थ ने जब आचार्य रुद्रक से विदा ली, तो वे पाँचों साधक भी उनके साथ हो लिए। वे सिद्धार्थ की गुरुवत् पूजा करने लगे। उन पाँचों शिष्यों के साथ उस बोधिमार्ग के पथिक ने मगध की राजधानी राजगृह की ओर चरण बढ़ाए।

राजगृह में मगध का युवराज अजातशत्रु, शाक्य-राजकुमार

देवदत्त की मुट्ठी में बस गया था। देवदत्त जिधर चाहता उसको नाच घुमा देता।

उसने अजातशत्रु को रस-लोलुप और रूप का पुजारी बना दिया। विद्वानों और वीरों की सभाओं का त्याग कर वे समय-असमय कुसंगति और कुचक्रों में सम्मिलित दिखाई देते।

देवदत्त ने कहा—"युवराज! जीवन का उद्देश्य केवल रस-तृप्ति है। मनुष्य होने ही के लिये हमारा जन्म है। विभूति मूर्ख और निर्बलों का शस्त्र है। ये राजमुकुट, सिंहासन, सभा, सेना और सब मोह-तृष्णा को शांत करने के उपकरण हैं।"

"हाँ-हाँ ऐसा ही है राजकुमार। पर तुमने फिर यह आमन-मोह क्यों छिपा दिया?"

रात्रि का शून्य प्रहर था। दोनों मगधपति महाराज बिंबिसार के निवास से दूर, राजधानी राजगृह से दूर विन्ध्यगिरि की एक गुफा में थे। गुफा सब प्रकार से सुसज्जित थी। दो नर्तकियाँ नृत्य-गीतों से कुछ समय के लिये अवकाश लेकर विश्राम कर रही थीं, निकट ही।

"नहीं युवराज! तुम बहुत पान कर चुके हो।"

अजातशत्रु ने मुस्कराते हुए बड़े प्रेम से देवदत्त के दोनों कंधों पर हाथ रखकर कहा—"तुम संसार में सबसे बड़े मित्र हो मेरे। मैं तुम्हें हृदय से प्यार करता हूँ। यह विशाल मगध का साम्राज्य। मुझे कुछ भी बोध नहीं है इसका। क्या समझता हूँ मैं इसे। ठीकरे के समान होकर मारकर फेंक सकता हूँ। पर मित्र, एक-दो बूँद अभी और—" अजातशत्रु के मुख से बात की एक बोली-सी बात भूमि पर प्रकाश में चमकती हुई टूट पड़ी।

नर्तकियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं दोनों।

अजातशत्रु क्रुद्ध होकर नर्तकियों के निकट आया। उनमें से

एक का हाथ पकड़कर बोला—"पर तुम क्यों हँसीं ? क्या मैं बुद्धि-हीन हूँ ?" वह मद के प्रवाह में गिरने लगा।

दूसरी नर्तकी ने सँभाल लिया।

अजात ने उसके कंधों पर अपना परिरंभ-पूर्ण हाथ रख दिया—"तुम बड़ी सुन्दर हो !" वह फिर दूसरी की ओर सम्मुख हुआ—"पर तुम क्यों हँसी ?"

"हँस पड़ी ! अवसर है, इसलिये !' मुसकाते हुए नर्तकी बोली।

"क्यों उसका कारण ? मुझे मद से प्रभावित न समझना। क्यों हँसी तुम ?"

"मुझे दिखाई दे रहा है युवराज, सुरा-भांड कहीं पर छिपा है।" नर्तकी ने तिरछी दृष्टि गुफा के एक कोने में तीर की भाँति फेंकी—"पर तुम नहीं देख पा रहे हो।

देवदत्त ने नर्तकी को रिस में भरकर देखा, और सुरा-भांड के निकट जाकर खड़ा हो गया।

अजातशत्रु उन दोनों नर्तकियों को छोड़कर देवदत्त के पास चला गया और छिन्न-भिन्न वाणी में कहने लगा—"भाई देवदत्त तुमसे बढ़कर मेरा हितकांक्षी दूसरा नहीं है कोई संसार में।"

देवदत्त चुपचाप हँसने लगा।

"नहीं, यह दिखावा भी हँसने की बात नहीं है। तुम्हें 'हाँ' कहना पड़ेगा।" अजात ने उसकी बाँह पकड़कर कहा।

"किस बात के लिये कहूँ 'हाँ'।"

"यही कि तुमसे बढ़कर मेरा हित चाहनेवाला दूसरा कोई नहीं।'

"हाँ।"

'नहीं, पूरा वाक्य कहो।'

'तुम्हारा सबसे बड़ा हितैषी हूँ मैं, इसीलिये मैं अब तुम्हें आसव की एक भी बूँद न दूँगा। अभी उजाला होने से बहुत पहले ही हमें राजभवन में पहुँच जाना है न, वहीं का यह सब खेल मिटाकर यदि तुम अचेत हो गए, तो फिर बड़ी कठिनाई में पड़ जाओगे, उस दिन की भाँति।"

"फिर मुझे कहना पड़ेगा तुम नहीं हो मेरे मित्र!" अजात ने सुरा-भांड की ओर बढ़ते हुए कहा—"केवल एक ही अंजलि तात! आम्रपाली का गीत बड़ा उखड़ा-उखड़ा ज्ञात हो रहा है। यह मेरे अंतरतम मानस तक नहीं खिंच रहा है।"

"यह इसी का दोष है। यह स्थिर होकर नहीं गा रही है।'

"अधिक दोष मेरा है बंधु! जब तक मैं रस के सागर में डूब नहीं जाता, तब तक गा नहीं सकती यह आम्रपाली। जब तक मैं विमुग्ध होकर इसके नैनों की गहराई में खो नहीं जाता, तब तक न तो इसका स्वर खुलता है, न खिलती है ललना, तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ। इतना परिश्रम, इतना व्यय और इतना कष्ट उठाया है, क्या इस सब पर हरताल फेर दोगे? इस रस-आराधन को सफल होने दो बंधु, कुछ ही बूँदों से।"

"अच्छा मैं अपने ही हाथों से दूँगा।"

'बड़े विचित्र हृदय हो तुम, दो। भविष्य के लिये क्यों चिंतित होते हो? इसी रस का यह भाग जो छिपा हुआ है, वही तो भविष्य है। गंगा की मुक्तधारा के समान देवदत्त कब किस जल को लेकर बहेगी? यह चिंता नहीं है उसे, तभी तो उसकी धारा अविच्छिन्न है।"

देवदत्त आसव उँड़ेलने लगा।

"आकर प्रिय मित्र, आकर।" अजात बोला।

"हाँ देखते नहीं छलकने लगा है पात्र।" देवदत्त ने उत्तर दिया।

अजात पात्र उसके हाथ बलात् लेकर। सहसा उसे स्मरण हुआ "तुम भी लो।"

"नहीं, मेरी इच्छा नहीं।"

"लेना पड़ेगा, नहीं तो मैं फेंक देता हूँ इसे।"

देवदत्त को भी पात्र लेना पड़ा।

अजात आधा चषक रिक्त कर आधा नर्तकी के पास ले गया—"लो आम्रपाली, यह आधा तुम्हारे लिये है। देवदत्त, यह दूसरी नर्तकी—यह चंद्ररेखा, यह तुम्हारी ओर देख रही है, शुष्क अधर और तृषित नयनों से, उसने स्वार्थ के आवेश में इसे विस्मृत कर दिया।'

अपने-अपने हाथों से उन दोनों ने नर्तकियों को भी पात्र पिलाया।

अजात बोला—"अब क्या है। अब आहुती पड़ गई। आरंभ करो न।

चंद्ररेखा वीणा के तार मिलाने लगी देवदत्त मृदंग के स्वर। आम्रपाली अँगड़ाई लेती हुई उठी और झुनझुन पायलों में बँधे हुए मंजीरों को झनझनाने लगी।

"हाथ अधर और नेत्रों में भी तो कहे दो।" अजात ने कहा। आम्रपाली मुसकाई। दोनों हाथ कमर पर रखे हुए वह अपने पायलों की झुनक में भाव को बाँधने लगी। देवदत्त की उँगलियाँ चल रहीं मृदंग पर और चंद्ररेखा की तार और उँगलियों पर।

आम्रपाली ने हाथ कमर पर से ऊँचे उठा लिए और गाने लगी।

उसी समय दौड़ा हुआ एक मनुष्य वहाँ पर आया। उसके हाथ में एक भाला था और कमर पर लटकती हुई ढाल। उसने

हाँफती साँस और काँपती हुई वाणी में कहा—"मैंने एक-एक कर गिनीं—"

अजात ने उठकर उसका मुँह बंद कर दिया अपने हाथों से—"चुप रहो, कहाँ से आ टपके तुम ! एकान्त में किसी उज्ज्वल तारिका पर अपने स्वर का फंदा डाल दिया, तुमने उसे डरा दिया आकर। उसने स्वर की अविराम धारा तोड़ दी है वह मूक और अविराम होकर धरती पर बैठ गई। जाओ चले जाओ, इस बार मैंने तुम्हारा अपराध क्षमा कर दिया। यदि फिर आए, तो वह मेरी कमर से छूटा हुआ बाण तुम्हारे मस्तक और कंधों के बीच से मार्ग निकालने के लिये मेरे हाथों में आ जायेगा। जाओ।'

देवदत्त ने उठकर, अजातशत्रु के हाथ पकड़कर कहा—"क्या हो गया तुम्हें अजात। यह प्रहरी है, जिसे दिशाओं पर दृष्टि रखने के लिये हमने नियुक्त कर रखा है। कहने क्यों नहीं देते इसे।' उसने उस आगंतुक को अभय देते हुए कहा—'क्या गिने तुमने ?"

प्रहरी बोला—"पचासों, तीन हैं। मैं नहीं जानता, मनुष्य कितने हैं उनके साथ। वे इसी दिशा की ओर आ रहे हैं।'

"कितनी दूर पर हैं ?" देवदत्त ने घबराकर पूछा।

"अभी तो बहुत दूरी पर हैं।"

"अच्छा, जाओ अब तुम। जो कहना था, कह चुके।" अजात बोला।

"अभी ठहर।" देवदत्त ने कहा प्रहरी से। वह युवराज को संबोधित कर कहने लगा—"मेरी समझ में—

"बड़े भयभीत हो गए। नहीं, कुछ किसी प्रकार बंद न किया जायगा।"

"तुम तो युवराज हो, शूली पर चढ़ा दिया जायगा व बिचारा पर-राज्य का निवासी ।"

"युवराज हूँ, तभी तो कह रहा हूँ । मैं मगध का भावी सम्राट हूँ । यदि कोई महाराज से जाकर कहेगा, राज्य के सूत्र हाथ में लेते ही मैं उसे शूली पर चढ़वा दूँगा ।"

"वह भविष्य के अंधकार में छिपा हुआ है । अभी तो युवराज देवदत्त को अपने मस्तक की चिन्ता है । बंधु, इसे अन्यथा न समझो तुम्हारी और मेरी मित्रता जितनी अधिक बढ़ती जा रही है, उससे कहीं अधिक मुझे मगध राज्य में अपने शत्रुओं का भय वृद्धि पर दिखाई देने लगा है । क्योंकि राज-दल गुप्तचर नियुक्त कर रखे हैं, देवदत्त के अपराध ढूँढने के लिये । तुम जानते ही हो, कितनी बार महाराज के कानों तक ये मेरी छोटी-मोटी बातें जा चुकी हैं ।"

"तुम भूलो नहीं बंधु । मैं वचित देख लूँगा उन्हें । महाराज और प्रजा के विरुद्ध हम कोई षड्यंत्र नहीं कर रहे हैं भाई । अपनी मित्रता को लेकर रसानुसंधान कर रहे हैं भाई । राजभवन के निवासियों की निद्रा में कोई विघ्न न पड़े, इसलिये आप हैं इतनी दूर ।"

"नहीं अजात, मेरा हृदय नहीं मानता । मैं समझता हूँ यह पुष्प वनों की ही लोलिका है । इन्हें अवश्य कहीं-न-कहीं से हमारे इस उद्योग का सूत्र मिल गया है । और इसमें भी कोई संदेह नहीं, वे महाराज को खबर ही न भेज रहे हों । मुझे बचाओ अजात !" देवदत्त ने अजात शत्रु से विनय की ।

"क्या करें फिर अब ?" अजात ने कहा ।

चारुशीला और चंद्रलेखा दोनों हँसने लगीं, देवदत्त की उलझन को देखकर ।

"इस प्रकार डरते हो ! तुम्हारी भी सारी संपत्ति छीनकर देश निकाला दे दिया जायगा ।"

अजात भी कुछ घबराने लगा। उसने प्रहरी से कहा—"जाओ देखो, प्रकाश कहाँ तक आ गया।"

प्रहरी चला गया। देवदत्त विचार-निमग्न खड़ा था।

युवराज अजातशत्रु ने फिर कहा—"चलो फिर भाग चलें।"

"कैसे इस अँधेरी रात में ?"

"फिर क्या होगा ?"

"गुफा के समस्त प्रकाश बुझाकर विजन की निस्तब्धता में अपनी निस्तब्धता मिला दें।"

प्रहरी आकर कहने लगा—"कुछ और निकट आ गए।"

"इसी ओर ?" देवदत्त ने पूछा।

"हाँ।"

"ये सब प्रकाश बुझा दो।" कहकर देवदत्त स्वयं भी एक दीपक की ओर बढ़ा, उसे बुझा दिया।

शेष दीपक प्रहरी ने निर्वापित कर दिए।

गुफा के घने अंधकार में अजात ने पुकारा—"आम्रपाली !"

हँसती हुई वह बोली—"हाँ युवराज !"

"भय तो नहीं लग रहा है ?"

"नहीं, मगध के भावी सम्राट् के साथ किसका भय ?"

"जब सम्राट् तब होगा, तब। इस समय तो अब मौन होकर पड़ी रहो सुकुमार।"

"क्या चोरी कर रही हैं ?"

"और नहीं तो क्या ? मगध के युवराज को अपने रूप और स्वर के जाल में बाँधकर तुमने कुमार्ग पर रख दिया है यदि पकड़ी गई, तो फिर आम्रपाली का मार्ग भूल जाओगी।"

"बस, अब इसके मौन धारण करो युवराज। यदि आम्रपाली और देवदत्त को पकड़ा देना नहीं चाहते हो, तो।"

प्रहरी उस अंधकार में बोला—"मेरे लिये क्या आज्ञा है ?"

"तुम अपने स्थान पर जाकर सजग रहो। जब वे लोग निकल जाने लगें, तो हमें सूचित करो।" देवदत्त ने कहा।

"जो आज्ञा।" कहकर प्रहरी चला गया।

"मेरा धनुष कहाँ है देवदत्त ! लाओ, मुझे दो। मैं उसे सिरहाने रक्खूँगा।

देवदत्त ने हँसकर कह दिया—"अब चुपचाप रहो मित्र !"

"केवल एक बात देवदत्त।"

"कह डालो उसे भी।"

"मैं सोचता हूँ, क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे महाराज बिम्बसार के जीते-जी राजसिंहासन हमारे अधिकार में आ जावे।" अजात ने पूछा।

"विचारकर दूँगा इसका उत्तर अजात !"

सब कुछ देर में निद्रा के वश हो गए, पर देवदत्त की आँखों में नींद कहाँ ! वह बाहर आया। प्रहरी को पुकारा।

प्रहरी आकर उपस्थित हुआ।

"कहाँ पर है प्रकाश ? मैं तो कुछ भी नहीं देख रहा हूँ।"

"उधर, सामने नगर की दिशा में, अभी-अभी छिप गए हैं, महाराज के शिविराराम की अमराई में। देखिए, अभी प्रकट हो जावेंगे।" प्रहरी बोला।

देवदत्त ने बड़ी देर प्रतीक्षा की। प्रकाश प्रकट न हुआ, देवदत्त कहने लगा—"तुम मूर्ख हो प्रहरी। जान पड़ता है तुम्हें धोखा हुआ है।

"नहीं राजकुमार, मैं युवराज की बहुत वर्षों से सेवा कर रहा हूँ। यदि ऐसी ही दशा होती तो कभी का निकाल दिया गया होता।"

देवदत्त फिर देखता रहा। फिर कुछ भी दृष्टिगोचर न हुआ। उसने महरी का हाथ पकड़कर कहा—"अपने भाले से ठीक दिशा को संकेत करो।"

महरी ने आज्ञा का पालन किया।

क्षीण प्रकाश में देवदत्त ने भाले की नोक से उस स्थान का अनुमान किया। उसने घृणा की हँसी हँसकर कहा—"जहाँ सिकता राम कहाँ है वहाँ पर तो कलिंजर-नामक कस्बा है! जान पड़ता है, गाँव में कोई उत्सव होगा।"

'नहीं राजकुमार, कलिंजर में कोई उत्सव नहीं है। मैं सन्ध्या-समय अभी पथ से तो आया था, वाद्य न सुनाई पड़ा क्या?"

"किसी का कोई पशु खो गया होगा। उसी को ढूँढ रहे होंगे।"

'वह भगवान् जानें। सचमुच में अब न-जाने कहाँ चला गया प्रकाश।"

तुमने युवराज का रस-जागरण विफल किया। उन्हें एक संतोष होगा, गहरी नींद में सो रहे हैं। मेरी निद्रा भी भंग कर दी तुमने।'

"क्षमा कीजिए। यदि वे सचमुच में गुप्तचर होते और मैं उन्हें कुछ और समझता तो भी तो कठिनाई में पड़ जाता।"

"समय कितना बीत गया होगा?" पूछा देवदत्त ने।

"अभी डेढ़ प्रहर रात्रि शेष होगी।"

"अच्छा मैं भी धरती पर सिर रखता हूँ। सोऊँ, कदाचित् नींद आ जाय। महरी! सूचना नहीं, चार घड़ी रात रहते उठा देना हम सबको कि प्रकाश होने के पूर्व अपने-अपने स्थानों में पहुँच जायँ।

ऐसे ही चोरी-छिपाव से देवदत्त युवराज अजातशत्रु को सैन्य-समाजों में नियुक्त रखता। कभी-कभी दिन में भी वे गुप्तचर

बहाने से विन्ध्याचल की उपत्यकाओं को चले जाते और निर्द्वन्द्व होकर मनमाने विलास में निमग्न रहते।

सेवक-सेविकाएँ क्या, बड़े-बड़े सचिव और अधिकारियों का भी युवराज के विरुद्ध महाराज से कुछ कहने का साहस न होता था। वे सोचते—"कुछ समय पश्चात् अजातशत्रु के ही हाथों में राज्य सूत्र आ जायेंगे, क्यों व्यर्थ ही में इनकी शत्रुता ली जाय। स्वयं ठीक हो जायेंगे, वह समय आने पर। यौवन वेग में है इनके कुछ दिन में शांत हो जायगी यह आँधी।"

महाराज बिंबसार इस बात से अवगत नहीं थे कि देवदत्त की संगति का अजात पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। उन्होंने देवदत्त को युवराज से दूर करने की चेष्टाएँ कीं, वह निष्फल ही रहीं। अजातशत्रु में बड़े दृढ़ होकर देवदत्त के पैर जम गए थे। मगध के युवराज के हृदय में एक विशेष स्थान अधिकृत कर लिया था उसने।

एक युक्ति सूझी महाराज को। काशी का एक अद्भुत बड़ा ग्राम कोसलराज से उन्हें पैतृक में मिला हुआ था। बिंबसार ने देवदत्त को वहाँ का प्रबंधक नियुक्त कर भेज देने की ठानी। पर युवराज अजातशत्रु किसी प्रकार सहमत न हुआ। उसने स्पष्ट शब्दों में महाराज से कहा—"देवदत्त मेरा परम मित्र है। मैं उसके बिना नहीं जीवित रह सकता। यदि मगध के राजकोष पर वह भार-स्वरूप है, तो वह मेरे व्यय पर रहेगा यहीं।"

महाराज चुप होकर रह गए।

उस दिन कपिलवस्तु से महाराज शुद्धोदन का भेजा हुआ दूत आ पहुँचा राजगृह में। देवदत्त ने जब यह समाचार सुना तो रह न सका। युवराज अजातशत्रु के साथ उसने भी राजसभा में प्रवेश किया।

दूत सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के समाचार लेकर आया

था। उसने हाथ जोड़कर महाराज बिंबसार के सामने निवेदन किया—"महाराज, मैं कपिलवस्तु से आया हूँ। महाराज शुद्धोदन ने मुझे भेजा है। युवराज सिद्धार्थ, लगभग एक मास व्यतीत हुआ राजभवन से बिना किसी से कुछ कहे-सुने न-जाने कहाँ को निकल गए हैं। बहुत खोज करने पर भी अभी तक उनका कोई पता नहीं लगा है।"

"कारण ?" बिंबसार ने चकित होकर पूछा।

देवदत्त के मुख पर बड़ी विजय अंकित हुई ! उसने अमात्य का हाथ पकड़कर धीरे धीरे कुछ कहा उनसे।

दूत ने उत्तर दिया—"बाल्यावस्था से ही युवराज के मन में संसार के सुखों से अनासक्ति उत्पन्न हो गई थी। अनुमान यही लगाया जा रहा है कि वह संन्यासी हो गए।"

देवदत्त अपने आसन से उठा—"धृष्टता क्षमा हो महाराज ! मैं बताऊँगा कारण। मैंने युवराज की संगति में अपना बचपन बिताया है। मैं जानता हूँ असल कारण।"

"कहो।" महाराज बोले।

"कारण है, युवराज को जन्म से ही कारागार में डाल दिया गया था महाराज। जगत् छिपा दिया गया उनसे। सब पर आवरण डाल दिए गए। साथ अधीरों के संपर्क में उनकी इंद्रियाँ छटपटा उठीं और वह बँधे हुए जल के वेग से बाँध को तोड़कर निकल गए संसार में।"

"कुछ भी हो संसार के बंधन तोड़ डालना क्या सरल बात है ! हमें युवराज के वैराग्य की स्तुति करनी चाहिए।"

"वैराग्य संन्यास कुछ भी नहीं है यह महाराज यह एक दूसरा ही राग है। मुझे ज्ञात है वे अलपुर के पास।"

कौतूहल के साथ महाराज बिंबसार ने पूछा—"क्या ज्ञात है तुम्हें ?"

"यह बिम्बसार का राज्य है महाराज! उनके अपना लड़का है राजकुमार नंद। उसी को वह कपिलवस्तु का राजमुकुट पहनाना चाहती है।"

दूत ने विरोध किया—"नहीं महाराज, ऐसी बात नहीं है। महारानी प्रजावती ने युवराज सिद्धार्थ के समीप कभी किसी छोटी से-छोटी बात में भी राजकुमार नंद को भेद नहीं दिया। सात दिन का ही उन्हें माता छोड़ गई थी, तभी से महारानी ने दिन-रात न देखे, ग्रीष्म-शिशिर का विचार न किया। अपने सुख-दुख, भूख-प्यास न समझे, उस मातृ-हीन शिशु का लालन-पालन ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बनाया। आज उनके अभाव में सबसे कातर वही हैं।"

देवदत्त बोला—"कभी रनिवास की देहली का अतिक्रमण भी किया तुमने? बाहर-ही-बाहर क्या जान सकते हो तुम इन नीति की बातों को। मुझसे पूछो, मैं जानता हूँ इन सब बातों को।"

"तुम नहीं जान सकते राजकुमार देवदत्त! तुम्हारा राज्या-धिकारी शाक्य-वंशजों से कुछ जन्मजात द्वेष है यही कई बार प्रकट हुआ है तुम्हारे मुख से। इसी द्वेष के कारण है तुम्हारी दृष्टि में उनका गुण भी अवगुण ही प्रतीत होता है।" बिम्बसार ने कहा।

देवदत्त फिर न बोला।

दूत ने कहा—"महाराज ने आपकी सेवा में यह विनय की है, यदि युवराज का कभी आपके राज्य की सीमा में पदार्पण हो, तो उन्हें स्वराज्य और स्वगृह को लौटा देने की कृपा की जाय। जिसके लिये कपिलवस्तु की प्रजा और राजा आपके सदैव ही उपकृत रहेंगे।"

अनेक प्रकार से महाराज शुद्धोदन के लिये आश्वासन-संदेश भेजकर मगधपति ने दूत को विदा किया।

देवदत्त ने सभा-भवन से निष्क्रांत होते हुए मार्ग में अजातशत्रु से कहा—"असहाय, मातृ-हीन युवराज सिद्धार्थ, यदि आज उसकी माता जीवित होती, तो उसके यह गृह-त्याग की घड़ी न आती। मुझे रह-रहकर उसी की इस विषम अवस्था का ध्यान हो रहा है।"

"पर मेरे विचार में तो वही आम्रपाली नाच रही है। उसका अप्रतिम रूप लावण्य अद्वितीय गीत-नृत्य, अनुपम भाव-भंगि मेरे हृदय में घर कर गए हैं। भुलाए से भूले जाते नहीं। देवदत्त मित्र, तुमने उसे भगा दिया।'

'मैंने नहीं भगाया बंधु। आर्यावर्त के प्रमुख जनाधिप उसकी अभ्यर्थना करते हैं। बड़े-बड़े सम्राट् उसकी उपासना के लिये लालायित रहते हैं। श्रावस्ती में सुना है उसकी विलास अट्टालिका, दास-दासी और सुख-भोग को देखकर बड़े-बड़े महाराजों का विभव मलिन पड़ जाता है। वह फिर आने की प्रतिज्ञा तो कर गई है अगले वसंतोत्सव पर।"

'बहुत दिन हैं अभी।"

"अच्छा वहीं मन की स्थापना करो मित्र।"

"नहीं देवदत्त। क्या हमारे आदर और धन से वह संतुष्ट नहीं होती ?"

'तुम पर प्रेम करती तो है वह। किन्तु वहाँ उसे चारी-दिप कर रखना उचित नहीं है।"

अजातशत्रु ने कहा—'इसी से तो मैंने तुमसे कहा था राज्य के सूत्र अभी मेरे हाथों में आने की आवश्यकता है। चलो, एक दिन वहीं श्रावस्ती का कोई बहाना बना लिया जायगा।'

'यदि वहाँ उपस्थित न हुई तो ?'

---

१२ आप ही गुरु हैं

सिद्धार्थ विंध्याचल की शैलमालाओं में सुशोभित मगध की राजधानी राजगृह पहुँचे। उस वीर त्यागी के अंग में आभूषण क्या, वस्त्र भी तो नहीं थे। पर उसके देह की दीप्ति और कांति, उसकी चाल और गति, उसके संकेत और वाणी उसके रहस्य को छिपाकर नहीं रख रहे थे।

जिसने उस प्रभा-प्रदीप्त मुख-मंडल को देखा, देखता ही रहा। गोप ने गाय को छोड़कर उसे देखा, गाय ने चरना छोड़कर उस पर दृष्टि की। श्रमी ने भार भूमि पर रखकर उसे देखा, श्रांत ने जागकर उसे निहारा। रमणी ने अवगुंठन उठाकर उसके दर्शन किए, पुत्र ने माता का स्तन छोड़कर उसका अवलोकन किया।

शिविका, रथ और वाहन के आरोहियों ने रुककर उस परम तेजस्वी श्रमण के दर्शन किए। जो उन्हें न देख सके थे, वे दौड़कर आए उन्हें प्रणाम करने। सब यही कहने लगे—"कौन है यह स्वर्गीय कांति और शांति से समन्वित पुरुष! यह देवता, यक्ष, गंधर्व है या मनुष्य!"

सिद्धार्थ राजगृह के द्वार-द्वार पर जाकर भिक्षा आहरण करने लगे। प्रत्येक उनके भिक्षा-पात्र को परिपूर्ण कर देने के लिये आकुल हो उठा। पर उन्होंने एक मनुष्य से केवल एक ही ग्रास की भीख माँगी। भिक्षा-पात्र जब भर गया, तो सिद्धार्थ नगर के बाहर चले। पांडव-शैल पर पहुँचकर, एक निर्झरिणी के समीप बैठकर वह भोजन करने लगे।

वनाग्नि की भाँति सिद्धार्थ के आगमन का समाचार समस्त नगर में फैल गया। राजभवन में महाराज के समीप यह समाचार सुनाया एक सेवक ने— 'महाराज, एक अनुपम तेज और लावण्य युक्त मनुष्य आपकी राजधानी में आया है।"

"युवराज सिद्धार्थ तो नहीं हैं!" सहसा महाराज के मुख से यह वाणी निःसृत हुई।

महाराज का कौतूहल यहाँ तक बढ़ा कि वह उसी समय सिद्धार्थ से भेंट करने के लिये व्यग्र हो उठे। उन्होंने पात्र और अनुचरों की भी प्रतीक्षा नहीं की। एक साधारण प्रजा की भाँति वह एक प्रहरी को साथ लेकर पूछते-पूछते उसी वक्त चल दिए वन की ओर।

चौराह-चौक पर जाकर देखा, एक वृक्ष के नीचे एक कांति-समन्वित, दिव्याकार मनुष्य ध्यानस्थ होकर बैठा है। प्रहरी को कुछ दूर पर ही छोड़कर उनके निकट मगधपति बढ़े।

महाराज बिम्बसार की आँखों से सिद्धार्थ की आँखें जुड़ गईं। वह स्मित हो उठे मानो बहुत दिनों का उनका परिचय है। उन्होंने मूक भाषा में मगध के प्रतापशाली सम्राट् का स्वागत किया उनकी अभ्यर्थना की और भूमि की ओर बैठ जाने का संकेत किया।

महाराज बिम्बसार ने देखा, उस तेजस्वी महापुरुष के समीप उनकी सारी प्रभुता, दुर्ग और राजरानियाँ, सेनायुध और दिग्विजय सब-के-सब अत्यन्त तुच्छ हैं। महाराज दर्प और अभिमान को भूलकर उस तृणसैन्य से भरी भूमि पर बैठ गए। उन्होंने प्रश्न किया—"तुम सिद्धार्थ हो?"

सिद्धार्थ ने मुख खोला—"हाँ, मैं सिद्धार्थ हूँ।"

"तुम्हें प्रणति है हे तपस्वियों के नायक! तुमसे एक प्रश्न किसी

के तृण की भाँति राज-सुख छोड़ दिया और हम इस लोलुप, आकांक्षाओं के बीच, तुच्छ कीड़ों के तुल्य उसी में चिमटे हुए हैं।"

"आप क्या इस राज्य के—"

"हाँ, मैं बिंबसार हूँ।"

'आपकी प्रजा में से किसी ने भी मेरा नाम नहीं पूछा। आपने कैसे जान लिया मैं सिद्धार्थ हूँ! कपिलवस्तु के राज-दूत यहाँ तक आ पहुँचे हैं, जान पड़ता है।' सिद्धार्थ ने मुसकान के साथ कहा।

"हे सुंदर युवक! तुम्हारे ये सुकोमल हाथ-पैर इस भिक्षा के पात्र और इस कठोर पथ के योग्य नहीं हैं। क्या राजभवन में तुम्हारी किसी से कुछ कहा-सुनी हुई? कोई चिंता की बात नहीं है। मेरे साथ चलो, मैं अपने राज्य के बहुत बड़े भाग का तुम्हें अधीश्वर बना दूँगा। यह कंटकाकीर्ण पथ तुम्हें अभ्यस्त नहीं है। तुम्हें नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ेंगे।"

"हे सम्राट्! मैं कष्ट को ही सहचर बनाकर घर से निकला हूँ। कुछ दिन उसका सहवास होने पर फिर वह अभ्यस्त हो जायगा।"

"राज्य और सुख का संसार भी तो पराक्रम से उपलब्ध करने की वस्तु है। उसकी उपेक्षा उचित नहीं है। उसमें रहकर भी तो मनुष्य सत्य और ज्ञान का अनुसंधान कर सकता है। कमल-पत्र के समान उसमें निर्लिप्त होकर भी तो उसमें वास किया जा सकता है।"

"नहीं महाराज, एक बार जिसे तुच्छ समझकर त्याग कर दिया, फिर उसी का संबंध पकड़ लेना, मेरी सबसे बड़ी पराजय का कारण होगा। यह मेरा मन ही मेरा राज्य-क्षेत्र है। इसमें निवास करनेवाली सत् और असत् दोनों प्रकार की इच्छाएँ ही मेरी

प्रजा है। बुद्धि और विवेक मेरे अमात्य हैं। मुझे इन्हीं के साथ संधि और विग्रह के लिये रहने दो।"

महाराज बिंबसार मन-ही-मन सिद्धार्थ के त्याग की प्रशंसा करने लगे।

सिद्धार्थ फिर बोले—"सत्य के साक्षात्कार का दृढ़ संकल्प कर मैं घर से निकला हूँ। सघन अंधकार में सारी वसुधरा परिवेष्टित है। वह असीम वेदना में पड़ी कराह रही है। मैंने उसका अविराम क्रंदन सुना है। मैं उसी के कष्ट की आपत्ति हरने जा रहा हूँ। मुझे अपनी शक्ति का भरोसा हुआ है और मैं अपने उपाय में सफल होऊँगा। मैं इस यथार्थ सत्य का अनुसंधान कर ही रहूँगा।"

"तथास्तु, ऐसा ही हो! मेरी मंगल-कामना यही है, तुम्हें तुम्हारा इष्ट प्राप्त हो। यह मेरा समस्त मगध-साम्राज्य एक कोरे-से पुष्प की भाँति तुम्हारे चरणों में समर्पित है। तुम्हें जिस सहायता की आवश्यकता है, इस मगधपति को अपना तुच्छ सेवक समझो वह सब तुम्हारी इच्छानुसार उपलब्ध कर सकता है।" हाथ जोड़कर महाराज बिंबसार ने कहा।

"हे महाराज! मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।"

"धन्य है तुम्हारे त्याग ने तुम्हें सारे जगत् के सम्राटों का भी सम्राट् बना दिया है।"

"अभी अनेक बंधन हैं महाराज, जिन्होंने मेरे मन को इस भौतिक जाल में जकड़ रक्खा है। सेना और शस्त्रों से वे विच्छिन्न हो नहीं सकते। श्री और संपत्ति के वश में वे हो नहीं सकते। फिर मैं आपसे क्या सहायता माँगूँ।" सिद्धार्थ ने कहा।

"भगवान् कृपालु हुए हैं तुम पर। महाराज शुद्धोदन को स्वर्ग का मोह हुआ है। मैं उनके पास संदेश भेजूँगा कि उनका सत्य के अन्वेषण की खोज करना उन्हें उनके इस प्रपंच से विरत करना है।"

"क्यों न ?"

"परंतु मैं तुम्हें समस्त जंबूद्वीप में सर्वश्रेष्ठ रूपसी समझता हूँ।" देवदत्त ने कहा।

चंद्रलेखा के भाव कुछ कोमल पड़े।

"हमारे इस विवाद का अंत होगा। इस भिक्षु का निर्णय हम दोनों को मान्य है। जाओ, साहस रखकर जाओ, और अपनी प्रतिष्ठा को सब पर स्थापित करो। तुम इंद्र-कुबेर-जैसे देवताओं का मन हरण कर सकती हो। इस श्रमण का अस्तित्व ही क्या है तुम्हारे इस स्वर्गीय रूप के जादू के समीप।"

चंद्रलेखा ने भूमि पर पैर पटका, मंजीर-पायल की झमक से नीड़ वासी पक्षी चौंक उठे। वह बोली—"अच्छी बात है तुम दोनों में से कोई भी न आने पायेगा यहाँ।"

"हम यहीं छिपे रहेंगे।"

चंद्रलेखा चली गई सिद्धार्थ के समीप, अत्यंत सधत, और धीमे नीरव पादों से। आगे जाकर देखा, एक परम दिव्य पुरुष ध्यानस्थ बैठा है। अपने में ही विलीन देखकर वह नर्तकी देखती ही रही क्षण। न समझ सकी कि मनुष्य के सामने खड़ी है या एक प्रतिमा के। वह चिल्लाने लगी—"नगर में जो वास एक श्रमण के आने का समाचार था, यही आप लगते हैं। इस निष्पाप प्राणी को छेड़ने से मुझे काम ही क्या? मेरा क्या बिगाड़ दिया है इन्होंने?" वह और जाना चाहती थी, उसे याद आया फिर—"मेरे समीप आत्मज्ञानी! मेरे चरणों की धोवन, मेरे पदत्राण की धूल!" वह सिद्धार्थ के निकट बैठ गई। उसने उनकी जंघा पर अपना रत्नाभरणों से भारी हाथ रक्खा।

सिद्धार्थ ने आँखें खोलकर कहा—"कौन हो तुम?"

"तुम्हारे इस अप्रतिम रूप की उपासिका हो चुकी हूँ।" —

"नहीं-नहीं, रूप और यौवन दोनों अस्थिर और असार वस्तु हैं; तुम सार्थ भूलकर आ पहुँची हो यहाँ!

"भूलकर नहीं जान-बूझकर ही आई हूँ। मैं तुम्हारे रूप की तृषित, चातकी हूँ। मैं तुमसे तुम्हारे प्रेम की भीख माँगने आई हूँ। तथा अमल, तुम्हारा यह रूप और यौवन इस विजन में नग्न और उपेक्षित रहने के हेतु नहीं रचा गया है। मेरे साथ मेरी सुविशाल अट्टालिका में चलो। मैं मगध की परम वैभवशालिनी और रूपगर्विता वारांगना हूँ। बड़े-बड़े प्रतापी और विजयी सम्राट्, बड़े-बड़े धनपति कुबेर मेरी कृपा, मेरे दर्शन और मेरे स्पर्श के लिये आकुल रहते हैं। चलो, मैं इन सबका परित्याग कर केवल तुमसे प्रेम करूँगी। मैं तुमसे तुम्हारे प्रेम की भिक्षा चाहती हूँ, मुझे निराश न करो।"

"मैं तुम्हें क्या भिक्षा दूँ, मैं तो स्वयं भिखारी हूँ। तुम्हीं दो मुझे एक भीख।"

"कहो, क्या चाहते हो! तुम्हारे लिए मेरे पास कुछ भी अदेय नहीं है।"

"जगत् को अपने ध्यान का बाधक समझकर मैं यहाँ आया हूँ। मेरे इस सुन्दर एकांत में तुम बाधा पहुँचा रही हो। मैं यही भीख तुमसे चाहता हूँ, तुम जहाँ से आई हो, वहीं चली जाओ।"

"नहीं।"

"तो मुझे ही जाना पड़ेगा।" कहकर सिद्धार्थ चल पड़े "सारा जगत् चल रहा है। विकास विनाश की ओर, यौवन जरा की ओर, उदय अस्त की ओर, जन्म मृत्यु की ओर। सिद्धार्थ भी चल रहा है मृत्यु नहीं, अमरत्व की दिशा में, माया नहीं, ब्रह्म की

दिशा में, निद्रा नहीं, जागृति की दिशा में; भ्रम नहीं ज्ञान की दिशा में। उसे जाना ही चाहिए—तुम केवल एक निमित्त हो।"
सिद्धार्थ उठकर चल दिए।

"इस अंधकार में सचमुच तुम चल दिए। मैं सच्ची थी, परिहास कर रही हो। बैठो, इन उपत्यकाओं में मार्ग नहीं है। इनके गहरे विवरों में अनेक सर्प और हिंसक पशु रहते हैं।"

"वे हमारे मन में रहनेवाले काम, क्रोध और लोभ से कहीं अधिक सुंदर और शुद्ध हैं। मैं अपने मन में उनके लिये कोई हिंसा का भाव न रक्खूँगा। वे मुझे कुछ नहीं कर सकते। यह निशा में छिपी हुई निर्मल प्रकृति माता से अधिक दयावती है मेरे लिये।" सिद्धार्थ उस अंधकार-भरी गिरि-कंदराओं में न-जाने कहाँ को चल दिए।

चंद्रलेखा डरती रही। सिद्धार्थ का अनुसरण करने का साहस न हुआ उसे। उसने पुकारकर कहा— ठहरो ठहरो मुझे छोड़कर कहाँ चले गए तुम? मुझे अकेले भय लग रहा है।"

सिद्धार्थ जाते-जाते ही बोले—"तुम अकेली ही आई थीं मेरे पास, अब भय कैसा? मैं भी अकेले ही आया था, मुझे भी कोई भय नहीं।

'सुनो तो सही।" चंद्रलेखा ने कहा।

सिद्धार्थ उसकी ध्वनि की परिधि के बाहर चले गए थे। उन्होंने कुछ उत्तर न दिया।

निकट ही किसी पशु की चीत्कार सुनाई दी।

चंद्रलेखा भयभीत हो उठी। उसने राजकुमारों को पुकारा।

देवदत्त और अजातशत्रु निकट ही ओट से, छिपे हुए यह दृश्य देख रहे थे।

अजात ने देवदत्त की आँख में उँगलियाँ नचाकर धीरे-धीरे

कहा—"कुछ पता चला । उत्तर देता नहीं । देखूँ, कहाँ गया है !"

दोनों नीरव और चकित रहे ।

चंद्रलेखा भय से आकुल होकर चिल्लाई—"युवराज ! राजकुमार ! कहाँ हो तुम ? मुझे डर लग रहा है !"

अज्ञात ने देवदत्त के आघातों पर अपना हाथ रख लिया ।

"यह परिहास उचित नहीं है । मैं भविष्य में अब कभी तुम्हारी कोई आज्ञा मानने की शपथ ना लूँगी । युवराज ! युवराज ! राजकुमार ! राजकुमार ! देवदत्त !"

आस-पड़ोस में कहीं वृक्षों की डालियों में बंदरों के परिवार डेरा डाले हुए थे । चंद्रलेखा की चीत्कार सुनकर वे भाँति-भाँति की बोली बोलने लगे । उसे सुनकर वह नर्तकी और भी घबरा गई । सचमुच रोने लगी ।

देवदत्त बोला—"परिहास की सीमा होनी चाहिए बंधु अज्ञात ! कहीं भय से यह अचेत हो गई तो बड़ी कठिनता में पड़ जाएँगे ।"

"इस गायिका के गीत से इसका रुदन बड़ा मीठा प्रतीत हो रहा है ।"

देवदत्त ने कहा वहीं पर से—"चंद्रलेखा ! चंद्रलेखा ! धीरज रखना । हम यहीं पर हैं । अभी आ पहुँचे । मार्ग भ्रष्ट हो गए थे ।"

खोजते हुए दोनों उसके समीप पहुँच गए ।

चंद्रलेखा का चिल्लाना बंद हुआ पर वह सिसक रही थी ।

देवदत्त ने भी हाँफते हुए कहा—"मित्र कहाँ गया ?" ज्ञात था उसे सब कुछ ।

"मैं क्या जानूँ, कहाँ गया !" अत्यंत रिस से भरकर बोली—"बड़े दुष्ट हो तुम !"

अजातशत्रु ने पूछा— 'कहाँ भगा दिया तुमने उस श्रमण को ?"

"मैंने कहाँ भगा दिया उसे ?" तमककर चंद्ररेखा ने उत्तर दिया।

"नहीं-नहीं, हम कुछ न पूछेंगे उस भिक्षु के संबंध में।" देवदत्त ने आश्वासन दिया उसे।

"नहीं जानती मैं कुछ, मुझे अभी मेरे घर पहुँचाओ" नर्तकी ने तीव्र शासन के स्वर में कहा।

सभी पथ से नगर को लौट चले।

देवदत्त के वह बदला बड़ी गहरी चुभ गई थी। उस अंधकार में अग्नि के प्रकाश में उसने सिद्धार्थ को भले प्रकार पहचान लिया था। सिद्धार्थ की उस त्याग और वैराग्य की दशा से उसकी प्रतिहिंसा तृप्त न हुई वह और भी प्रज्वलित हो उठी। वह सिद्धार्थ को परम.पवित्र मार्ग में स्वर्गीय ज्योति की ओर बढ़ते हुए देखने लगा।

यद्यपि देवदत्त विषय-रत था तथापि था वह मेधावी। उसके मन में उन्नति करने की महती आकांक्षा भी थी, वह अपने संकल्प में भी दृढ़ था और कठिन-से-कठिन परिश्रम उठा लेने की क्षमता भी उसमें थी।

मार्ग में चलते चलते उसने कहा—"अजात इस भिक्षु को मैंने पहचाना। यह मेरा बाल-सखा सिद्धार्थ है।"

"होगा।" बड़ी उदासीनता से अजात ने उत्तर दिया।

"इसे देखकर मेरे मन में कुछ दूसरी ही वृत्ति का उदय हो गया।"

'कैसा ?'

"जिन विषयों का हम सेवन कर रहे हैं, वे तुच्छ प्रतीत होने लगे हैं। विषयों से डरकर भाग जाना ठीक नहीं, उनका सामना कर उन्हें पराजित करना श्रेयस्कर है। अब बहुत हो चुका।"

'क्या अर्थ है तुम्हारा ? क्या ऐसे ही भिक्षु हो जाने का विचार है ?"

"नहीं, बिलकुल ऐसा तो नहीं, पर हमें अपनी ज्ञान की शक्ति को उन्नत करने की चेष्टा में लगना चाहिए। वही सर्वोपरि है।"

नगर का द्वार आ पहुँचा था। प्रहरी बोला—"कौन ?"

सिद्धार्थ ने तीव्र स्वर में चौंककर कहा—"मैं हूँ।"

स्वर पहचानकर प्रहरी ने हाथ जोड़े—"युवराज की जय हो!"

सिद्धार्थ रात-भर चलते ही रहे, धैर्य और निर्भीक पदों से। दूसरे दिन वह आचार्य रुद्रक के आश्रम में पहुँच गए, जहाँ सैकड़ों साधक उनके आश्रय में साधना कर रहे थे।

इस आश्रम में भी सिद्धार्थ का बड़ा अच्छा स्वागत हुआ। आचार्य के सहित सारी शिष्य-मंडली इस नवागत भिक्षु के आगमन से प्रभावित हो उठी।

आचार्य रुद्रक के आश्रम में सिद्धार्थ ने ज्ञान और योग का ज्ञान प्राप्त किया, और साधना की। वहाँ उन्होंने ब्रह्म प्राप्त होने पर मन की अकिंचनता, संदेहातीत आनंद तितिक्षा, पार्थिव नियमों से ऊपर विषय-मुक्ति, आत्मा का अनंत भाव भौतिक प्रपंच और उसकी अभिव्यक्ति एवं देश-काल की व्यापकता, इन सात प्रकार के ध्यानों की शिक्षा प्राप्त की। परंतु समाधि के उच्चतम स्तरों पर पहुँचने की शक्ति आचार्य में न थी। उन्होंने सिद्धार्थ से स्पष्ट ही कह दिया।

सिद्धार्थ ने देखा आचार्य इंद्रियों को विषयों के संसर्ग से दूर रख सकने में समर्थ हुए थे, पर मन में विषयों का सूक्ष्म सूत्र बना हुआ ही था अब तक, वे किसी समय भी मन की सहायता से इंद्रियों को विचलित कर देंगे। सिद्धार्थ ने सोचा, कामनाओं की जड़ मन ही में अंकुरित होती है। वहीं से उनका उच्छेदन करना

"मैं इसके भय का कारण नहीं हूँ, फिर स्वयं ही क्यों इससे डरूँगा ?"

"सच ?" कालदंड ने पूछा।

"हाँ सच।"

"जा, वह तुम्हारी ओर को आया।" कालदंड ने पैर से सर्प को सिद्धार्थ की दिशा में धकेला।

सर्प सिद्धार्थ की ओर को नहीं बढ़ा, धीरे-धीरे आया। शिष्यगण भय-त्रस्त होकर दीवार की ओर सिमट गए, पर सिद्धार्थ स्थान-च्युत न हुए, और भी निर्भीकता से उन्होंने कालदंड को आँखों पर देखा, जैसे प्रेम और करुणा की दृष्टि से।

"मंत्र सिद्ध किया है क्या तुमने कोई ?" कालदंड ने फिर सर्प को उकसाया।

सर्प ने फिर फुफकार छोड़ी।

कालदंड ने उपेक्षा के साथ फिर सर्प पर पैरों से प्रहार किया।

सर्प ने झपटकर कालदंड की एड़ी में गहरे दाँत गड़ा दिए, और बिजली की चमक में वह गुफा के भीतरी अंधकार में न-जाने कहाँ को सरक गया।

बड़ी वेदना-जनक चीत्कार छोड़कर कालदंड एड़ी पकड़कर बैठ गया, और सिद्धार्थ से कहने लगा—"जानते हो तुम कोई मंत्र ? बता दो मुझे, तुम्हारे पैर पड़ता हूँ। मैं यह शिकारवृत्ति छोड़ दूँगा। जैसे कहोगे, मैं वही वृत्ति धारण करने को प्रस्तुत हूँ।

"नहीं कालदंड ! मैं नहीं जानता कोई मंत्र, काल का निश्चित अंत है एक-न-एक दिन, एक-न-एक घड़ी, उसका कोई मंत्र नहीं है।"

"है कैसे नहीं ?"

"यदि होता, तो आज धरती पर सभी जीवित होते।

मैं जानता था पर मुझे न-जाने क्या हो गया ! मंत्र का सिद्ध

हाथ ही नहीं आ रहा है बड़ी बुरी घड़ी में तुमने इस गुफा में प्रवेश किया।"

'नहीं कालदंड! यह न समझो। मुझे तुमसे कोई भी शत्रुता नहीं है।'

कालदंड पानी पर हाथ-पैर फड़फड़ाते बोला—'अरे कृतघ्न! क्या इसी दिन के लिये तुझे पाला था। मुझे ही डसना था क्या तुझे। मैं मर जाऊँगा। मुझे भयानक काल के दूत दिखाई दे रहे हैं। कोई नहीं बचा सकते तुम मुझे।"

वही फिर चिल्ला उठा।

'कोई नहीं किसी को नहीं। तुम्हारे भयानक कर्मों ने क्या फिर तुम्हारी मृत्यु को समय से पहले बुला दिया।"

"हाँ, तुम्हारी मुक्ति की घड़ी आ पहुँची। ब्रह्मचारियो! उठो क्या हो अब भी। इस गुफा का कालदंड अब कभी नहीं सकता, हमारा अनुशासन चलेगा अब यहाँ। खोल दो इन दीन मनुष्य के बंधन।" सिद्धार्थ ने कहा।

बंदी ने मुक्त होकर अनेक प्रकार से उन लोगों का गुणानुवाद किया, और अपने घर चला गया।

सर्प के विष से कालदंड कुछ समय में ही पंचत्व को प्राप्त हो गया।

शिष्यों का साथ लेकर फिर सिद्धार्थ तपस्या के लिये कोई उपयुक्त स्थान ढूँढते हुए वन-वन विचरने लगे।

---

१३ उरुवेला

आते-जाते उन्हें अनेक प्रकार के साधक-तपस्वी मिले। कुछ मन
परिश्रम में लगे थे। अनेक दंभ, पाखंड और मूर्खता
भरे हुए, इंद्रियों के सुख में फँसे हुए थे।

एक मनुष्य दिन-भर अपने चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर ऊप
से सूर्य का ताप अलग ऊपर लेकर पंचाग्नि में तप रहा था।

सिद्धार्थ उसकी कष्ट-सहिष्णुता से आकर्षित हुए, और उन्हों
उस रात को वहीं विश्राम निश्चित किया।

तपश्चर्या से निवृत्त होने पर संध्या समय सिद्धार्थ ने देखा, उ
साधक के शिष्यों ने नाना प्रकार के स्वादिष्ट और पुष्ट भोजन
पदार्थ उसके भोजन के निमित्त उसके समीप रक्खे।

सिद्धार्थ बोले—"हे साधक! बुरा मानने की बात नहीं है। तु
जिसे तप-साधना समझ रहे हो मैं उसे भानमती का खेल कहत
हूँ।"

"भानमती का खेल!" दिन-भर का पुंजीभूत ताप मानो
उसके नेत्रों से निकलने लगा। उसने सिद्धार्थ की ओर बड़ी वा
दृष्टि से देखा—"क्या अर्थ है तुम्हारा?"

"यही कि तुमने लोगों को विस्मय-मुग्ध बनाने के लिये एक
अभ्यास बनाया है, न कि प्रकृति के किसी रहस्य में प्रवेश प्राप्त
किया है। मैं समझता हूँ, इससे तुम्हें कोई तत्त्व नहीं मिला।
तुम्हारा मन अब भी लोगों का दास है, इंद्रियाँ चपल-चंचल।"

"क्या बिना मन वश में किए ही यह उग्र ताप सहन कर
रहा हूँ मैं! तुम कर सकते हो?"

"अभ्यास से कर सकता हूँ। केवल शीत और उष्ण के द्वं

को ग्रहण कर लेना कोई बात नहीं है। तुम अभी मान-अपमान की भावना से अतीत नहीं हो सके हो साधक !"

"कैसे कहते हो ?"

"मेरी सहज और शुद्ध भाव से की गई बात कैसे तुम्हें चुभ गई। पर मैं केवल तुम्हारे ही कल्याण के लिये प्रेरित हुआ हूँ। सुनो, इन्द्रियों में रसना को विजित करना बड़ा कठिन है। यह एक ही इन्द्रिय हमारी समस्त साधना को भूमिसात् कर देने में सदा सक्षम होती है। शेष चारों ज्ञानेन्द्रियाँ इसी से बल पाकर हमें पराजित करती रहती हैं।'

"मैं नहीं समझता, मैं रसना-लोलुप हूँ। यह जो भोजन तुम देख रहे हो यह रसना की तृप्ति के लिये नहीं है, यह शरीर के पोषण के लिये है।"

"जो मधुर गंध इस भोजन से पवन में फैल रही है, वह क्षुधा और बढ़ाती है। शरीर के पोषण के लिये बहुत सूक्ष्म और सरल भोजन पर्याप्त है। मैं समझता हूँ, शरीर के पोषक तत्व हम केवल पवन में से भी खींच सकते हैं।"

"तो क्या तुम केवल पवनाहारी हो ?"

"नहीं।"

"फिर चुप रहो। जहाँ गति नहीं, उसकी चर्चा ज्ञानी को शोभा नहीं देती।'

सिद्धार्थ निरुत्तर रहकर उस तपस्वी की बात पर विचार करने लगे।

तपस्वी बोला—"तुम मेरे अतिथि हो, बिना तुमसे भोजन करने का अनुरोध किए मैं खा नहीं सकता। आओ खा लो।"

सिद्धार्थ ने उन पाँचों ब्रह्मचारियों की ओर देखा और विचार किया—"हम भिक्षु हैं। स्वादिष्ट भोजन की ओर हमारी प्रवृत्ति न

होनी चाहिए। भिक्षा में जैसा भी मिल जाय, उससे घृणा भी तो उचित नहीं।"

महानाम ने कहा—"जैसी आज्ञा हो गुरुदेव की।"

सबने भोजन किया। दूसरे दिन जब सिद्धार्थ ताप-साधक के पास से विदा होने लगे तो ताप-साधक उनके चरणों पर पड़कर सिर गिराने लगा—"तुम कोई महात्मा हो, इसमें कोई संदेह नहीं। मैंने ताप को साधा है, शीत स्वयं ही सध गया है। मैं शिशिर की सारी-सारी रातें बिना मरे तक पानी में डूबकर बिता सकता हूँ। लोग मेरे इन कर्मों को बड़े आदर के भाव से देखते हैं। वे मेरी पूजा करते हैं, और मुझे बड़ा भारी सिद्ध समझते हैं। केवल एक तुमने ही प्रथम बार मेरी इस साधना पर साधारण दृष्टि निक्षेप की।'

सिद्धार्थ के मुख पर करुणा-भरी मुस्कान उदित हुई।

ताप-साधक कहता जा रहा था—"पर मेरे हाथ कुछ भी आया नहीं है। सोचता हूँ, तुम्हारा यह कहना कि यह केवल एक आत्मरती का खेल है, ठीक ही है। तुम मुझे तत्त्वज्ञानी जान पड़ते हो, मुझे भी मार्ग-प्रदर्शन करो। मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा।"

सिद्धार्थ ने कहा—"सच पूछो तो भाई, मैं एक अंधा ही हूँ। अंधा दूसरे अंधे को क्या मार्ग बताएगा!"

सिद्धार्थ के पैर पकड़ लिए उसने—"नहीं तुम जानते हो। प्रकट है मार्ग तुम पर। तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा मैं।"

सिद्धार्थ ने कहा—"सुनो साधक, तुम्हारे मन में जो सत्य को जानने के लिये जिज्ञासा उत्पन्न हुई है यह बड़ा शुभ लक्षण है। अपमान की जो ज्वाला है, वह अग्नि की लपट से कहीं अधिक तापदायिनी है। उसे सहन करना सीखो, हँसते हुए मुख और प्रसन्न हृदय से। यह बात तुम पर खुल चुकी है कि तन दंड को जीत

देने या दूसरा ढूँढ़ लेने आत्मसमर्पण कर रहा है। अब तुमने ताप को वश में किया, तो शीत अपने आप तुम्हारे अधिकार में आ गया। ऐसे ही जब तुम अपमान करनेवालों को आशीर्वाद देना आरंभ करोगे, तो फिर तुम्हें मान की कोई इच्छा ही नहीं रह जायगी। तुमने समझा न ?"

साधक बोला— 'हाँ, समझ रहा हूँ।'

"मैं सत्य की ही खोज में जा रहा हूँ। मैं अवश्य प्राप्त करूँगा उसे। अपने लिये नहीं, जगत् के कल्याण के लिये उस शाश्वत सत्य का लोक-संहिता बनाते हुए मैं वितरण करूँगा। मैं उस सत्य को सहज और सरल बनाऊँगा तभी तुमसे इस विषय में और अधिक कह सकूँगा।' सिद्धार्थ ने कहा।

साधक ने सिद्धार्थ का गुणानुवाद किया। सिद्धार्थ उन पाँचों ब्रह्मचारियों के साथ आगे बढ़े।

जाते-जाते उन्होंने मार्ग छोड़ दिया। वे एक सघन वन में पहुँच गए, एकांत की खोज में। वहाँ जाकर उन्होंने एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ एक अद्भुत मनुष्य देखा।

नंगा ही था वह। जो वस्त्र उसके शरीर पर था, उसका अधिक भाग भूमि पर बिखरा हुआ था। स्थान-स्थान छिद्र थे उसमें, और महामलिन था वह। उसके माथे और अंग पर मैल की परत के ऊपर परत जमी हुई थी। उसने अपने बढ़े हुए हाथ के नखों से शरीर खुजा रखा था, जो अत्र-तत्र स्थान-स्थान पर लाल रेखाओं के समान उसके अंग-प्रत्यंग में सुशोभित हो रहे थे।

बैठों में एक विचार अमेय आप लिए हुए वह बैठा था वहाँ पर। उसने मनुष्यों के सहसा वहाँ पर आ जाने से कोई भी विकृति न पहुँची उसे। वह चुप ही रहा।

सिद्धार्थ ने उसका असाधारण ढंग देखकर पूछा उससे—"क्या कर रहे हो तुम यहाँ पर ?"

"कुछ नहीं।" उसने उदासीन होकर कहा।

सिद्धार्थ पाँचों ब्रह्मचारियों के साथ बैठ गए वहीं पर।

एक ब्रह्मचारी बोला—"कुछ तो अवश्य कर रहे हो ?"

उन लोगों को भी अपने ही समान धर्मचारी समझकर वह बोला—"तुमसे न छिपाऊँगा कुछ। मैं एक साधना कर रहा हूँ इस वन में।"

सिद्धार्थ अधिक आकृष्ट हुए उसकी ओर—"क्या साधना कर रहे हो ? हम पर प्रकट करने में कोई हानि न होगी। हम भी तो उसी मार्ग के पथिक हैं। संभव है, विचार-विनिमय से हम सबका ही कुछ-न-कुछ काम हो जाय।"

'हाँ।' कहकर वह चुप हो गया।

कुछ देर तक सबने उसके मुख खोलने की प्रतीक्षा की पर वह फिर कुछ न बोला।

अंत में सिद्धार्थ ने कहा—"साधक ! तुम्हारे पास कोई भिक्षा पात्र नहीं दिखाई दे रहा है, और न कहीं कोई भोजन की सामग्री। बस्ती यहाँ से दूर है, तुम खाते क्या हो ? कंद-मूल ?"

"नहीं।"

"फिर ?"

"मैंने रसना को विजित किया है।" साधक बोला।

"रसना की जय एक बात है, क्षुधा की विजय दूसरी। क्या तुम्हें अन्न-जल की भी आवश्यकता नहीं ?"

"है क्यों नहीं।"

"फिर ?" सिद्धार्थ ने जिज्ञासा की।

"और वह पशु-पक्षी मेरे ही लिये तो आते हैं।"

मोहमग्न चक्षु व बीभत्स के साथ एक दूसरे का मुख ताकने लगे।

"कोई आश्चर्य की बात नहीं। मैं हूँ का कुछ जिस प्रकार तुम्हारे लिये खाता है उसी प्रकार।" साधक बोला—"मैं उसका खाया हुआ रहता हूँ और कभी-कभी अपना खाया हुआ भी।"

पाँचों ब्रह्मचारी बड़ी घृणा के साथ उससे दूर हटने लगे। एक ने कहा—"क्या तुम अघोरी हो?"

"हाँ अघोरी हूँ।' उत्तेजित हो कहा वह – 'तुमसे बात्सुला पूछता हूँ। जिसका नाम तुमने पवित्रता रखा है मैं नहीं मानता उसको पवित्रता। क्या शरीर, भोजन और वस्त्र की शुद्धता दिखाते हुए तुम्हारे मन में कभी कोई अशुद्ध भाव उदित नहीं होता?'

"हम कुछ क्षण के लिये तुम्हारे मार्ग को बुरा न कहेंगे। तुमने क्या पाया इससे? क्या तुम्हारा मन अशुद्ध विचारों की जन्मभूमि नहीं है?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"मैं सिद्ध हो गया हूँ। पवित्रता और अपवित्रता का भेद नहीं रहा है मेरे मन में।" अघोरी बोला।

"यह तुम्हारा अहंकार है। मनुष्य का सबसे बड़ा वैरी, इसी ने हमारी प्रगति में रोड़े रखे हैं। तुम इन्हीं से परे नहीं हुए हो। तुम्हारे मन में इनके बीच का भेद वर्तमान है, तभी तो तुम हमारी पवित्रता का मोल ले रहे हो। सुनो मनुष्य का मन ही विस्तार पाकर यह जगत् बन जाता है। जगत् में द्वंद्व के बने रहने का अर्थ है अभी तुम्हारा मन सिद्ध नहीं हुआ है। यह अघोर मार्ग क्यों ग्रहण किया तुमने? यदि श्मशान में ही प्रकाश की धार निकलती है। अंधकार पतन का सूचक है। यह मलिन और घृणित जीवन क्यों स्वीकार हुआ तुम्हें?"

"यह सबसे सरल और छोटा मार्ग है।" अघोरी बोला— "इसलिए

और वाम, इन दोनों सिरों में सारी सृष्टि का एक-एक सूक्ष्म कण बँटा हुआ है। जो दक्षिण है वही वाम है। फिर तुम क्यों मेरे इस प्रकार पंथ को बुरा समझ रहे हो?"

"तुमने एक ही उक्ति में विरोधाभास दिया। तुमने दक्षिण और वाम दोनों को समान भी कहा और वाम मार्ग को मस्त भी कहा है। तुमने दो वस्तुओं को एक ही समय में तुलना भी दी है और एक को विशेषता भी। यह असंभव क्यों है।"

अघोरी पंडित था। विचार में डूब गया। सिद्धार्थ ने मानो उसके सारे मस्तिष्क का काँटो बद कर दिया था।

पाँचों ब्रह्मचारी सिद्धार्थ के तर्क से अत्यंत प्रसन्न हुए। अघोरी के प्रति उनका तिरस्कार और भी बढ़ गया।

"अंधकार से हमें घृणा न करनी चाहिए। देखो, समस्त जड़-चेतनमय सूर्य की ओर बढ़ती है रात हो जाने पर वे सब-के-सब स्थिर और निद्रा के क्रोड़ में चुपचाप हो जाते हैं।' सिद्धार्थ ने कहा।

तुम तो जानते ही हो।" अघोरी बोला।

"तमस, हिंसक और असत्! क्या यही संज्ञा तुम भी जानते हो?" सिद्धार्थ ने पूछा—"जिस प्रकार बिना अधिक परिश्रम किए ही चोर वालों की भी संपत्ति का हरण कर ले जाता है, क्या उसी प्रकार तुम भी सृष्टि के अंधकार में से ज्ञान की चोरी करना चाहते हो?"

"फिर क्या करूँ मैं?" अघोरी ने पूछा।

"हिंसा से नहीं, ज्ञान से मन को वश में करो, तभी तुम्हें निश्चित और स्थायी सफलता मिलेगी।"

"पर मुझे मन को वश में करना इष्ट नहीं है।"

"कुछ भी हो, मानना ही पड़ेगा और तुम्हें अंत मन को वश में करना ही है।"

'मैं तो एक जग को चक्रवर्ती बनना चाहता हूँ।"

"किसलिये?"

'सम्भवतः संसार के भोग उपलब्ध कर देगा वह मेरे लिये।' अघोरी बाबा।

ईसपर सिद्धार्थ ने कहा—"अब भी तो तुम्हें वश अपना मन ही का है।"

'क्यों? कैसे?'

"इसी मन ने तो तुम्हें एक झूठा स्वप्न दिखाया है। यह भोगों से तृप्त होना चाहता है। कोई तृष्णा भोगों से तृप्त हुए संसार में? जिस प्रकार आहुतियाँ अग्नि की शिखाओं को बढ़ाती ही जाती हैं ऐसे ही ये भोग हैं, इनकी कामना उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती रहती है। अचानक एक दिन मृत्यु आकर जब द्वार खटखटाने लगती है, तो फिर कोई भी उपाय काम नहीं देता। इसलिये इस मन को वश में करो। जब यह इंद्रियों के सुख की ओर धावमान होता है तो उसे बुद्धि के बन्धन से रोको, उससे कहो, यह क्षणिक है, केवल छाया है—एक कल्पना है।" सिद्धार्थ ने कहा।

'बात तो तुम्हारी ठीक जान पड़ती है। पर मेरा मन न लगेगा इसमें।" अघोरी बाबा।

"इच्छा रखने से ही कुछ होता है। पुरुष की दृढ़ इच्छा का नाम ही विश्वास है। प्रकाश की ओर चलने की इच्छा रक्खो, उस इच्छा का पालन करो। जब वह इच्छा विश्वास में परिवर्तित हो जायगी, तो तुम देखोगे कि तुम प्रकाश की संधि-भूमि पर आ गए हो। इसके आगे अभी नहीं समझता मैं, क्या है।"

"अच्छा मैं तुम्हारी इच्छा का पालन करूँगा।"

"मेरी इच्छा का पालन क्या, अपने भीतर ही इच्छा उत्पन्न करो। सुनो, मलिनता रोग की अग्रदूती है, रोग जड़ता का और जड़ता मृत्यु का संदेशवाहक है।"

"समझ गया, मैं सब समझ गया।"

"चलो हमारे साथ फिर कुछ दूर तक। सरिता है कोई यहाँ पर?"

"है, निकट ही निरंजना-नदी।"

सिद्धार्थ पाँचों ब्रह्मचारियों के साथ उसे निरंजना-नदी के किनारे ले गए। उन सबने मिलकर उसे नहलाया। उसके समस्त अंग में बालू रगड़-रगड़कर उसे चमकाया। कौण्डिन्य ने अपना उत्तरीय देकर उसको पहना दिया।

मल-मोचन स्नान ही अघोरी ने बड़े संतोष की साँस ली—"हाँ, अच्छा तो लग रहा है, पर भूख लग गई है बड़ी। अब क्या होगा? मैं देखता हूँ, वन में कहीं कुछ फल-फूल मिलते हैं तो, नहीं तो किसी ग्राम-जनपद तक भिक्षा के लिये यात्रा करनी पड़ेगी, क्योंकि अब श्मशानों में पके हुए भोजन को छोड़कर मुझे अग्नि-पक्व भोजन खाना पड़ेगा। तुम लोगों ने मुझे स्नान कराने में बड़ा कष्ट किया। देखा जायगा फिर।" कहकर वह अघोरी भोजन की खोज में चला गया।

सिद्धार्थ अपने साथियों के साथ नदी के किनारे-किनारे चलने लगे।

कुछ दूर चलने पर उन्हें फिर एक मनुष्य मिला। वह आग पर कुछ पका रहा था, और उसके निकट ही हाथ में माला लेकर जप कर रहा था। उन आगन्तुकों को देखकर वह और भी उच्च स्वर से जप करने लगा।

उस के भिक्षा-पात्र में कुछ चावल थे। उसने सिद्धार्थ से कहा—

"गुरुदेव! यहाँ पर अग्नि और जल दोनों का सुभीता है। भूख लग रही है। इन चावलों को पकाकर खा लें, तो कैसा हो?"

"ठीक ही है।" कहा सिद्धार्थ ने।

महानाम अग्नि के निकट जाकर देखने लगा, वह क्या पक रहा है। उस मनुष्य ने महानाम के इस कृत्य का अनुमोदन नहीं किया। हाथों के संकेत से उसे निवारण करने लगा, जिससे यह भी प्रकट हुआ कि वह मौनी है।

महानाम अपने साथियों के निकट चला गया—"जाने क्या पक रहा है, भोजन तो नहीं ज्ञात होता।"

एक माला पूर्ण हो जाने पर वह कुछ जल उस बर्तन में डाल रहा था, और एक छोटा-सा कंकड़ एक ढेर में जमा कर रहा था—जो कदाचित् उसकी मालाओं की गिनती थी।

शिष्यों में से किसी ने पूछना चाहा। एक ने चावल धोकर छोड़, एक लकड़ी ले आया। कौण्डिन्य अग्नि लेने के लिये फिर उस मनुष्य के निकट गया। उसने बड़ी नम्रता से कुछ घास की पत्तियों में दो-चार कोयले ले जाने का संकेत किया।

उस मनुष्य ने हाथ के संकेत कर कुछ देर ठहर जाने को कहा। उसने अपनी माला पूरी की। एक हाथ के संपुट में जल लेकर आग पर रखते हुए बर्तन में छोड़ा। एक कंकड़ माला की गिनती का जमा किया और फिर बोला—"कहाँ से आ रहे हो तुम?"

"राजगृह से।"

"श्रमण शाक्य?"

"हाँ।"

इन दोनों को बातें करते सुनकर सिद्धार्थ भी वहीं पर आ पहुँचे। पूछा उन्होंने—"क्या कर रहे हो तुम यहाँ पर?"

"हिरण्यगर्भ बना रहा हूँ, और क्या कर रहा हूँ।"

"क्या हुआ हिरण्यगर्भ?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"हिरण्यगर्भ नहीं जानते? कितने दिन की तपस्या है तुम्हारी? मालूम तो हिरण्यगर्भ को पहचानने की कमी भी हो गई तुम्हारी। हिरण्यगर्भ वह चमकता हुआ गोलक है, सारी सृष्टि जिसकी परिक्रमा कर रही है। ब्रह्मा उसी में से उत्पन्न हुए हैं, और उसी से उत्पन्न हुए हैं चौदहों मनु। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चारों सूत्र उसी पर बँधे हुए हैं। संसार के समस्त भेद और नाते उसी से प्रारंभ हैं। स्त्री-पुरुष, गृही-संन्यासी धनी-निर्धन, बालक-वृद्ध, सब उसी के चारों ओर घूम रहे हैं।" उसने कहा।

सिद्धार्थ हँसने लगे—"इस बर्तन में यह सीसखंड-सा क्या बना रहे हो?"

"सीसखंड ही है। अभी तो हिरण्य में बदल दिया जायगा।" मनुष्य बोला।

"तुम कीमियेगी हो?"

"हाँ।"

"क्या तुम्हें विश्वास है यह सीसे का टुकड़ा तुम्हारी इन पुटों के पाक से अपना स्वाभाविक गुण खोकर सुवर्ण में बदल जायगा?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"बदलेगा कैसे नहीं। परिश्रम कम कर रहा हूँ मैं? गुरु से विधि सीख रखी है। बारहों प्रहर मंत्र-जप कर रहा हूँ।"

"अद्भुत तर्क है तुम्हारा! क्या मंत्र के बल से गर्दभ ऐरावत में, शूकरी कामधेनु में बदल सकती है?"

"बन सकती कैसे नहीं ! सिद्ध मंत्र चाहिए, दृढ़ साधना चाहिए, सच्ची लगन चाहिए।" कीदवेणी बोला।

"अच्छा, मान लो, कुछ धन के लिये अवश्य भी गया, तो तुम लौह को सुवर्ण बनाकर क्या करोगे ?"

"क्या करूँगा ! तुम कैसे अनजान हो ! संसार के सब सुखों का सार यही हिरण्यगर्भ तो है न ! मैं लौह के पर्वतों-के-पर्वत सुवर्ण में परिवर्तित कर दूँगा। सारा जगत् मेरी परिक्रमा प्रारंभ करेगा। मैं नवीन राज्यसत्ता की नींव डालूँगा, नया राज्य स्थापित करूँगा, नए दृश्य चित्रित करूँगा।'

"हे इंद्रिय-सुख में डूबे हुए प्राणी ! फिर क्या होगा ?"

"फिर क्या होगा ? धन से धर्म का भी तो संचय होता है। मैं दान करूँगा, दक्षिणा दूँगा, यज्ञ-सत्र चलाऊँगा।" कीदवेणी ने कहा।

"यदि इसी को तुमने धर्म का मुख्य अंग मान रक्खा है, तो वह भी न हो सकेगा। हे कंचन के पुजारी ! जब तक तुम्हारी इंद्रियों में बल रहेगा, तब तक तुम सदैव उन्हीं की तृप्ति के साधन जुटाते रहोगे। जब वे दुर्बल-शक्तिहीन हो जायँगी, तब तुम धर्म की ओर प्रवृत्त होओगे इस हेतु नहीं कि आत्मा का विकास हो वरन् इसलिये कि शरीर का बल बढ़े, और तुम्हारी इंद्रिय-लिप्सा पूर्ण हो। परंतु निग्रह से ही इंद्रियों की तृप्ति होती है, संग्रह से नहीं। मैं तुमसे पूछता हूँ। जब महाकाल अपना सुदृढ़ पाश लेकर तुम्हारे समीप खड़ा होकर तुम्हारे प्राणों को खींच ले चलेगा तो क्या वह तुम्हारा स्वर्ण-संग्रह उसे रोक दे सकेगा ?"

कीदवेणी ने कहा—"मैं महामृत्यु तक को वश कर लूँगा।"

'सृष्टि के अनादि काल से अब तक तुमसे भी अधिक प्रताप शाली इस धरती पर उत्पन्न हुए हैं। उनमें से एक भी तो नहीं बच

जप से, तप से, दान से व्रत से, ज्ञान से, औषधि से जीवित नहीं दिखाई देता। जो मृत्यु की साधारण अवस्था है, वहाँ तक भी तो कोई विरला ही पहुँच पाता है।"

लौहवेधी बोला—"बात तो तुम्हारी ठीक है। पर मैं तो ग्यारह वर्ष से इस साधना में लगा हुआ हूँ। बारहवें वर्ष में यह लौह ताम्र का रंग बदलेगा।'

"हे साधक, जीवन के इतने बहुमूल्य वर्ष यदि तुम इस मन के संस्कार में लगाए होते, तो तुम्हारी समस्त तृष्णाएँ इसी में विलीन हो गई होतीं। तुम्हें यह रहस्य मिल जाता कि सुवर्ण और पत्थर दोनों समान हैं।"

"नहीं-नहीं, केवल एक वर्ष की ही तो बात है। इतने अल्प समय के लिये मैं अपनी अधूरी तपस्या नहीं छोड़ सकता।"

"तुमने इसका नाम तपस्या रखा है। नहीं आत्मिक उन्नति के लिये जो कष्ट सहा जाता है, केवल उसी का नाम तपस्या है। भौतिक सुखों के पीछे लगे रहने के श्रम को तपस्या नाम देना अज्ञान है। जिस प्रकार पत्थर की दीवार में सेंध लगाकर तस्कर सुवर्ण को चुराता है, ऐसे ही इस लौह का वेधन कर तुम हिरण्य प्राप्त करना चाहते हो, वा एक कवि की कोरी कल्पना है। महत्त्व लौहवेध का तुम अर्थ ही नहीं समझे हो।'

'तुम क्या समझे हो?"

"हाँ कामना ही वह लौह का बन्धन है, जिसने हमारी इंद्रियों के मार्ग से हमारे मन को संसार के भोगों से बाँध रखा है। उसका वेधन करना है मन को पार्थिव भोगों से हटाकर आत्मा में लीन करना।"

"क्या यह एक कामना नहीं हुई?"

"नहीं, उसका नाम साधना है। जिस सुवर्ण के स्वप्न तुम देख

रहे हो, यह जगत एक मरीचिका है। इसके जितने निकट जाओगे, उतनी ही दूर यह चली जायगी। नित्य ही नवीन तृष्णा में आकुल रहोगे, और एक दिन जब मृत्यु आकर तुम्हारी चोटी पकड़ लेगी तब तुम्हारा यह हिरण्यगर्भ तुम्हें बचा न सकेगा।"

"श्री की प्राप्ति कभी व्यवहार में भी लाई है, या ये सब सुनी-सुनाई बातें ही कह रहे हो? कभी किसी श्रीमंत का भवन देखा भी है तुमने?"

'जन्म ही वहाँ हुआ है मेरा।' अत्यन्त साधारण भाव से कहा सिद्धार्थ ने।

बाहवेयी ने विचलित होकर पूछा—'जन्म ही वहाँ हुआ है? कहाँ?'

कौण्डिन्य ने कहा—"कपिलवस्तु के युवराज हैं यह, इन्हें क्या तुम कोई साधारण भिक्षु समझ रहे हो?'

'तुमने राजभवन को त्यागकर यह वेश धारण कर लिया क्यों?' वीतहेयी ने पूछा।

'आत्मा की प्राप्ति के लिए।' सिद्धार्थ ने उत्तर दिया।

"कुछ प्राप्त कर त्याग करना ही तो प्रकृत त्याग है युवराज! यह सुवर्ण प्राप्त कर लेने का सुख। इस जगत के आनन्द में विचरण करूँगा मैं एक बार। यदि इस वातावरण में आत्म चिन्तन की बाधा मिली, तो त्याग दूँगा उसे।" फिर संभवतः लेकर वह वीतहेयी उठ चलने लगा।

सिद्धार्थ लौट गए उसके पास से।

पूरा बजाकर मानव तैयार हुआ। बच्चे मौन ही रहे थे कि एक अल्पायु उनके समीप आकर खड़ा हो गया।

सिद्धार्थ ने देखा उसकी एक बाहु सूख गई थी काष्ठ के समान, क्योंकि वह उसे हिला-डुला भी नहीं सकता था। उस हाथ की

उँगलियाँ बड़े-बड़े नखों के बढ़ आने से बड़ी विकराल हो गई थीं। अँगूठे का नख हथेली को छेदकर हाथ की पीठ पर निकल आया था।

भोजन परोसा ही रह गया सिद्धार्थ के सामने। शिष्यों के भी हाथ रुके रह गए।

सिद्धार्थ ने कहा—"तुम्हारा यह हाथ कैसा निर्जीव हो गया। या कैसा रोग लग गया? कोई औषधि नहीं की तुमने? बड़ी असुविधा उत्पन्न हो गई होगी इससे तुम्हारे जीवन में?"

"यह रोग नहीं है। जान-बूझकर सुखा दिया मैंने इस इंद्रिय को।"

"किसी राजदंड के कारण?"

"नहीं, स्वेच्छा से।"

"क्यों?"

"लोग समझते हैं, यह हाथ मैंने भगवान् को समर्पित कर दिया। परंतु मेरा उद्देश्य है यह मैंने पेट के लिये किया।" ऊर्ध्वबाहु ने कहा।

"पेट के लिये? बहुत ही लघु उद्देश्य के लिये तुमने बहुत बड़ा समर्पण किया। मैं तो समझता हूँ, इससे मन की चंचलता किसी अंश में कम हुई होगी।"

"नहीं हुई। तुमसे झूठ बोलकर क्या करना है मुझे।" ऊर्ध्वबाहु ने अपना जीवित हाथ अपने पेट पर रक्खा।

"भूख लगी है तुम्हें? भोजन करोगे?"

"हाँ।" ऊर्ध्वबाहु ने आश्वासित होकर कहा।

सिद्धार्थ ने अपना आसन ऊर्ध्वबाहु के लिये छोड़ दिया। कौण्डिन्य ने कहा—"गुरुदेव, एक मनुष्य के लिये पर्याप्त भोजन बचाकर रक्खा है हमने।"

"कोई चिंता नहीं, मैं उसमें से ले लूँगा।" सिद्धार्थ ने

कहा । उन्होंने अपने आसन पर उस सूखे हुए हाथ के अतिथि को बैठा दिया ।

सबसे भोजन करने को कहकर सिद्धार्थ ने कौर उठाकर मुँह में डाला । कर्णबाहु के निकट ही उन्होंने अपना आसन जमाया था । उन्होंने कहा—"कर्णबाहु तुम्हारा त्याग स्तुति के योग्य है । तुमने उस पर किसी प्रकार की स्थापना नहीं की है, इससे उसका और भी महत्व बढ़ा है । इसको प्रसिद्ध कर देनेवाली इन समस्त ऋद्धियों की जड़ें हमारे मन में हैं । यदि यहाँ हम इनका मूलोच्छेदन कर दें, तो बाहर से वे कभी लौटकर भी हमारा कुछ बिगाड़ नहीं कर सकतीं । तुम्हें कुछ पीड़ा तो नहीं होती ?"

"आरंभ के कुछ दिनों में अनुभव की थी, फिर स्वभाव हो जाने से अब कुछ प्रतीत नहीं होती ।"

"इस साधना से क्या लाभ हुआ तुम्हें ?"

"लाभ ? क्या बताऊँ ? भिक्षा के लिये अधिक देर भटकना नहीं पड़ता । इस सूखे हुए हाथ को देखकर लोगों की श्रद्धा स्वभावतः उमड़ पड़ती है ।"

सिद्धार्थ हँस पड़े—"यह तो कुछ भी नहीं हुआ । इस साधना ने तो तुम्हारे महत्व का ही क्षय किया ।

कर्णबाहु ने विनम्रता पूर्वक कहा—"हाँ महाराज !"

"कर्म के साथ ज्ञान की संधि हुए बिना हम मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकते । उस कौड़िदेवी को देखो । वह कभी कठिन तपस्या कर रहा है, पर ज्ञान उसके साथ नहीं है । माया में इधर उधर बंधन पर बंधन बढ़ा रहा है अपने । तुम उससे कहीं उत्तम हो कर्णबाहु ! अपने स्वरूप को पहचानो । इस विचार में न रहो कि भिक्षा के लिये तुमने यह हाथ सुखाया है, वरन् यह समझो कि मन का प्रभुत्व स्थापन करना तुम्हारा उद्देश्य है ।"

"वही समझूँगा गुरुदेव ! मुझे भी कोई मंत्र दे दीजिए। बड़ा अनुग्रह होगा इस सेवक पर।"

"मैं स्वयं कोई मंत्र नहीं जानता। मुख्य वस्तु तो भाव है। भाव मंत्र से इतना नहीं जागता जितना ध्यान से।"

"कोई ध्यान ही बता दीजिए।"

"क्या बताऊँ ! उसी की साधना के लिये उपयुक्त स्थान खोज रहा हूँ। जब कुछ मिल जायगा, मुझे उसमें तुम्हारा भला तुम्हें दे देने में कोई आपत्ति न होगी।" सिद्धार्थ ने कहा।

"इस निरंजना-नदी के किनारे आगे चलकर बड़ा मधुर एकांत है।" ऊर्ध्वबाहु ने कहा।

खा-पीकर सिद्धार्थ शिष्यों के साथ नदी के किनारे-किनारे चलने लगे। ऊर्ध्वबाहु ने अगला मार्ग लिया। कौहकेयी अत्यंत उच्च स्वर में अपने मंत्र की आवृत्तियाँ कर रहा था।

कुछ दूर आगे चलकर एक स्थान पर धुएँ के बादल देख पड़े, और निकट जाने पर देखा गगन-चुंबी शिखाओं में नदी के तट पर प्रचंड अग्नि जला रक्खी थी किसी ने।

सिद्धार्थ ने पूछा—"यह आग क्यों जला रक्खी होगी ?"

कौडिन्य ने कहा— "जान पड़ता है, किसी ने यह चिता जला रक्खी है किसी युवक के दाह के लिये। अनेक मनुष्य भी एकत्र हैं वहीं पर।"

सिद्धार्थ बोले—"ठीक है, यही स्थान उपयुक्त जान पड़ता है। मृत्यु के इस अंतिम पड़ाव पर कदाचित् जन्म का रहस्य अपनी कथा सुनावेगा।"

मृदु मर्मर-ध्वनि से निरंजना बह रही थी। लहरों से भरा हुआ उसका वक्ष-स्थल आकाश की नीलिमा और तट पर की हरियाली से प्रतिबिंबित हो रहा था। शाखा-पत्रों की आड़ में पक्षियों की कुहकुह

ध्वनि सुनाई द रही थी और कोकिल-प्रलाप के बीच से मधुविर्षी बरस रही थी हवा के समुद्र में ।

वे चिता के निकट आ गए। वहाँ पहुँचकर ज्ञात हुआ, निकट ही उरुवेला-नामक एक ग्राम था। मृतक वहीं का एक मनुष्य था।

सिद्धार्थ चिता के निकट जाकर बड़े ध्यान से देखने लगे। अग्नि की कराल लपटों में वह शव भस्म हो रहा था। सिद्धार्थ विचारने लगे—"अभी कुछ समय पहले तक यह मनुष्य शीत और ताप से अपने शरीर को बचाता रहा, अब कुछ भी नहीं! मित्र-संबंधी जब इसको छींक आती होगी, तब तक इसकी रक्षा करते होंगे। अब उन्होंने ही इसे चिता में रखकर इसमें अग्नि उत्पन्न की है। यह दया, यह माया, यह मद, यह व्यवहार सबका त्याग कर दिया गया। हाय रे जीवन के अंत! जब यह मनुष्य अच्छा शृंगार करता होगा, स्नान और उबटन से अपने इस शरीर को उज्ज्वल और कोमल बनाता होगा, तब क्या इसने कभी समझा होगा यह दिन। स्निग्ध और स्वादु भोजन से जब यह अपना उदर भरता होगा, तब क्या इस घड़ी की कल्पना भी होगी इसने कभी?"

शव प्रायः कुछ जल चुका था। सिद्धार्थ ने उस कुत्सित, काले चर्म को देखा। वह अत्यंत अधीर हो उठे। उनके नेत्रों से आँसू बहने लगे। उन्होंने कहा—"कौंडिन्य! एक दिन हम भी ऐसे ही हो जाएँगे। एक काँटे-से काँटे से बचने के लिये बड़ी सावधानी बरतते हैं, उस दिन किस प्रकार और उपेक्षा से हमारा भी निरादर होगा।" कौंडिन्य ने हाथ जोड़कर दीर्घ श्वास ली।

एक मनुष्य एक बाँस से उस शव की कपाल-क्रिया करने लगा था।

सिद्धार्थ ने कहा—"देखा कौंडिन्य! यह मस्तक एक दिन अनुराग, दया, मधुरता और प्रतिहिंसा की लाख-लाख भावनाओं का केंद्र बना होगा। वही दीनता से अग्नि इसके टुकड़ों को विभाजित कर रही है।

इस शव के अंतिम साथी इसकी झोपड़ी को छोड़ समय के योग्य अब शीघ्र ही इससे विदा हो जाने को अधीर हैं।"

"हाँ गुरुदेव! ऐसा ही विचित्र संसार का चक्र है।"

बिना विश्रांति कर शव-वाही चल दिए उरुवेला के ग्राम को।

सिद्धार्थ कहने लगे— 'मनुष्य के जीवन का ऐसा भीषण अंत देखकर भी वे सब लोग चले गए, जगत् के रंगों में अपने मन को भुला देने के लिये। सिद्धार्थ न जायेगा अब कहीं। बड़ा रमणीक स्थान है यह। इस भयानक श्मशान में एक अद्भुत आकर्षण है। जीवन का अंत यहाँ बड़े स्पष्ट रूप में परिभाषित है। यहाँ के रज-कण में नर-देह की भस्म मिली हुई है, चिताओं के साथ अग्नियाँ खेल रही हैं। वृक्षों के शाखा-पत्र चिता की धूम तथा लपटों से धूमिल और झुलसी हुई हैं। इस श्मशान का एक-एक कण मृत्यु के सार्वभौमिक महात्म्य पर विजय की साक्षी दे रहा है। कौंडिन्य, मैं न जाऊँगा यहाँ से अब कहीं। यहाँ पर मृत्यु ने अपने को अज्ञेय आवरण में ढक लिया है। जब तक मैं उस आवरण को उघाड़ न दूँगा तब तक यहीं रहूँगा।"

"हम गुरुदेव के अनुचर हैं, हम भी आपकी ही सेवा में यहाँ रहेंगे। आप निश्चिन्त होकर तपश्चर्या करें। जनपद निकट ही है। हम नित्य भिक्षा-आचरण कर ले आवेंगे।" कौंडिन्य ने उत्तर दिया।

मंद मुस्कान के साथ सिद्धार्थ ने कहा—"उसकी भी आवश्यकता न रहेगी कौंडिन्य!"

चौंककर कौंडिन्य ने कहा—"गुरुदेव!"

"हाँ कौंडिन्य! आचार्य रुद्रक ने पंचभूतों का गुप्त रहस्य समझाया है मुझे। मैंने उस पर विश्वास किया है और मैं उस पर प्रयोग करूँगा। प्राण के उन स्तरों में जब रेचक और पूरक दोनों एक-दूसरे में मिलकर कुंभक में विलीन हो जाते हैं तब भोजन आवश्यक नहीं रहता।

सबसे आवश्यक हमारे लिये मन है, जब उसका ही संयोजन न रहेगा, तो फिर मन का दमन क्या चाहिए।"

"गुरुदेव !" पाँचों शिष्यों के मुख पर एक शंका अंकित हुई—"यह संभव है ! बिना मन ...के !"

"हाँ बिना मन के। मन में तन का आकर्षण का बीज है। इंद्रियाँ उसी से बल पाकर मन की क्रिया-विक्रियाओं में उलझती हैं। ध्यान में बाधा पड़ती है, और समाधि प्राप्त नहीं होती।"

कौण्डिन्य बोला—'आचार्य, तप को हमने कभी दीर्घ उपवास करते हुए नहीं देखा। आप कब तक निरन्न और निराधार रहेंगे ?"

"जब तक असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त न होगी, तब तक सत्य का साक्षात्कार न होगा।

"यदि इस कठ तपस्या में आपकी प्राण-हानि हो गई तो ?"

"मृत्यु अटल और अवश्यंभावी है। इस देह में उसका सब ओर शुभ है। इस सूक्ष्म श्मशान के संसर्ग से मैं और भी अधिक निर्भय हो जाऊँगा।"

"अब आप निरन्न ही रहेंगे या पेट की ज्वाला क्या आपके ध्यान को अविचल रहने देगी ?'

"शनैः शनैः कौण्डिन्य। मैं एक एक ग्रास त्याग जाऊँगा प्रति दिन, फिर कुछ दिन पश्चात् एक-एक दाना कम करता जाऊँगा। इससे शारीरिक दुर्बलता मुझे पराजित न कर सकेगी। उस आत्म-साधक और कर्णवायु को नहीं देखा तुमने। उनकी साधना से यही रहस्य मैंने सीखा। धीरे-धीरे प्राण-रोध।'

कौण्डिन्य ने कहा—'भगवान् आपकी इस कठिन साधना में आपके सहायक हों। हम रात-दिन यही कामना करेंगे।"

' इंद्रिय जय और पाप-चित्त के नाश के लिये सिद्धार्थ महान् कठिन

इस शव के अंतिम साथी इसकी खोपड़ी को तोड़ समय को दोष कर शीघ्र ही इससे विदा हो जाने को अधीर हैं।"

"हाँ गुरुदेव ! ऐसा ही विचित्र संसार का चक्र है।"

चिता निर्वापित कर शव-यात्री चल दिए उरुवेला के ग्राम को।

सिद्धार्थ कहने लगे— 'मनुष्य के जीवन का ऐसा भीषण अं देखकर भी ये सब चले गए, जगत् के रंगों में अपने मन को भुला देने के लिये। सिद्धार्थ न जायेगा अब कहीं। बड़ा रमणीय स्थान है यह। इस भयानक श्मशान में एक अद्भुत आकर्षण है जीवन का अंत यहाँ बड़े स्पष्ट रूप में परिभाषित है। यहाँ के रजकण में नर-देह की भस्म मिली हुई है, शिलाओं के साथ अस्थियाँ खेल रही हैं। वृक्षों के शाखा-पत्र चिता की धूम तथा लपटों से धूमिल और झुलसी हुई हैं। इस श्मशान का एक-एक कण मृत्यु के सार्वभौमिक अट्टहास पर विजय की ताल दे रहा है। कौण्डिन्य मैं न जाऊँगा यहाँ से अब कहीं। यहाँ पर मृत्यु ने अपने को अभेद्य आवरण में ढक लिया है। जब तक मैं उस आवरण को उठा न दूँगा तब तक यहीं रहूँगा।"

"हम गुरुदेव के अनुचर हैं हम भी आपकी ही सेवा में यहीं रहेंगे। आप निश्चिंत होकर तपश्चर्या करें। समीप ही है। हम नित्य भिक्षा-आचरण कर ले आवेंगे।" कौण्डिन्य ने उत्तर दिया।

मंद मुस्कान के साथ सिद्धार्थ ने कहा—"इसकी भी आवश्यकता न रहेगी कौण्डिन्य !"

चौंककर कौण्डिन्य ने कहा—"गुरुदेव !"

"हाँ कौण्डिन्य ! आचार्य उद्रक ने पंचसूत्रों का गुप्त रहस्य समझाया है मुझे। मैंने उस पर विश्वास किया है और मैं उस पर प्रयोग करूँगा। ध्यान के उच्च स्तरों में जब रेचक और पूरक दोनों एक-दूसरे में मिलकर कुंभक में विलीन हो जाते हैं, तब भोजन आवश्यक नहीं रहता।

सबसे आवश्यक हमारे लिये क्या है? क्या समय ही प्रयोजन न रहेगा या फिर मन का शमन क्या चाहिए।"

"गुरुदेव !" दोनों शिष्यों के मुख पर एक शंका अंकित हुई—"क्या संभव है ! बिना मन ...के !"

"हाँ बिना मन के। मन में ध्यान का आकर्षण का बीज है। इंद्रियाँ इसी से बल पाकर मन की क्रिया-प्रक्रियाओं में उलझी हैं। ध्यान में बाधा पड़ती है और समाधि प्राप्त नहीं होती।"

कौण्डिन्य बोला—'आचार्य ध्यान का हमने कभी दीर्घ अभ्यास करते हुए नहीं देखा। आप अब तक निरन्तर और निराधार रहेंगे !"

"जब तक सर्वोत्कृष्ट समाधि प्राप्त न होगी, तब तक मन का साक्षात्कार न होगा।"

"यदि इस दम अवस्था में आपकी प्राण-हानि हो गई तो !"

"प्रभु आप और सामर्थ्यवान् हैं। इस हेतु मैं इसका सब दोष युक्त हूँ। इस सूक्ष्म स्मरण के मर्म से मैं और भी अधिक निर्भय हो जाऊँगा।"

"जब आप निराहार ही रहेंगे, तो देह की आत्मा क्या आपके साथ का परित्याग करने लगी !"

"ऐसा नहीं कौण्डिन्य। मैं एक-एक मास उपवास करूँगा प्रति दिन फिर कुछ दिन पश्चात् एक-एक ग्रास कम करता जाऊँगा। इससे शारीरिक दुर्बलता मुझे आक्रांत न कर सकेगी। इस साधक और कल्याणकारी का नहीं देखा तुमने। इसकी साधना न सम्भव मैंने सीखा। धीरे-धीरे बढ़ाता जाता।"

कौण्डिन्य ने कहा—"भगवान् आपकी इस कठिन साधना से आपके साधक हों। हम रात-दिन यही कामना करेंगे।"

' इंद्रिय जय और मन विजय के पथ के लिये सिद्धार्थ महान् कठिन

इस शव के अंतिम साथी इसकी खोपड़ी को तोड़, समय को दोष कर शीघ्र ही इससे विदा हो जाने को अधीर हैं।"

"हाँ गुरुदेव! ऐसा ही विचित्र संसार का चक्र है।"

चिता निर्वापित कर शव-यात्री चल दिए उरुवेला के ग्राम को।

सिद्धार्थ कहने लगे—"मनुष्य के जीवन का ऐसा भीषण अंत देखकर भी ये सब लोग चले गए, जगत् के रंगों में अपने मन को भुला देने के लिये। सिद्धार्थ न जायेगा अब कहीं। बड़ा रमणीक स्थान है यह। इस भयानक श्मशान में एक अद्भुत आकर्षण है। जीवन का अंत यहाँ बड़े स्पष्ट रूप में परिलक्षित है। यहाँ के रज-कण में नर-देह की भस्म मिली हुई है, शिवाओं के साथ अस्थियाँ खेल रही हैं। वृक्षों के शाखा-पत्र चिता की धूम तथा लपटों से धूमिल और झुलसी हुई हैं। इस श्मशान का एक-एक कण मृत्यु के सार्वभौमिक साम्राज्य पर विजय की साख दे रहा है। कौण्डिन्य, मैं न जाऊँगा यहाँ से अब कहीं। यहाँ पर मृत्यु ने अपने को अप्रमेय आवरण में ढक लिया है। जब तक मैं उस आवरण को उघाड़ न दूँगा तब तक यहीं रहूँगा।"

"हम गुरुदेव के अनुचर हैं हम भी आपकी ही सेवा में यहीं रहेंगे। आप निश्चिन्त होकर तपश्चर्या करें। जनपद निकट ही है। हम नित्य भिक्षा-आवश्य कर ले आवेंगे।" कौण्डिन्य ने उत्तर दिया।

मंद मुस्कान के साथ सिद्धार्थ ने कहा—"उसकी भी आवश्यकता न रहेगी कौण्डिन्य!"

चौंककर कौण्डिन्य ने कहा—"गुरुदेव!"

"हाँ कौण्डिन्य! आचार्य उद्दक ने पंचभूतों का कुछ रहस्य समझाया है मुझे। मैंने उस पर विश्वास किया है और मैं उस पर प्रयोग करूँगा। प्राण के जब स्तरों में जब रेचक और पूरक दोनों एक-दूसरे में मिलकर कुंभक में विलीन हो जाते हैं तब भोजन आवश्यक नहीं रहता।

सबसे आवश्यक हमारे लिये प्राण है जब उसका ही प्रयोजन न रहेगा तो फिर अन्न का खाना क्या चाहिए।"

"गुरुदेव!" पाँचों शिष्यों के मुख पर एक शंका अंकित हुई— "यह संभव है? बिना अन्न के!"

"हाँ बिना अन्न के। अन्न में तम का आलस्य का बीज है। इन्द्रियाँ उसी से बल पाकर मन को दिशा-विदिशाओं में भटकाती हैं। ध्यान में बाधा पड़ती है और समाधि प्राप्त नहीं होती।"

कौण्डिन्य बोला—'आचार्य उद्रक को हमने कभी दीर्घ उपवास करते हुए नहीं देखा। आप कब तक निरन्न और निराहार रहेंगे?"

"जब तक अन्तर्भाव समाधि प्राप्त न होगी, तब तक सत्य का साक्षात्कार न होगा।'

"यदि इस उग्र तपस्या में आपकी प्राण-हानि हो गई तो?"

"मृत्यु सरल और असंभावी है। इस हेतु मैं उसका भय छोड़ चुका हूँ। इस शून्य श्मशान के संसर्ग से मैं और भी अधिक निर्भय हो जाऊँगा।"

"जब आप निराहार ही रहेंगे, तो देह की ज्वाला क्या आपके ध्यान को अविचल रहने देगी?'

"शनैः शनैः कौण्डिन्य। मैं एक-एक मास उपवास करूँगा प्रति दिन, फिर कुछ दिन पश्चात् एक-एक दाना कम करता जाऊँगा। इससे शारीरिक दुर्बलता मुझे पराजित न कर सकेगी। उस तप-साधक और कर्मांगाजु को नहीं देखा तुमने। उनकी साधना से यही रहस्य मैंने सीखा। धीरे-धीरे खाना-पीना।"

कौण्डिन्य ने कहा—'भगवान् आपकी इस कठिन साधना में आपके सहायक हों। हम रात-दिन यही कामना करेंगे।"

' इंद्रिय दम और पाप-क्रिया के दमन के लिये सिद्धार्थ महान् कठिन

मन में सही हुए। पद्मासन भूमि पर आसन लगाकर आस्फानक-आस्फानक महा ध्यान में मग्न हुए।

बड़ा सुंदर पर्वत था। मृत्यु के भय से मानो हुआ मनुष्य दिन में भी वहाँ जाता न था। शौच-स्नान, भोजन-विश्राम से बचा हुआ सारा समय सिद्धार्थ ध्यानासन में ही बिताते। शिष्यगण भिक्षा माँगकर लाते और उनकी सेवा करते।

धीरे धीरे सिद्धार्थ ने भोजन को एक-एक ग्रास प्रति पूर्णिमा को कम करना आरंभ किया। उनकी भिक्षा भी क्रमशः घटती गई। उनके ध्यान की एकाग्रता बढ़ती गई। अब बड़ी देर तक वह एक आसन, एक मुद्रा और एक भाव में बाहरी जगत् को भूल जाने लगे। अब उनका शरीर उतना अधिक विश्राम न माँगता, अब उनका मन चंचल हो घबराकर बह न जाता दूर-दूर की दिशाओं में।

शिष्यगण भी उनके साथ नियम-पूर्वक ध्यान में बैठते, उनकी चिन्तायें शीघ्र ही उनके मन की एकाग्रता को जमने न देतीं। वे उठ जाते और सिद्धार्थ की तन्मयता को अत्यंत आश्चर्य और कौतुक के साथ निहारते।

धीरे-धीरे सिद्धार्थ के रात की नींद भी तिरोहित हो चली। शिष्यगण सोते-सोते रात को जब उठते, तो वे सिद्धार्थ को वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित ही पाते।

वर्ष के पश्चात् दूसरा वर्ष बीत चला और सिद्धार्थ की अवस्था अत्यंत क्षीण हो चली। वह अनिश्चित भोजन छोड़कर तिल और चावल ही खाने लगे थे। उसमें से एक-एक दाना भी नित्य कम करने लगे।

एक दिन की बात है। शिष्यगण भिक्षा के अवसरों में निकले गए हुए थे। सिद्धार्थ घने रंग और रेखाओं के जाल में अपने ध्यान को बाँधे हुए थे। अचानक उनके ध्यान में एक कमल सा

कुछ मानो वज्र-मूर्ख बस आया। उसकी पंखुरियाँ प्रस्फुटित हो गयीं और उसमें से एक नारी-मूर्ति प्रकट हो उठी। सिद्धार्थ ने उसे अपने मनोबल से अन्तर्धानित कर देना चाहा, पर वह टस-से-मस नहीं हुई। सिद्धार्थ के आश्चर्य की सीमा न रही, जब उन्होंने उसे पहचाना। उन्होंने पुकारा—"कौन चित्रा!"

"हाँ, चित्रा ही हूँ।"

रुष्ट हुआ सिद्धार्थ ने। वह फिर बोले—"तुम मेरे मन के भीतर यहाँ कहाँ आ गई हो?"

"यहीं तो हमारा वास्तविक घर है।"

"तुम चली जाओ चित्रा, मुझे भय लगता है।"

"नहीं राजकुमार, हम तुम्हारा मनोरंजन करेंगी।"

"मुझे मनोरंजन नहीं चाहिए। मैं इसे भुला देना चाहता हूँ।"

"नहीं, भूल नहीं सकता वह। हम भूलने न देंगी उसे।"

"क्यों? मैंने क्या अपराध किया है तुम्हारा?"

"हमारा ही दोष क्या है? क्यों भुला करके उसे तुम हमसे? हमने तुम्हें प्रेम करना सिखाया है।"

सिद्धार्थ ने आँखें खोल दीं। आसन से उठकर वह उस श्मशान में धीरे-धीरे टहलने लगे। कुछ क्षण के पश्चात उन्होंने बैठकर फिर ध्यान जमाया। इस बार फिर उनकी कल्पना के विरुद्ध उन्होंने एक भयंकर और डरावनी मूर्ति देखी। उन्होंने उससे पूछा—"कौन हो तुम?"

"मैं कामनाओं का अधिपति मार हूँ।"

"मार! तुम्हें मेरे ध्यान में आने का प्रयोजन क्या है?"

"युवराज! मैं तुम्हारे हित की बात कहने आया हूँ तुमसे। यहाँ श्मशान की भयंकरता में क्यों अपना समय नष्ट कर रहे हो? क्यों यह देह सुखा रहे हो। इस प्रकार कुछ न होगा। चलो,

अपनी राजधानी को लौट जाओ। मैं तुम्हें चक्रवर्ती राज्य दूँगा।

"दूर हो, दूर हो हे मार! मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

"देखो, मेरे साथ शत्रुता न ठानो। इससे तुम्हारा कल्याण न होगा।"

"हे मार! तू मेरे ही मन की कल्पना है, तू मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

"यह तेरा भ्रम है भोले राजकुमार! मैं तेरे मन की कल्पना नहीं हूँ, तेरा मन मेरी रचना है। मैं तुझे अभी कुछ समय देता हूँ, तू विचारकर ठीक-ठीक निश्चय पर पहुँच।" कहकर वह कामदेव अदृश्य हो गया।

सिद्धार्थ ने आँखें मूँदकर ही विचार किया—"क्या सचमुच मेरा मन कामनाओं की ही उपज है? नहीं, नहीं। यह रचना व्यर्थ है। मेरे पास विवेक है। यह उसे भ्रमित कर मेरे मन का स्वामी बनना चाहता है। मैं बिलकुल भिन्न हूँ, मन से भी सर्वथा परे। मन की समस्त धाराएँ मेरे ही वश हैं। मेरे साथ विग्रह कर काम सफल-काम हो नहीं सकता।"

वह फिर मार को सर्वथा मन से भुलाकर ध्यान करने लगे। अचानक तीन सुंदर और सुकुमार रमणियाँ उनको दिखाई दीं। अपूर्व रूप, मानो धरती पर चन्द्रमा हो। "कौन हो तुम?"

एक ने उत्तर दिया— "हम काम-दुहिताएँ हैं। मेरा नाम तृष्णा है।"

"तृष्णे! मैं तो तुम्हें कभी का छोड़ चुका हूँ। फिर तुम क्यों आई हो?'

"युवराज! तुम्हारे ऊपर हमें दया आई है। तुमने शरीर की कैसी दशा कर ली। इस प्रकार कितने दिन जीवित रहोगे? जब जीवन ही न रहेगा, तो फिर साधना कैसे होगी?"

"तुम और किसे पद एक क्षण लेकर आई हो, मैं इसमें न पड़ूँगा। आधी मुट्ठी सिक्के-टुकड़ों में मेरे जीवन की तृष्णा मरती हुई है। तुम उसे भी ले लेने के लिये आई हो तृष्णा! अच्छी बात है, मैं इसका भी त्याग कर दूँगा।'

"नहीं-नहीं राजकुमार! हम तुम्हारे लिये नित्य नूतन भोजन ला सकती हैं, केवल तुम्हारे संकेत की आवश्यकता है।"

"और तुम किसलिये आई हो?" सिद्धार्थ ने दूसरी सुंदरी से पूछा।

"मेरा नाम रति है। तृष्णा के बताए हुए मार्ग में मैं उस की प्रवर्तिका हूँ।"

"जब तृष्णा का मार्ग ही मेरा नहीं है, तो उसकी प्रवर्तिका ही से क्या प्रयोजन है फिर! और तुम्हारा नाम क्या है?" सिद्धार्थ ने तीसरी से पूछा।

"अरति है मेरा नाम।" उसने उत्तर दिया।

"अरति!" सिद्धार्थ ने आश्चर्य-भरी जिज्ञासा की।

"हम दोनों में आकाश-पाताल का अंतर केवल नाम-मात्र का ही है राजकुमार! वैसे हम दोनों सहोदरा हैं। तृष्णा का कार्य-साधन जैसा रति करती है, वैसा ही यह अरति भी। जहाँ रति होगी, वहाँ अरति भी।"

"और वहाँ क्या सबसे पहले तृष्णा न होगी?" तृष्णा ने कहा।

"और जहाँ तृष्णा ही न होगी, वहाँ तुम आओगी?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"जहाँ मन होगा, वहाँ तृष्णा होगी ही। सच कहो राजकुमार! क्या तुम बिना किसी तृष्णा के ही इस श्मशान में आए हो? माना, तुमने कुछ त्याग किया है, क्या कुछ पाने की जिज्ञासा नहीं रखते हो मन में?" तृष्णा बोली।

"जिस शक्ति से आकर्षित हो रहे हो वह मैं हूँ।" रति बोली।

"और जिस शक्ति से परित्याग कर रहे हो, वह मैं हूँ।"

"तुमने आकर मुझे भ्रम से बाँध लिया।" असहाय-से होकर सिद्धार्थ ने कहा।

"हाँ।" कहता हुआ एक बड़ा विकराल दैत्य प्रकट हुआ वहीं पर—"मैं ही भ्रम हूँ। मार के सेनापतियों में से एक।"

"देखा जायगा भ्रम! तुम मुझे कुछ भी बाधा न पहुँचा सकोगे। जिस प्रकार मैं अंधकार में से अपना मार्ग निकालता आ रहा हूँ, भ्रम में से भी सत्य की चिनगारियाँ ढूँढ़ लूँगा। बाहर के समस्त शत्रु मेरे मन ही में आकर प्रकट हो गए तुम! तुम मेरे अहंकार से बढ़कर नहीं हो। जब तक मेरा यह ज्ञान आवश्यक है, सत्य के मुझे दर्शन हों या नहीं, कम-से-कम तुम मुझे पराजित नहीं कर सकते। मेरी इच्छाओं पर प्रभुता करनेवाले! मेरी कामनाओं को अपनी डोर में बाँधनेवाले हे मार! मैंने तेरे आकार को देख लिया है। तू सामने खड़ा हुआ है, और मैं विजित हो जाऊँगा तुम पर—मैं भाव में ही भाव की प्रतिष्ठा कर दूँगा।" कहते हुए सिद्धार्थ आसन पर से उठ गए।

शिष्यों से सिद्धार्थ ने कहा—"धीरे-धीरे जीवन के कई बहुमूल्य वर्ष बीत गए हैं। मार्ग के मित्र और शत्रुओं की पहचान में ही इतना समय व्यतीत हुआ है। अब मेरा सत्य रूप से शत्रु से सामना हुआ है।"

"गुरुदेव, हमें भी यदि शत्रु का परिचय दिया जाय।" सिद्धार्थ का प्रिय शिष्य कौण्डिन्य बोला।

"कामना ही तो शत्रु है कौण्डिन्य! यह अनेक बार इसने विचलित किया है।"

"कामना शत्रु कैसे हो?"

"इसका शमन इतना कठिन है कि असंभव कहा जा सकता है।"

"फिर ?"

"इसे उत्पन्न ही न होने देना इसका शमन है। अंगुर में से विष और अमृत बीत चले हैं जैसे इस जीवन के शत-शत कृष्ण और शुक्ल पक्ष! अब इनको यहीं समाप्त कर मैं मात्र से केवल एक बदरीफल खाऊँगा।" सिद्धार्थ ने कहा।

कौण्डिन्य उनके चरण पकड़ कर चिल्लाया— 'नहीं, गुरुदेव!'

"शिष्य गुरु पर कोई अनुरोध नहीं करता। नहीं इसका ठीक है कौण्डिन्य। मैं उदर के अधिक भाग को जल से भर लूँगा। इसमें भी पोषक तत्वों की कमी नहीं है।"

सिद्धार्थ केवल एक बदरी का दाना और जल पीकर ही रहने लगे। मार के साथ उनका भयानक संघर्ष चला। अब वह एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय को ध्यान के आसन पर ही बैठे-बैठे बिता देते। आँखें मिचमिचिये ही रहतीं। क्योंकि अधर भी सी लिए। शिष्यगण नियत समय पर एक बेर का दाना उनके मुख में रख देते और मिट्टी के पात्र से उन्हें जल पिला देते।

---

१४ युद्ध और विजय

इस प्रकार कठोर तपस्या करते-करते उरुवेला में सिद्धार्थ को ६ वर्ष बीत गए। कभी रंग और रस के जगत् की रचनाकर काम-पुत्रियाँ उनके मन को प्रेम से आकृष्ट कर लेने के लिये आतीं और कभी मार की सेना नाना प्रकार के भय दिखाकर उन्हें भग्न-संकल्प कर देना चाहतीं। कभी मार का सखा वसंत खिला, मंजरी, कमलिनी, सुरभि और सुगंध के साथ आकर उन्हें जीवन की आशा-उमंग दिखाता और कभी स्वयं मार उनके समीप उपस्थित होकर मृत्यु का भय-दंड उनके सम्मुख रखता।

अपने प्रचंड मनोबल से सिद्धार्थ उनका दमन कर सत्य के प्रकाश में बहुत आगे बढ़ जाते। परंतु फिर मार की शक्ति उन्हें युद्ध के मैदान में खींच लेती। वह फिर युद्ध करते फिर आगे बढ़ते और फिर शत्रु के ही बीच में फँस जाते।

सिद्धार्थ मार पर विजय प्राप्त करने के लिये नाना पथ से सक्रिय हो गए। केवल एक बेर या दाना उनके प्राणों का संबल बना हुआ था उसके लिये भी अब उन्होंने मुख न खोला। केवल जल और पवन पर ही उनके प्राण चलने लगे।

वह सूखकर काँटा हो गए। उनका सारा अस्थि-पंजर त्वचा पर निकल आया। रक्त सूख गया। समस्त अंग में झुर्रियाँ पड़ गईं। कपोल मिल गए, नयनों में गड्ढे पड़ गए। उनकी कनक-कमनीय देह-कांति मलिन हो गई!

शिष्यगण अब सिद्धार्थ को अकेला न छोड़ते। वे रात को भी बारी-बारी से जागकर उनका पहरा देते। कभी-कभी उनके श्वास

का प्रभाव भी निरन्तर कम पड़ता। शिष्यगण उस समय व्याकुल होकर एक दूसरे का मुख देखने लगे।

एक दिन सिद्धार्थ ने ध्यान में एक नवीन व्यक्ति देखा। बड़ा सात्त्विक रूप और वेश। उसके हाथ में वीणा थी। सिद्धार्थ ने पहले उसे मार का ही कोई प्रपंच समझा। वह उदासीन ही रहे उससे।

'मैं तुम्हारे ही उद्देश्य से आया हूँ राजकुमार!"

"कौन हो तुम? वेश से कोई दिव्य पुरुष जान पड़ते हो।"

"हाँ, मुझे इंद्र कहते हैं।"

"किस उद्देश्य से आए हो?"

"तुम्हारी उग्र तपस्या को देखकर मैं खिंचा हुआ चला आया हूँ तुम्हारे पास। मैं तुम्हें एक गीत सुनाऊँगा।'

'गीत तो मैं रात-दिन सुना करता हूँ। काम-दुहिताएँ आठों याम मेरे मानस को अपने नृत्य और गीतों से भरे रहती हैं।"

"उनके और मेरे गीत में अंतर है। वह प्रवृत्ति का गीत गाती हैं मैं निवृत्ति का राग झंकृत करूँगा।"

"मेरी तपस्या में सहायक होगा वह?"

'कदाचित्।' कहकर इंद्र एक शिला-खंड पर बैठकर वीणा मिलाने लगे। वह तीन तार की वीणा थी। इंद्र ने पहला तार झंकृत किया।

सिद्धार्थ बोले—"यह बहुत ढीला है। ठीक स्वर नहीं निकल रहा है इससे।

इंद्र ने दूसरा तार बजाया।

"हाँ यह ठीक स्वर दे रहा है।

इंद्र ने तीसरे तार को छेड़ा। वह टूट गया।

सिद्धार्थ बोले—"यह तो टूट गया।"

"हाँ सिद्धार्थ, वह बहुत कसा हुआ था।"

"बस हो गया इंद्र! मेरी समझ में आत्म-ज्ञान आ गया। आपको धन्य है, आपको नमस्कार है। मेरे मन की ग्रंथि खोल दी।"

"आप धन्य हुए हैं महाराज! इंद्र आपके पद-धूलि की समता रखता है। आप सत्य के अन्वेषक नहीं, सत्य आपके प्रकाश से प्रकाशित है। आपके दर्शन कर यह इंद्र आज सफल-काम हुआ। पर इस सेवक के मन में एक शंका है उसे दूर कीजिए महाराज!"

"क्या शंका है?"

"मेरी वीणा के तारों से आप क्या समझे?"

"आपकी वीणा के इधर-उधर के ये दोनों तार इस के दो सिरे हैं। एक ढीला और दूसरा आवश्यकता से अधिक कसा हुआ। वह जो मध्य का तार है वह न अधिक ढीला है न बहुत कसा हुआ। कैसा मधुर स्वर दिया इसने। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच की समवृत्ति है। इसे बहुत दिन से मैं खोज रहा था। भोग और योग के बीच में यह मध्यम मार्ग परम शांतिदायक है। मैं इसी का अनुसरण करूँगा इंद्र! आपने मुझे इसका ज्ञान दिया, बड़ा उपकार किया।"

"हरे-हरे! आप ही तो इस मार्ग के प्रवर्तक हैं। सदियों की धूल से यह मार्ग अस्पष्ट हो जाता है, आप बार-बार इसका उद्धार कर इसे लोगों के लिये प्रशस्त कर देते हैं। हे भगवान् बोधिसत्व! आप साक्षात् आदित्य हैं। मैं आपको क्या दीपक दिखा सकता हूँ। आपकी जय हो!' इंद्र ने हाथ जोड़कर परिक्रमा की। वह विदा हो गए।

सिद्धार्थ ने विचारा—"क्रिया और ज्ञान ये दोनों ही मार्ग इस मध्यम मार्ग में एक दूसरे में मिले हुए हैं। क्योंकि बिना दोनों सिरों की व्यवस्था के इसमें मध्य का ध्यान हो नहीं सकता। इन दोनों सिरों में से एक आकर्षण करता है, दूसरा विकर्षण। आकर्षण की

विकर्षण से और विकर्षण का आकर्षण से हम निग्रह कर सकते हैं। मध्य बिंदु ही वह स्थान है। बिना इस समन्वय के हमें प्रज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती। तभी हमारा मन स्थिर होगा और तभी हमारी प्रज्ञा जाग्रत होगी। वहीं पर इस आत्मा का विकास होगा, और तभी हम सर्वप्रज्ञात-समाधि की ओर अग्रसर होंगे।

काम-लोक में उस समय मार ने अपने समस्त सेनापति, सेवक और संबंधियों की विराट् सभा आहूत कर रखी थी। सभा का एकमात्र उद्देश्य यही था। युद्ध से, छल से, साम-दाम-दंड-भेद से किस प्रकार सिद्धार्थ को तपस्या से विरत और विमुख किया जा सकता है।

प्रथम सुरुचि पर ही आक्रमण का दायित्व भार सौंपा।

चिंता और मैत्री ने कहा—"इस राजकुमार के मन को सहज ही वश में कर रूप और काम के अनंत सागर में निमग्न कर देगी है। यदि सुरुचि उसकी रचना में प्रवृत्ति उत्पन्न कर दे, अवश्य वशी दशा में।"

"मैं इसी दिन से अपनी पराजय देखने लगा हूँ जिस दिन से उन्होंने अचल आसन और व्रत पर अपना जीवन स्थिर कर दिया है," मार ने कहा।

"यह आप लोग कोई जानते ही नहीं हैं। इतनी कठोर साधना पर भी सिद्धार्थ को क्यों अभी तक सत्य का साक्षात्कार नहीं हुआ है। मेरे कारण मैंने ही उनको अपने विकल्प से आवरित कर रखा है।" भ्रांति वह गर्व के साथ बोली।

"संभव है।" मार ने कहा—"पर केवल एक तुमसे क्या हो सकता है। मेरे प्रबल सेनापतियो!" मार ने एक बार दृष्टि की। उसके तीन प्रबल योद्धा काम क्रोध और लोभ आत्मासीन से बाहों स हँसे ठठाकर।

क्रोध बोला—"महाराज, काम ही न हो तो मेरा कोई कार्य नहीं चल सकता। जब काम हो और उसकी प्राप्ति में बाधा हो तभी तो मैं अपने उग्र रूप से प्राणी को अंधा बना सकता हूँ। इसके बिना नहीं। श्रेय सेनापति काम का है।"

काम ने कहा—"यही आशय मेरा भी है महाराज! जब काम हो और उसकी पूर्ति हो, तभी तो मैं मनुष्य की गर्दन पकड़कर उसे पथ पर से खींच लेता हूँ।"

बड़ी नम्रता के साथ काम बोला—"सेनापति, क्रोध और लोभ ने मुझ पर जो दोषारोपण किया है वह उचित ही है। यदि सुरुचि अपनी रचना में रस ला सकती है, तो यह सेवक काम उस प्रयोग जीवनभर सिद्धार्थ को अपने तीक्ष्ण बाणों से आहत कर सकता है।"

सुरुचि बोली—"कोई सहायक भी तो दीजिए मुझे।"

लिप्सा ने कहा—"तुम्हें आवश्यकता किसकी है। हम पाँच बहनें तो हैं हम साथ-ही-साथ तो चलती हैं।"

फूलों के धनुष को सँभालता हुआ वसंत बोला—"चलो मैं भी चलूँगा तुम्हारे साथ। मैं रस की जागृति के लिये प्रकृति के कण-कण के हित अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर दूँगा। मैं फूलों में रंग और पंखुरियों में सुगन्धि बिखेरता दूँगा। मैं सारी सत्ता को जीवन और यौवन से युक्त कर दूँगा। कण-कण को अनुराग के राग से भर दूँगा। मैं हिला दूँगा सिद्धार्थ का आसन।"

सुरुचि बोली—"अच्छी बात है। उरुबेला-प्रदेश के सेनानी-ग्रामक ग्राम में एक संपत्तिशाली कुलपति की कन्या है। सुजाता उसका नाम है। मैं उसे जाकर अपना साधन बनाती हूँ, और सिद्धार्थ की तपस्या में जाकर अपना अधिकार जमाती हूँ। आगे फिर आप लोग सँभालिए अपना काम।"

मार बोला—"तुम लोगों की कोई चिंता न करो। सिद्धार्थ की तपस्या

के चपल हो जाने पर मेरे सब सेनापति सक्रिय हो जायेंगे तब तक ।"

सिद्धार्थ को अरति दिखाई दी । सिद्धार्थ के मुख पर मधुर मुसकान खिल गयी ।

अरति आश्चर्य में भर उठी । सोचने लगी — 'आज यह क्या बात है । इस तपस्वी ने एक दिन भी कभी मेरी ओर मुड़कर नहीं देखा ।" वह कुछ और निकट आ गई उसके ।

"तुम भी सुंदर हो अरति !" सिद्धार्थ ने कहा ।

"सुंदर हूँ ?" अरति ने अपने मन से पूछा । वह विजय के दर्प में भर उठी । सिद्धार्थ की दृष्टि ने उसे लज्जा से विनत कर दिया । उसके कपोल रक्ताभ हो गए । वह समझी उसने तपस्वी के मन को आकृष्ट कर लिया । वह हटने लगी धीरे-धीरे पीछे को ।

"ठहरो अरति !" सिद्धार्थ ने कहा ।

अरति मृ अधरों से लुप्त हो गई ।

सिद्धार्थ ने आँखें खोलकर अपने अंग पर दृष्टि की — "क्या मलिन हो गया हूँ मैं । निराहार ने स्थान-स्थान पर गड्ढे खोदकर उनमें मैल जमा कर दिया है । बरसों से आँखें और मुख बंदकर एक आसन पर बैठा हूँ । कानों में भी कचरा ठूँस रखा है । बाह्य जगत् को ऐसे हठ-पूर्वक आकुल कर भी तो कुछ नहीं मिला । जिनके लिये ये सब द्वार बंद कर दिए, वे सब-के-सब कितने निम्न और कितने तुच्छ मेरी तपस्या में जाग रहे हैं । भीतर-बाहरी विजय सरल है भीतर इनसे लड़ते-लड़ते श्रांत हो उठा हूँ ।" उन्होंने वन में चारों ओर दृष्टि डाली ।

चार शिष्य सिद्धार्थ भिक्षाटन ग्रामों में गए थे । कौण्डिन्य सिद्धार्थ की चौकसी के लिये रह गया था । वह कुछ समय हुआ, शिष्य ही मी पर समिधा एकत्र कर रहा था ।

"रवि का उदयास्त और ऋतुओं का परिवर्तन मुझे ज्ञात नहीं होता

था। मैं नहीं जानता, कितना समय बीता है। ये वट-जटाएँ इस अवस्था में बहुत बढ़ गई हैं। अनेक स्थानों में, जहाँ आकाश दिखाई देता था, वहाँ शाखियों ने बढ़कर अपने हरित पत्र फैला दिए हैं।" सिद्धार्थ ने बड़ी कठिनता से अपना आसन छोड़ा—"कोई नहीं है। नहीं जानता, मेरे साथी मुझे छोड़कर कहीं अन्यत्र चले तो नहीं गए क्या? नहीं, कुश-कुश से भूमि आच्छादित है। उनके आसन और वस्त्र भी ठीक-ठीक क्रम से रखे हुए हैं।"

सिद्धार्थ लड़खड़ाते हुए निरंजना के तट की ओर बढ़ने लगे। मार्ग में एक बेर का डाला तोड़ने के लिये उन्होंने हाथ बढ़ाया। उनका पैर फिसल पड़ा, और वह मूर्छित होकर भूमिशायी हो गए।

कुछ ही क्षण पश्चात् समिधाओं का भार लेकर कौण्डिन्य आ पहुँचा वहाँ पर। आचार्य को भूमि पर मूर्छित देखकर वह चौंका। उसने कमंडलु से उनके सिर में जल की धार दी। उनके हाथ-पैरों को मला। बड़ी कठिनता से सिद्धार्थ ने आँखें खोलीं। उस समय कौण्डिन्य के शेष साथी भी लौटकर आ गए थे।

"क्या हो गया? आचार्य!" कौण्डिन्य ने पूछा।

"कुछ नहीं कौण्डिन्य! शरीर में बड़ी दुर्बलता थी। मैंने अधिक श्रम किया, इसी से गिर पड़ा।"

"आप अचेत हो गए थे।"

"पर मन जाग्रत् ही था कौण्डिन्य, बड़ा अद्भुत स्वप्न देखा मैंने।"

"आपकी चेतना जगाने के लिये मैंने तो बड़ी प्रयत्न किया होगा कम-से-कम।"

"मुझे कुछ ज्ञान नहीं है इसका। आज कितने दिन के पश्चात् मैं इस वट के नीचे से उठा हूँ? कौण्डिन्य आज कितने समय के अनंतर मैं तुमसे बोला हूँ?"

"छः वर्ष गुरुदेव!"

"बहुत बड़ी भ्रान्ति कौण्डिन्य!"

'सत्य की साथ हँसी-खेल नहीं है गुरुदेव! हमने तो इन छः वर्षों में कुछ भी प्राप्ति नहीं की। आपकी सेवा भी कुछ नहीं हो सकी। आपकी इस कठिन साधना के दर्शक होकर हम आपके साथ रहे हैं यही सौभाग्य एक हम अपना समझते हैं।' कौण्डिन्य ने कहा।

दूसरा साथी बोला—"गुरुदेव, अवश्य ही आपने सत्य को पहचाना है। हम आपके अनुचर शिष्य हैं। हमें भी तो उसका परिचय दीजिए।"

"मेरे प्रिय सहचर, सत्य उतना ही दूर जान पड़ता है, जितना छः वर्ष पहले था।"

'इतनी तपस्या क्या व्यर्थ गई?"

'व्यर्थ तो कुछ भी नहीं जाता। पहले समझता था, शरीर को कष्टों के प्रहार से मुक्त कर, भूख-प्यास के बंधन से छुड़ाकर, मन को इंद्रियों की सीमा-दासी से स्वतंत्र कर आत्मज्ञान प्राप्त हो जायगा, किन्तु न हुआ। अब सोचता हूँ, शरीर के पोषण मात्र के लिये भोजन आवश्यक है। हे कौण्डिन्य! तुम भिक्षा में क्या लाए हो? इस स्निग्ध-मधुर आहार ने, तो मुझे सिखाया।"

कौण्डिन्य सोचने लगा—"आचार्य यह क्या कहने लगे। जान पड़ता है, इनकी तपस्या भ्रष्ट हो गई। यह भोग के मार्ग में भटककर फिर भोग की ओर जाने लगे।"

एक शिष्य बोला—"कुछ दूध है, मैं गरम कर ले आता हूँ।'

"अवश्य तभी मैं यहाँ से उठ सकूँगा।" सिद्धार्थ ने दीर्घ निःश्वास छोड़ी।

कौण्डिन्य ने बहुत ऊँचे घर से गिरे हुए प्राणी की भाँति सिद्धार्थ का देखा।

सिद्धार्थ ने उसकी आँखों का अर्थ समझकर कहा—"कौंडिन्य, तुम मुझे विजित और पतित समझने लगे।"

"क्यों ?"

अत्यंत चकित होकर कौंडिन्य ने उनके चरण पकड़ लिए—"नहीं गुरुदेव! सेवक को क्षमा करो।"

दुग्ध-पान कर सिद्धार्थ अपने आसन पर आए, और उन्होंने संक्षेप में अपनी साधना के अनुभव प्रकट किए उन पर। कौंडिन्य का भ्रम और भी बढ़ गया। उसे निश्चय हो गया मार विजयी हो गया सिद्धार्थ पर।

शिष्यगण धीरे-धीरे छोड़ने लगे गुरुदेव को। उनकी क्षीण काया शीघ्र ही फिर सजीव हो चली।

उस वन में सुजाता एक वट-वृक्ष का पूजन और परिक्रमा करती थी जब वह कुमारी ही थी। उसकी कामना थी कि यदि उसे मनोनुकूल वर प्राप्त हो जाय और उससे एक पुत्र उत्पन्न हो जाय, तो वह आजीवन प्रतिवर्ष वैशाख की पूर्णिमा को उस वट का पूजन करेगी। उसकी दोनों मनोकामनाएँ पूरी हुई थीं।

उस दिन वैशाखी पूर्णिमा थी। सुजाता प्रतिज्ञानुसार पूजा की सामग्री एकत्र करने में लगी। उसने अपनी एक सेविका को उरुबेला के वन में वट-वृक्ष पर झाड़ने-पोंछने और प्रकाश के लिये पहले ही भेज दिया।

पाँच-सात दिन में ही धीरे-धीरे सिद्धार्थ के शरीर में शक्ति लौटने लगी। उनका रूप-रंग फिर अपनी पूर्व स्थिति में आने लगा। वह एकांत में उस वट-वृक्ष के नीचे ध्यान कर रहे थे। शिष्य कोई भी न था वहाँ पर, सब अन्यत्र गए हुए थे।

अचानक सिद्धार्थ ध्यान तोड़कर उठे। उन्हें अपने कंधे पर के एकमात्र वस्त्र की स्मृति हुई। अनेक वर्षों से वह उनसे ढके हुए था।

शत-शत छिद्रों से जीर्ण वह कालिमा से अधिक मलिन था, वही ममता हो गई थी सिद्धार्थ को उस पर। आज वह उसका विछोह सह लेने के लिये कटिबद्ध हो गए।

कुछ दूर पर, श्मशान की ओर बड़ा धुआँ उठ रहा था। उन्होंने निश्चय किया, अवश्य ही कोई शव-दाह हो रहा है। वह उधर ही चल पड़े।

श्मशान-समीप के किसी गढ़े में एक स्त्री की चिता धधक रही थी। सिद्धार्थ बड़ी देर तक खड़े रहे उसके पास। वह लौट पड़े। उनकी दृष्टि निकट ही भूमि पर पड़े हुए एक मलीन छद वस्त्र पर पड़ी। कदाचित् वह शवाच्छादन के लिये रख छोड़ा था शवदाहियों ने। सिद्धार्थ ने वह वस्त्र माँग लिया उनसे। उसे लेकर वह अपने आसन पर आए। निरंजना में धोकर उसे सुखाया उन्होंने। फिर उसे पहन लिया। जीर्ण वस्त्र प्रवाहित कर दिया निरंजना की धारा में। इस नवीन परिधान में सिद्धार्थ फिर बैठ गए वट वृक्ष के नीचे। अपने ध्यान की शृंखला जोड़ने लगे।

सुजाता की दासी ने वहाँ पर आकर देखा एक दिव्य-पुरुष वट-वृक्ष के नीचे बैठा है। उसने मन में सोचा हो न हो यह वही वन-देवता है जिसकी मनौती मेरी स्वामिनी ने मान रखी है। दासी ने बड़ी रुचि और श्रद्धा के साथ वहाँ पर परिष्कृत कर लीपा।

वह लौटकर पुलकों से भर गई। उसने सुजाता को यह समाचार सुनाया। सुजाता अत्यन्त पुलकित हो उठी। उसने बड़ी उमंग में भरकर एक स्वर्ण के थाल में पायस रक्खा, पूजा की सामग्री एकत्र की, और दासी का साथ लेकर उरुवेला के वन की ओर चली।

जिस वट-वृक्ष के नीचे सुजाता ने आज इतने वर्षों से अपने कुल की कामनाएँ केन्द्रीभूत कर रक्खी थीं, वहाँ एक तेज-पुंज देवता देखकर वह भावातिरेक से गद्गद हो गई। उसने अपनी सम्मान

और सिद्धार्थ के निकट रखकर उनके चरणों का स्पर्श किया—"हे मेरे चिर-पूजित देवता! आज तुमने निस्संदेह मेरी पूजा ग्रहण करने के लिये ही यह मानव-रूप रक्खा।"

सिद्धार्थ ने आँखें खोलीं—"कौन हो देवि! तुम?"

"तुम्हारी उपासिका, तुम्हारी सेविका। तुम क्या नहीं जानते? फिर भी बताती हूँ, मैं सुजाता हूँ।"

"सुजाता, मैं तुम्हारा इष्ट, देवता कुछ भी नहीं हूँ। तुम्हें भ्रम हुआ है। मेरा-तुम्हारा आज यह पहली ही भेंट है।"

"जो भी हो आप। आप मेरे मन में शंका उत्पन्न कर मेरे विश्वास को नहीं डिगा सकते। मेरी पूजा के आप ही उद्देश्य हैं।" सुजाता ने उनकी पूजन करना आरंभ किया।

सिद्धार्थ ने कहा—"मैं फिर कह देता हूँ तुमसे कि मैं एक साधारण मनुष्य हूँ।"

सुजाता मुसकाती हुई बोली—"आपको मेरी भक्ति की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। मैं साधारण मनुष्य को ही पूजूँगी आज। मेरे मानस में मेरे देवता का ही ध्यान है।"

सुजाता ने मधु-शक्कर-मिश्रित पायस का नैवेद्य सिद्धार्थ के सामने रक्खा एक सुवर्ण की थाली में। वह हाथ जोड़कर बोली—"हे देवता! मेरे समान तुच्छ व्यक्ति की आपने अर्चना ग्रहण की। मैं क्या दे सकती हूँ आपको। सदा-सर्वदा आपका ध्यान मेरे माथे पर रक्षित रहे यही मेरा गौरव है। श्रद्धा-सहित यह नैवेद्य मैंने आपको समर्पित किया इसका भोग लगाइए।"

पायस की मधुर गंध से समस्त वट-वृक्ष का वातावरण सुवासित हो उठा। सिद्धार्थ ने कहा—"तुम्हारा यह नैवेद्य अमृत के सदृश दिखाई दे रहा है मुझे, मैं अवश्य इसे ग्रहण करूँगा।"

इसी समय सिद्धार्थ के पाँचों शिष्य भिक्षा प्राप्त कर लौट रहे

थे। दूर ही से उन्होंने देखा, तपपरित्याग में सुसज्जित होकर सिद्धार्थ के सामने बहुमूल्य थाल में भोजन रक्खा हुआ है। दो महिलाएँ उनके निकट ही खड़ी हैं।

कौण्डिन्य बोला—"हे भगवान्, यह क्या निस्पृह आचार्य का पतन हो गया!"

दूसरा शिष्य बोला—"हाँ, यही बात है।"

कौण्डिन्य—पुण्य का इतने वर्षों का संचय देखा तुमने, पर इसे कुछ भी देर न लगी। तुरन्त नष्ट-भ्रष्ट हो गए। यह निस्पृह तपी मार के जाल में फँस गए। यह साधना का मार्ग बड़ा विघ्नमय है। इंद्रियों का जितना दमन किया जाता है, उतनी ही यह विद्रोही हो उठती हैं। अब क्या होगा? भाई मैं तो समझता हूँ, हमको कहीं अन्यत्र चल देना चाहिए।"

"क्यों?" एक ने आपत्ति की।

"क्यों? देखते नहीं हो मार का प्रबल प्रभाव। वसन्त की ऋतु है सही, पर जिस सौन्दर्य के साथ यहाँ आश्रम में उसका साम्राज्य विकसित है वैसा क्या अन्यत्र परिलक्षित है? नहीं, वह देखो, अप्सराएँ आने लगी हैं। नृत्य-गीत आरंभ होगा अभी। विलास और भोग की सभा उपस्थित होगी।

"आचार्य को क्या अपेक्षा ही छोड़ जायँ।" दूसरा बोला।

कौण्डिन्य बोला—"अब क्या चाहिए उन्हें हमारा साथ। रम्भा सरीखी, सुवेशिनियाँ रमणियाँ लगी हैं उनकी परिचर्या के लिये। अब इन कौपीन-कमंडलुधारी, जटा-श्मश्रु-मंडित भिक्षुओं को कौन पूछेगा? ज्ञानप्राप्ति के लिये हमने आचार्य का साथ लिया था, इंद्रियों के भोगों में पतित हो जाने के लिये नहीं। तुम्हारी जो इच्छा हो करो। मैं तो नहीं रहूँगा देर इस आश्रम की सीमा में। मैं तो चला।"

"कहाँ को?"

"निरंजना के बहाव के किनारे-किनारे गया को और वहाँ से सीधे काशी को।" कौण्डिन्य ने कहा।

"आचार्य से विदा तो ले लें।" वप्प बोला।

"कोई लाभ नहीं। उनसे हमारे भी फँस जाने का भय है। मार का बड़ा भयानक इन्द्रजाल है। हमें ज्ञात भी न हो सकेगा कि हम डूब गए हैं। उठने के हेतु पुण्य चाहिए और गिरने के लिये पाप, इसका ज्वलंत उदाहरण इस तपस्वी का हमारे सामने है। कल तक यह आकाश की तारिकाओं के सान्निध्य में था। आज मधु-मत्त होकर भूमि पर रेंग रहा है।" कौण्डिन्य बोला।

"हमारे वस्त्र जल सूखने को डाल रखे हैं, उन्हें तो उठा लावें।" वप्प ने कहा।

"हाथ-भर कपड़े का टुकड़ा, जिससे माँगोगे, वह दे देगा। चले आओ सब। कुशल चाहते हो, तो भाग चलो अभी उलटे पैरों से।" कौण्डिन्य बोला।

पाँचों शिष्य चल दिए उसी पल सिद्धार्थ से बिना कुछ कहे-सुने।

सुजाता ने हाथ जोड़कर कहा—"आपने अनंत असीम कृपा की है भगवन्! अब मैं जाने की आज्ञा चाहती हूँ। जैसे मेरी मनोकामना पूर्ण हुई, ऐसे ही तुम्हारी भी मनःकामना पूर्ण हो। तुम्हारी जय हो!" वह विदा हो गई।

सिद्धार्थ मन-ही-मन सोचने लगे—"यह सती-साध्वी नारी अपनी पूजा की सम्पन्नता में भूल गई! मुझे आशीर्वाद देकर चली गई वह! इसके अंतःकरण में जो यह हर्ष भरा हुआ है वह अवश्यमेव मेरी मनःकामना पूर्ण करेगी। कैसा सुंदर-सुरभित प्रभात हुआ है आज का। मेरे मन में एक अलौकिक आनंद अविच्छिन्न प्रवाह में बह रहा है।" वह उस पायस के थाल को लेकर उठे। निरंजना के तीर पर गए। उन्होंने हाथ-मुँह धोकर पायस-भोजन

किया। उन्होंने परम शुद्ध स्नान की। सुवर्ण का थाल नदी के जल में प्रवाहित कर दिया। उन्होंने आकाश की ओर देखा, फिर शिष्यों के मार्ग पर दृष्टि की—"मेरे साथी नहीं आए आज अभी तक। मेरे मन में प्रतीत हो रहा है, आज वे मुझे छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गए हैं।" बेला बहुत अधिक बीत चुकी।"

कुशों का भार लिए हुए स्वस्तिक-नामक एक ब्राह्मण आ पहुँचा वहाँ। सिद्धार्थ से पहचान थी उसकी। उनके छः वर्ष की विकट तपस्या को वह भी बड़ी श्रद्धा और आश्चर्य के भावों से देखता हुआ चला आ रहा था।

"आओ स्वस्तिक, तुम मेरी ही भिक्षा से आए हो आज यहाँ।"

स्वस्तिक ने सिद्धार्थ को प्रणाम किया—"आपके पाँचों शिष्य आज वह आश्रम छोड़कर चले गए, क्यों महाराज?"

"मैं नहीं जानता। तुम्हें क्या मिले?"

"हाँ महाभाग!"

"क्या कहते थे?"

"यही कि सिद्धार्थ को सिद्धि प्राप्त हो गई और अब यहाँ हमारे जैसों की कोई गिनती नहीं।"

"नहीं स्वस्तिक, न मुझे सिद्धि आकांक्षित है न उनकी अपेक्षा ही। एक स्थान पर रहते-रहते कदाचित् उनका मन ऊब गया होगा।" सिद्धार्थ ने मंदस्मित होकर कहा।

स्वस्तिक को सिद्धार्थ के शरीर से अद्भुत आभा विकीर्ण होती प्रतीत हुई।

"नवीन और कोमल कुशों का भार लेकर तुम आए हो स्वस्तिक। कुछ मुझे दे जाओ।"

"किस हेतु महाराज?"

"इन पर बैठकर मैं सर्वविजयी मार की सेना का दमन करूँगा।"

"छः वर्ष की इस कठिन तपस्या से क्या तुम्हें नहीं हुआ ? तो इस घास पर बैठकर क्या हो जायगा। मैं तो नित्य ही कुशासन पर बैठता हूँ। मैं बूढ़ा होता जा रहा हूँ, और मेरी कामनायें नित्य बढ़तीं।"

"मार को जीतने के लिये पारमिता चाहिए स्वस्तिक।"

"पारमिता क्या हुई ?"

"कुछ विशिष्ट गुणों की संज्ञा है यह। फिर ज्ञात हो जायगा तुम्हें।"

स्वस्तिक सिद्धार्थ को कुश-दल देकर चला गया। उन्होंने कुशों को उसी वृक्ष के नीचे बिछाया। सूर्यदेव अस्ताचल पर जाकर चमक रहे थे। सिद्धार्थ एक महान् संकल्प को ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत हो रहे थे।

मार घबरा उठा था। उसने अपनी सेना को पूरी शक्ति से सिद्धार्थ पर आक्रमण करने के लिये उद्यत किया।

सिद्धार्थ ने उस वृक्ष के नीचे वीरासन में बैठकर वीर प्रतिज्ञा की—"इसी आसन पर बैठकर अब मैं सत्य का साक्षात्कार करूँगा। नहीं तो मेरा जो कुछ है, सब कुछ मेरे शरीर के साथ ही यहीं पर ध्वस्त हो जाय।"

एक वीर शुद्ध मन के इस संकल्प को सुनकर विकम्पित हो उठा मार! उसने अपने सहायकों को ललकारा—"वीरो बढ़ो, जागो, मानवों का मद भगा दो इस बार! नहीं तो फिर निर्वाण का पथ ज्ञात कर सिद्धार्थ उसे सर्व-साधारण के लिये सुगम कर देगा। फिर कौन हमारी बात पूछेगा? तुच्छ कृमि-कीट के समान हमारा जीवन हो जायेगा। हे सखा वसंत! कामना के उद्दीपन के लिये जो कुछ भी तुम्हारे हैं, वह सब प्रकट कर दो आज जल-थल-आकाश में, पवन को सुवास और संगीत से भर दो, पत्ते-पत्तों को रँग दो जन-जन को मदिर कर दो आज।"

मार के सम्मोहन अस्त्र वसंत ने श्री और सुषमा से परिपूर्ण कर दिया उरुवेला के वन-प्रांत को। उसकी सीमा के जड़-जीव सब भर उठे उद्दाम-कामना के उन्माद से, क्षण-क्षण में मधुराग विकस उठा! वे गगन में, और धरती पर, पक्षी पवन में पशु वन में और पुष्प कुंज में उल्लास से नृत्य करने लगे।

कमल अशोक, आम नवमल्लिका और नीलोत्पल के बाणों को सजाकर मार अधिष्ठित हो गया आत्मरथ के सूत्र अपने हाथों में लेकर। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर का चक्रव्यूह रचकर अपने शत्रु पर आघात करने लगे। पाँचों गीत-कन्याओं ने अपने सम्मिलित कंठ से रस की धारा बहानी आरंभ की। तृष्णा रति और अरति सिद्धार्थ को घेरकर नचाने लगीं। आकाश में वैशाख का पूर्ण चंद्र था!

सिद्धार्थ ने हँसकर कहा—"हे मार! यह तुम्हारी क्रीड़ा है, मैं समझ रहा हूँ इसे। तुम्हें इस परिश्रम की विफलता का खेद भोगना पड़ेगा।"

मार-कन्याएँ विवसना होकर सिद्धार्थ को रिझाने में प्रयत्नशील थीं। रति सिद्धार्थ के बिलकुल निकट आ गई। उन्होंने अरति की ओर देखा रति को पीछे हट जाना पड़ा। अखिल के लिये प्रयत्नशील उस साधक ने उन दोनों को अपने से समान दूरी पर रख दिया। वे दोनों वहीं-की-वहीं स्थिर हो गईं। सिद्धार्थ उनके आकर्षण-विकर्षण के स्तर से अतीत हो गए। रति और अरति एक-दूसरे में समाकर शांत हो गईं। उनके शांत होते ही तृष्णा का भी कहीं पता न रहा! तीन बालाएँ कभी की भाग चुकी थीं।

सम्मोहन के बाण को चलाकर मार विफल हो गया। उसने उन्मादन का शर-संधान किया। सारा वन भूचाल से चलायमान हो गया।

धैर्य के साथ सिद्धार्थ बोले—"इससे भी मैं अपना आसन छोड़ दूँगा मार। सारी धरती स्वभाव से ही चलायमान है। मैंने इस चंचलता को पहचाना है। सब चल रहे हैं, रूप-यौवन, श्री-संपत्ति, नर-नारी, पशु-पक्षी, केवल एक सिद्धार्थ ही अचल है। उसने अपने मन को अचल किया है, इसी से इस चपल धरातल पर भी उसका आसन स्थिर है।"

मार ने फिर बाण छोड़े। अचानक आँधी उठी, बादल गरजने लगे, बिजली कड़कने लगी और मूसलधार जल बरसने लगा। मार के समस्त सेनापतियों ने एक साथ मिलकर उन पर चढ़ाई की, कुछ फल न हुआ। सिद्धार्थ धीरे-धीरे सूक्ष्मतर लोकों में बढ़ने लगे।

मार मिथ्या नहीं इस धरती पर से। वह सिद्धार्थ के मनोबल की मार खाकर पराजित हो गया। लज्जा से फिर साहस न हुआ उसे सिद्धार्थ के सामने आने का।

मार पर विजयी होकर सिद्धार्थ सुख और दुःख की व्याकुलता से मुक्त हो गए। प्रसन्नता और विषाद दोनों के प्रति समदृष्टि हो जाने से उनकी स्मृति जाग उठी।

वह ध्यान के एक के पश्चात् दूसरे स्तर में स्थित होते गए। देश और काल अपने रूप और आयतन को त्यागकर उनकी दिव्य दृष्टि में घुल गया। उन्होंने अविद्या के अंधकार से छूटकर समस्त प्राणियों को कोटि-कोटि जन्मों में देखा। रात्रि का प्रथम याम बीत चला।

रात्रि के दूसरे याम में उन्होंने देखा, उसका नाम-रूप नहीं जाति-पाति नहीं जनक-जननी-जन्मभूमि नहीं यौवन नहीं आयु नहीं, वह सनातन बोधिसत्व-संस्कारयुक्त है। वह अज और अविनाशी है। उसका न कहीं आरंभ है, न परिणाम—आदि और अंत के बंधन से विमुक्त! उन्होंने सुना, असंख्य देवता और मनुष्य उनका जय-घोष कर रहे थे—"परम शुद्ध बुद्ध की जय!"

रात्रि के शेष काल में उन्हें ज्ञान हुआ— 'जरा-मरण जाति-जन्म से उत्पन्न है, जाति-जन्म भव-प्रत्यय का फल है, भव-प्रत्यय उपादान अर्थात् चार मूर्छा से उपजा है, उपादान तृष्णा-जात है तृष्णा वेदना अर्थात् बाह्य वस्तु के ज्ञान से हुई है वेदना स्पर्श-प्रत्यय अर्थात् इंद्रियों का विषयों के साथ संसर्ग होने से उत्पन्न हुई है, स्पर्श मन और पाँच इंद्रियों के षडायतन से उपजा है, षडायतन नाम-रूप नाम-रूप विज्ञान का फल है अपनापन का ज्ञान ही विज्ञान है, विज्ञान-संस्कार अर्थात् प्रवृत्ति-निचय से हुआ। संस्कार अविद्या का फल है अवस्तु में वस्तु-ज्ञान और अनित्य में नित्यता की भावना ही अविद्या है। यदि इस अविद्या का निराकरण हो जाय तो फिर जरा-मरण से मुक्ति प्राप्त हो जाय।"

जैसे ज्योति के पुंज दिवाकर उदित होकर समस्त उपत्यका के प्रदेश को प्रकाशित कर रहे थे ऐसे ही सिद्धार्थ का अंतर भी ज्ञान से प्रकाशित हो उठा जिसके लिये घर और जगत् का त्याग किया, सुख-भोग छोड़ा इंद्रियों का दमन किया उसे आज इतने दिनों बाद पाकर सिद्धार्थ आनंद से गद्गद हो उठे। परंतु अभी वह समाधि-पद प्राप्त नहीं हुए थे।

धीरे-धीरे उन्होंने इच्छा बिना प्रयत्न किए ही उनका ध्यान मग्न होकर उन्हें समाधि की सीमा पर ले चला, उनके चित्त की चपलता चली गई स्थैर्य भी। उनका अनुराग और विराग मिट गया तर्क और वितर्क चले गए, उदासीन भाव वह भी चला गया। सिद्धार्थ श्वास और संवेदन-विहीन हो गए। उनके शरीर की समस्त क्रियाएँ शांत हो गईं। एक अनिर्वचनीय दशा को प्राप्त हो गए वह कब तक उस दशा में रहे यह। समय के बंध या उपेक्षा के दिन नहीं कहा जा सकता।

सिद्धार्थ के सुख-दुख का निर्वाण हो गया विरह-मिलन का

निर्वाण हो गया, जन्म-मृत्यु का निर्वाण हो गया, इंद्रियों और मन का निर्वाण हो गया। सिद्धार्थ को निर्वाण हो गया। उन्होंने सम्यक् संबोधि-पद प्राप्त किया अब अमिताभ कहलाए।

बुद्धत्व की प्राप्ति पर सिद्धार्थ ने कहा—"इस संसार में बार बार जन्म की वेदना सहता हुआ मैं इस वेदना के सूत्रकार को ढूँढ़ता रहा। आज वह दिखाई दिया अब मुझे गृह करने की आवश्यकता नहीं रही। मेरे सब बंधन टूट गए, गृह-कूट चूर्ण हो गया। मेरी समस्त सांसारिक वासनाएँ समाप्त हो गईं। मुझे निर्वाण मिल गया!"

जिस वट वृक्ष के तले सिद्धार्थ ने ज्ञान प्राप्त किया वह बोधिद्रुम कहलाया। निर्वाण-पद लाभ करने के अनंतर सात सप्ताह तक उन्होंने बोधिद्रुम के निकट ही समय अतिवाहित किया। कहते हैं, इस अवधि में क्षुधा-तृष्णा निद्रा-भ्रांति किसी वस्तु की उन्हें आवश्यकता नहीं हुई। यह समय उन्होंने धर्म-चिंता और निर्वाण-जन्य शांति में व्यतीत किया।

सातवें सप्ताह के अंत में तपुर और भल्लिक-नामक दो पूर्व देशीय व्यापारी माल से भरे हुए एक शकट को लेकर उत्कल के वन से होकर जा रहे थे। मार्ग में उनके शकट के चाक भूमि में धँस गए। वे वन में किसी मनुष्य का सहायतार्थ खोजते हुए उस तारायण नामक तरु के नीचे पहुँच गए, जहाँ बुद्ध ध्यानस्थ बैठे थे।

देवताओं के प्रकाश से भासमान उस अलौकिक महात्मा को देखकर अनायास उन दोनों की श्रद्धा और भक्ति उमड़ पड़ी। उन्होंने सुस्वादु भोजन के पदार्थ लाकर उन्हें भेंट किए। बुद्ध से धार्मिक उपदेश पाकर वे हाथों बिके हुए। इस प्रकार से तपुर और भल्लिक बुद्ध के सर्वप्रथम शिष्य हुए।

बुद्ध फिर तारायण के नीचे विचार करने लगे—"मेरी मनोकामना

पूर्ण हो गई ! अब क्या करना उचित है मुझे ? आधिपत्य केवल मानने से ही नहीं हो जाता। उसका काम मार्ग दिखाना है—सारी समष्टि को।" वह विचार-मग्न हो गए।

सारा वन-प्रांत बुद्ध को तपस्विता से जगमगा रहा था। पशु पक्षी, वृक्ष-पल्लव सब उन्हें धर्मचक्र के प्रवर्तन के हेतु आमंत्रित कर रहे थे।

बुद्ध ने विचारा—"जगत् में धर्म के नाम पर कुछ दूसरी ही परिपाटी प्रचलित है, मेरा मार्ग भिन्न है क्या संसार उसे स्वीकार करेगा ? उसे नवीन मार्ग समझकर उसकी उपेक्षा तो न करेगा। पर मेरा मार्ग नवीन नहीं है, वह प्राचीन भी नहीं, वह तो सनातन है। बीच-बीच में वह खो जाता है। मैंने उस पर शताब्दियों की जमी हुई धूलि हटाकर फिर उसे प्रकट किया है। मेरा मार्ग सत्य है। सत्य जितना स्पष्ट होता है, उतना ही सरल भी। सरलता उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। मेरे मार्ग लोक में समादृत होंगे।'

सारा वन प्रांत के कण-कण से प्रतिध्वनि उठी—"हाँ हाँ तुम्हारा निर्दिष्ट मार्ग जगत् के कोटि-कोटि प्राणियों की शांति का कारण होगा। प्रसन्न होओ सिद्धार्थ तुमने बोधित्व पाया है। तुमने अमृत प्राप्त किया है, अमृत वितरण करो।"

बुद्ध ने धर्म-प्रचार करना निश्चित किया—"हाँ मैं जगत् में शांति का बीज बोऊँगा। मैं निर्वाण का पथ प्रशस्त करूँगा।"

पर वह "कहाँ जाऊँ ?" उन्हें कपिलवस्तु की स्मृति आई—"नहीं, अभी वहाँ नहीं।" उन्होंने अपने प्राचीन गुरु आराडकालाम और उद्रक के पास जाकर उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने का विचार किया। पर ज्ञात हुआ कि वे दोनों कालकवलित हो गए हैं। बुद्ध निरंजना के किनारे-किनारे वाराणसी की ओर चले।

---

१५ धर्मचक्र-प्रवर्तन

बुद्ध के वे पाँचों शिष्य, जो उन्हें उरुवेला के वन में अकेला ही छोड़ आए थे, वाराणसी से छः कोस उत्तर दिशा में मृगदाव-नामक वन में तपस्या कर रहे थे। नाना स्थानों में विचरण करते हुए बुद्ध वाराणसी आ पहुँचे। मार्ग में उन्हें उन पाँच भद्रवर्गीय ब्रह्मचारियों का पता लग गया था। वह भी मृगदाव को ही चल दिए।

पाँचों ब्रह्मचारियों ने उन्हें दूर से ही आता हुआ देख लिया।

एक बोला—"वह देखो, गौतम चला आ रहा है, इसी ओर तप-भ्रष्ट होकर।"

दूसरा कहने लगा—"आने दो, हमें कोई प्रयोजन नहीं उससे।"

तीसरे ने कहा—"हमें कोई आवश्यकता नहीं है कि उसे बैठने के लिये आसन दें। हम सब अपनी-अपनी आँखें मूँद कर ध्यानस्थ हो जावें।

कौण्डिन्य ने विरोध किया—"यह कोरे पाखंड की बात है। इससे हमारा कल्याण न होगा। सिद्धार्थ ने हमारा [illegible] सिखाया है, तो हम साधारण शिष्टाचार से भी उसे वंचित कर दें। यद्यपि न हो वह राजयोगी तो है। तुम्हारी कुछ भी इच्छा हो, मैं तो अवश्य ही उसकी अभ्यर्थना करूँगा। मुझे तो उसकी गति में दृढ़ता और मुख में दिव्य तेज दिखाई दे रहा है।"

शेष चारों ने कहा—"शिष्टाचार नहीं कहता कि एक तप-भ्रष्ट इन्द्रियों के दास साधु के लिये सम्मान प्रकट किया जाय।"

जब बुद्ध उन ब्रह्मचारियों के निकट आए, तो उनके उपवास ने पहले उन्हीं चार ब्रह्मचारियों का निश्चय किया। उन्होंने तत्क्षण बुद्ध के चरणों पर गिरकर प्रणाम किया।

कौण्डिन्य बड़ी देर तक बुद्ध के चरणों में मस्तक रखे रहा। उसके नेत्रों से अविराम अश्रु-धारा उन्हें अर्घ्य दे रही थी।

बुद्ध ने प्रेम के स्पर्श से उसे उठाकर छाती से लगाया—"कौण्डिन्य!"

अपराध क्षमा कीजिए गुरुदेव! सबसे प्रथम मेरे ही मानस में यह अज्ञान उपजा था। मैंने ही इन ब्रह्मचारियों को भी आपका द्रोही बनाया। देखता हूँ, बड़ा भयानक अपराध हो गया मुझसे। आपके शरीर से एक अलौकिक ज्योति बहिर्गत होती हुई देख रहा हूँ मैं।" कौण्डिन्य ने कहा।

"हाँ कौण्डिन्य, मैंने सम्यक् संबोधि प्राप्त किया है।"

"पाँचों ब्रह्मचारियों ने उन्हें हाथ जोड़कर कहा— भगवान् शाक्यसिंह की जय!"

दिन डूब गया था, और संध्या व्यतीत हो रही थी। शाक्यसिंह का शरीर दिव्य आभा से चमक रहा था।

कौण्डिन्य ने कहा—"हमारा धन्य जीवन है। हमें तथागत के दर्शन हुए हैं। हमारी पाप-वासनाएँ आपके दर्शन-मात्र से क्षीण हो चुकी हैं। हमारा आप पर विश्वास जम गया है। भगवान् हम पर कृपा करें और हमें भी धर्म-ज्ञान का उपदेश दान करें।"

"अवश्य ही मैं इसी हेतु तुम्हारे पास आया हूँ। मैं सबसे पहले तुम्हें ही उस मध्यमा प्रतिपदा का परिचय दूँगा, जिसे मैंने पहचाना है। उस आर्य अष्टांगिक मार्ग को तुम्हें दिखा दूँगा, जो मैंने देखा है। उन चतुः आर्य-सत्य के तुम्हें दर्शन कराऊँगा, जिनके मैंने दर्शन किए हैं।"

यह जय-घोष बढ़ता ही चला। सुर, नर, नाग, यक्ष, गंधर्व और किन्नरों ने भी तीनों लोकों को निनादित कर कहा—"नमो बुद्धाय!"

पति-वियोग-कातरा यशोधरा ने ये छः वर्ष छः युगों के समान बिताए। एक तपस्विनी की भाँति, राजभवन में रहने पर भी वनवास से भी अधिक शून्यता के साथ, वह तिल-तिल घुलकर क्षीणकाय हो गई।

सिद्धार्थ के गले के एक मुक्ताहार को उसने अपना साथी बनाया। सोते-जागते उसके हाथों में वही माला रहती। वह अपना समय का अधिकांश एक-एक मुक्ता में सिद्धार्थ का नाम जपकर अतिवाहित करती। उसे विश्वास हो गया था एक दिन उसके स्वामी सत्य प्राप्ति कर उसके पास लौटेंगे, इसी विश्वास पर उसके प्राण अटके हुए थे।

महाराज शुद्धोदन ने फिर सिद्धार्थ की खोज के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया। वह लोगों के कहने-सुनने से मान गए। उन्होंने सिद्धार्थ के उद्देश्य की महानता को समझ लिया और उन्हें असित ऋषि की इस भविष्य-वाणी पर विश्वास हो गया—"यही तो यह बालक संसार का प्रमुख धर्म-गुरु होगा।"

प्रकट रूप से सिद्धार्थ का अनुसंधान नहीं कर रहे थे महाराज। इस भय से कि उनकी साधना में विघ्न होगा पर उनका व्याकुल हृदय सदैव ही पुत्र की कुशल-क्षेम जानने के लिये उत्सुक रहता था। राजमाता प्रजावती उन्हें कभी भूलने ही न देती।

मगध से जो भी यात्री भिक्षु, परिव्राजक, वणिक् कपिलवस्तु आता शुद्धोदन उसे राजभवन में निमंत्रित कर उससे सिद्धार्थ के समाचार पूछते।

तपुर और भल्लिक व्यवसाय करते हुए जब कपिलवस्तु पहुँचे, तब उन्होंने वहाँ सिद्धार्थ की ज्ञान-प्राप्ति का समाचार फैलाया।

महाराज ने यह सुनते ही उन्हें राजभवन में बुला भेजा और कहा—"हे ज्योतासिया ! तुम मेरे अभिनंदन के पात्र हो। तुमने मेरे युवराज को देखा है ?"

"हाँ महाराज देखा है। अब उन्हें कपिलवस्तु का युवराज कहना उनका अपमान करना है। चक्रवर्ती राज्यपति होना भी अब उनके सामने तुच्छ वस्तु है।" मधुर ने कहा।

सहसा महाराज ने कहा—"ठहरो मित्र, मैं अभी ही यह समाचार नहीं सुनना चाहता।" यह कहते हुए अंतःपुर में चले गए और प्रजा वती, यशोधरा एवं दु वर्ष के बालक राहुल को अपने साथ ले आए।

"मेरा सिद्धार्थ ! मैंने सुना था उसने उपवास से अपनी काया को सुखा डाला है। हे महानुभावो, आपने कितना दुर्बल देखा उन्हें ?"

"दुर्बल ?" मल्लिक ने मधुर की ओर देखा।

मधुर बोला—"नहीं तो। अद्भुत स्वर्गीय ज्योति से उनका मुख-मंडल जगमगा रहा था। मनुष्यों में हमने ऐसा तेज नहीं देखा, देवता होते होंगे, तो होंगे।"

"उन्होंने परम ज्ञान प्राप्त किया है, इसमें कोई संदेह नहीं।" मल्लिक बोला।

श्रोता गद्‌गद हो गए। उनके मुख से शब्द न निकल सके।

राहुल बोला—"मां कब आवेंगे पिताजी ?"

यशोधरा ने छिपाकर अपने अश्रु पोंछ लिए।

"अबोध बालक ! पिता को कभी देखा भी तो नहीं। कैसी ममता हो गई इसे उनकी।" कहकर महाराज ने राहुल को गोद में ले लिया—"अब शीघ्र ही आवेंगे तुम्हारे पिता राहुल।"

"फिर मेरे लिये क्या लावेंगे ?"

'खाने के लिये षट्-मिष्ठान्न और खेलने के लिये खेल-खिलौने।" प्रजावती ने कहा।

महाराज ने पूछा—"मेरे पुत्र ने परम ज्ञान प्राप्त किया है, जीवन में यह सबसे सुखद समाचार है हमारे लिये। ज्ञान प्राप्त कर हमारे पास लौटने का वचन दिया था कभी उसने। कुछ कहा नहीं तुमसे?"

"नहीं महाराज!"

"कोई चिन्ता नहीं। तुमने जो शुभ समाचार हमें दिया, उसका बदला क्या दें तुम्हें।' कहकर कुछ विचार किया महाराज ने—"तुम्हारे शरीर में जो भी वसन भूषण है उसे दीन-दुखियों को बाँट दो। तुम्हारे शरीर को स्वर्ण-मुद्राओं से भरकर हम तुम्हें विदा देंगे।"

प्रचुर और अधिक यथासम्भव सम्मान-पूर्वक विदा हुए।

यशोधरा ने यह समाचार जानकर भी अपना रहन-सहन परिवर्तित नहीं किया। उसने कहा—"यदि मेरे स्वामी राजभवन में लौटकर फिर सांसारिकता ग्रहण करें, तो मुझे भी स्वीकार है, नहीं तो अब मुझे यह जीवन अभ्यस्त हो गया है।"

राजगृह में अजात और देवदत्त की मित्रता में और भी घनिष्ठता आ गई। उनके कुचक्र बहुत बढ़ गए थे। उनके आचरण के विरुद्ध बातें महाराज के कानों तक जाकर आतीं। वह किसी प्रकार भी युवराज का सुधार करने में समर्थ न हो सके; वे दोनों निर्भय होकर जो मन में आता करते। महाराज के लिये कोई आदर जगत् की कोई क्षमा, भगवान् का कोई भय रह न गया था उनके हृदय में।

अजातशत्रु से एक दिन किसी बात में असंतुष्ट होकर देवदत्त ने कहा—'भाई अजात, अब मेरा मन नहीं लगता तुम्हारे राजगृह में।"

"क्यों? क्यों?' विस्मित होकर अजात ने पूछा।

'नहीं जानता कारण।' असंतोष को बड़ी चतुराई से छिपाकर देवदत्त ने कहा।

"क्या अज्ञान में कोई अपराध हो गया मुझसे?"

"नहीं।"

"राज्य के किसी कर्मचारी ने अवज्ञा की तुम्हारी?"

'नहीं।'

"महाराज ने कुछ कहा?"

देवदत्त चुप रह गया।

"तुम्हारी मित्रता को मैं पिता के प्रेम से बढ़कर समझता हूँ।'

"नहीं-नहीं उन्होंने कुछ नहीं कहा। अब वह कुछ भी नहीं कहते मुझसे। ऐसे ही मेरे मन में भोगों के प्रति विराग उत्पन्न हो गया।"

"तुमने सिद्धार्थ की तपस्या के समाचार सुने हैं। लोग जब किसी की प्रशंसा करने लगते हैं, तो ऐसी ही बढ़ा देते हैं। क्या तुम्हारा मन भी भिक्षु बन जाने की इच्छा रखता है?"

"हाँ।'

"सिद्धार्थ तुम्हारा प्राचीन प्रतिद्वंद्वी है।'

'यह अनुमान तुम्हारा ठीक ही है।"

"आम्रपाली हमें धोखा देकर चली गई! क्या उसकी यह स्वार्थपरता तुम्हें खटक गई है? श्रावस्ती का वह भेदी है क्या वस्तु! क्या हुआ यदि हमारा उस राज्य पर चढ़ाई करने का कोई प्रत्यक्ष कारण है नहीं तो। हम बना लेंगे कोई। मगध के युवराज की प्रेम-पात्री को श्रावस्ती का एक तुच्छ राजकुमार अपने बन्धन में रखे हुए है। यह अवसर है देवदत्त, क्या, उस पर चढ़ाई कर दें। प्रकट कारण न देंगे, केवल भूमि-जय की आकांक्षा। क्या यह क्षत्रिय के गौरव की वस्तु नहीं है? महाराज सहमत न होंगे, न हों।" अजातशत्रु ने कहा।

बड़े वैराग्य की उपेक्षा से हँसा देवदत्त।

सच-सच अपने हृदय की बात कहो मित्र ! मुझे स्मरण है, एक दिन तुमने मुझसे कहा था, अपने इस चिर विधुर जीवन का कारण—

'तुमने क्या उसे मेरी विवशता समझ रखा है ?' कुछ रूखी दृष्टि से देवदत्त ने पूछा।

'नहीं तो।'

फिर ? क्या कारण बताया था मैंने ?

आम्रपाली को ही तुमने कारण बताया था एकबार।"

'मुझे स्मरण नहीं।

मैं भूलता नहीं।"

'कह दिया होगा किसी दिन आसव की मादकता में।" देवदत्त बोला।

हँसने लगा अजातशत्रु—"एक समय तो तुमने अपने हृदय का प्रेम दिया था उसे ?

"दिया होगा। क्या एक समय वह मगध के युवराज को भी नहीं नचाने लगी थी अपने संकेतों पर ?'

"नहीं मित्र, अजातशत्रु के खेल की पुतलियाँ हैं वे, हृदय विनिमय के हेतु नहीं। जगत् का अनुभव लेने के लिये। लूटना सीखने के लिये। तुम कहते नहीं हो क्या ? शासक को लूटना चाहिए। अजातशत्रु ने कहा ।

"मेरी दार्शनिकता कुछ भिन्न है इस संबंध में। मैं सिद्धार्थ की भाँति इस जगत् से उस प्रकार भाग जाने को कायरता समझता हूँ। कामुकता क्या केवल विलास-भवनों ही में है ? क्या उसका उद्गम स्रोत मनुष्य का मन नहीं है। उससे तो छूट नहीं सकता कपिलवस्तु का युवराज।'

'दूतगण तो सर्वथा भिन्न समाचार लाते हैं राजसभा में। इधर कुछ मास से किसी का आगमन सुना या देखा नहीं। पिछले

भिक्षुओं को यही समाचार था कि सिद्धार्थ केवल वायु और जल का-
पीकर ही ध्यान में अवस्थित हैं।"

"एक असम्भव बात अजात! ऐसा भी कहीं हो सकता है। उसके चेले छुप-छिपकर उसके भोजन और शयन बना देते होंगे और गुरु की महिमा बढ़ा देते होंगे। गुरु की महिमा पर ही तो चेलों का भी आदर-सत्कार अवलम्बित है।"

"भगवान् जानें।"

हम भी जान सकते हैं मित्र। यह एक स्पष्ट सत्य है। वासना से हम जितना ही खिंचेंगे, वह समय पाकर उतना ही हमें खींच लेती है। मन को जितनी दूर हम भोगों से ले जायेंगे, उतना ही अस्थिर हो सकता है। स्त्री-पुत्र माता-पिता, सुख-भोग राज-काज त्यागकर क्या उस वन में सिद्धार्थ को उनकी स्मृति मिट गई होगी। कभी नहीं। अस्थिर मन क्या ध्यानस्थ हो सकता है! जब तक शरीर है, तब तक मन है और है इन्द्रियों का व्यापार। मन से इन्द्रिय-सुख की कल्पना से अच्छा है शरीर से इन्द्रियों का सुख-भोग।"

"तो क्या अप्सराओं को साथ ले जाकर तुम तपस्या करना चाहते हो?"

"तुम इसे परिहास में उड़ा रहे हो, पर देवदत्त का मन विश्वास से भर चुका है।"

"नहीं मित्र, अभी नहीं।" अजातशत्रु ने देवदत्त का हाथ पकड़ लिया। अभी आम्रपाली में हमारे मन को खींचने की पर्याप्त शक्ति है। आगामी वासन्तोत्सव तक न जाने पर ही उसे कोई दोष दिया जा सकेगा तब तक के लिए मित्र तुम अपने इस वैराग्य और तपस्या के संकल्प को स्थगित ही रखो। आम्रपाली को जाने भी दो। क्या उसके अनुरूप और सुंदरियाँ नहीं हैं राजगृह में।"

कौण्डिन्य बुद्ध का सर्वप्रथम शिष्य हुआ। इसके अनन्तर शेष चारों ब्रह्मचारियों ने भी उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। इस प्रकार बुद्ध और उनके पाँच शिष्यों ने मिलकर उस संघ का निर्माण किया, जिसने प्रसारित होकर सारे जगत् को ढक लिया।

वर्षा-काल आ पहुँचा। भगवान् बुद्ध ने मृगदाव में ही प्रथम वर्षा-काल बिताना निश्चय किया। उनकी ज्ञान-प्राप्ति का समाचार चारों ओर फैल गया। लोग उनके परम दिव्य रूप के दर्शन करने और अमृत उपदेश-वाणी सुनने के लिये आने लगे।

वाराणसी में यश-नामक एक श्री-संपन्न सेठी का पुत्र था। अनंत सुख और वैभव के बीच में पला हुआ था वह। एक रात उसे न-जाने क्या हुआ, उसके मन में महान् विरक्ति आ गई। वह अपने समस्त राजसी सुख के बन्धनों को छोड़कर भाग निकला उस तम से भरी हुई रात में। उसके प्राण एक दुर्दमनीय वेदना से व्यथित थे। मृगदाव की शून्यता की ओर ही खिंचता हुआ चला गया वह।

रात्रि के अंधकार को प्रतिध्वनित करते हुए अत्यन्त कातर वाणी से चिल्लाता हुआ जा रहा था वह—"हा दुःख! हा संताप!"

बोधिसत्व ने अपने आसन से किसी को बड़ी मर्म वाणी में पुकारते हुए सुना—"हा दुःख! हा संताप!"

बोधिसत्व ने मन में कहा—'कोई प्राणों के भीतर से बोल रहा है। एक दिन ऐसी ही मेरी भी दशा हुई थी। वह प्रथम आर्त-स्वर इस पर प्रकट हुआ। मैं इसे अपने समीप बुलाकर इसे बोध सत्य भी सुनाऊँगा।" उन्होंने उच्च स्वर में कहा—'हे दुःख और संताप से पीड़ित प्राणी! कौन हो तुम, मैं तुम्हें इनका कारण, निरोध और निरोध के उपाय भी बताऊँगा। आओ, आओ, तुम मेरी सन्निधि में आओ।"

श्रेष्ठी-पुत्र यश ने बुद्ध के निकट जाकर उन्हें प्रणाम किया—"हाँ, आप अवश्य ही मेरा संताप हर लेंगे, मैं आपकी शरण हूँ। आपके चरण न-जाने कितनी दूर से मुझे खींचते हुए चले आए हैं। मैं वाराणसी के प्रख्यात श्रेष्ठी का पुत्र यश हूँ। मैं संसार के संताप से क्लान्त हो उठा हूँ।"

"तुम्हें शांति मिलेगी यश! संसार के दुःखों का बोध होना ही इस मार्ग में पहला है। स्वभावतः तुम्हारा मन दुःख के कारण को ढूँढेगा, उसके निरोध के लिये व्याकुल होगा और निरोध का उपाय मिल जायगा। मैं भी एक दिन इस संसार-व्यापी दुःख से विकल हुआ था। मैंने इससे छूटने के उपाय ढूँढे। मुझे मिले। मैं मुक्त हूँ और मैं अब समस्त जगत् के बंधन खोल दूँगा।"

"मैंने स्वप्न में जिस भव्य मूर्ति को देखा था, वही हैं आप। उसी ने मुझे यहाँ बुलाया। मैंने राशि का मद छोड़ दिया, मैंने गृहस्थ का मोह त्याग दिया। मैं आपके ज्ञान का आप पर विश्वास लाया हूँ। आप मुझे शांति देंगे।"

"हाँ मैं सम्यक् संबोधि-पद प्राप्त हूँ।"

"मैं परम शांति-आगार, ज्ञान के सागर, श्री बुद्ध को प्रणाम करता हूँ। मुझे ज्ञान दीजिए।"

बोधिसत्व ने यश में आर्य-अष्टांगों की व्यावहारिकता उपजा दी। यश ने प्रव्रजित होकर संघ की संख्या में सातवाँ अंक पूरा किया।

ऋषिपत्तन में दूर-दूर से तथागत के दर्शनों के लिये लोग आने लगे। वर्षा-वास के तीन महीनों में बुद्ध के यहाँ साठ शिष्य हो गए।

यश के माता-पिता उसे खोजते हुए वहाँ आए। पुत्र को पीत चीवर धारण किए, केश मुँडाए, भिक्षा-पात्र लिए देखा, तो अचेत-से हो गए। अमिताभ पर दृष्टि पड़ी, तो चकित-से रह गए।

बुद्ध के अमृत उपदेशों से वे भी प्रभावित हो गए। उन्होंने भी दीक्षा ली। रागी भिक्षु से विरागी गृहस्थ को अमिताभ श्रेष्ठ समझते थे। यश के माता-पिता यश को फिर गृहस्थाश्रम में न खींच सके, स्वयं खिंच गए।

वर्षा के अंत में एक दिन बुद्ध ने अपने शिष्यों को एकत्रित कर कहा—"हे भिक्षुगण! तुमने जिस सत्य को पाया है, उसमें तुम्हारी चिर-प्रतिष्ठा हो, उसके हेतु बिना किसी क्षोभ और आशा के तुम्हें यह धर्म-संदेश जगत् के सारे प्राणियों के द्वार-द्वार सुनाना है कि धर्मचक्र अविकल वेग से प्रवर्तित रहे।"

साठों शिष्यों को विभिन्न दिशाओं में भेजकर बुद्धदेव फिर उरुवेला को प्रस्थित हुए। मार्ग में कापासीय वन में उन्हें तीस धनी-संपन्न घरों के युवक मिले, जो अपनी वनिता के साथ उस वन में किसी को खोज रहे थे।

"तुम्हारा क्या खो गया?" बुद्ध ने पूछा।

"तुमने किसी सुंदरी वेश्या को भी देखा मार्ग में?" उन्होंने पूछा।

"हाँ देखा है।" बुद्ध ने कहा।

"कहाँ पर? वह हमें आसव की अचेतना में कर हमारा सब कुछ लूटकर चल दी है। कितनी दूर पर है वह?" एक ने कहा।

"कहाँ वन में भटक रहे हो? यहीं पर तो है वह।"

"कहाँ?"

"यहीं तुम्हारे मन में।"

"कैसे?"

"तुम्हारी तृष्णा वह किस वेश्या से कम है। उसने तुम्हें मिथ्या में सत्य का आभास देकर क्या अचेत नहीं कर रखा है। वह तुम्हारा रूप, रंग, स्वास्थ्य यौवन आयु सब कुछ लूटकर चली

जा रही है। इस घोर आभूषणों के लिये इतने विकल हो गए हो तुम। जीवन के हेतु नहीं!"

तीनों धनिक-पुत्रों के मन में बुद्ध की वाणी गड़ गई। उन्होंने उन्हें पात्र समझकर उन्हें चारों आर्य-सत्यों की देशना दी। प्रव्रज्या देकर बुद्ध ने उन्हें भी तीस दिशाओं में सत्य के प्रचार के लिये भेज दिया।

उरुवेला में काश्यप-नामक एक तपस्वी रहता था। वह अपनी विद्वत्ता के लिये समस्त आर्यावर्त में प्रसिद्ध था। वे तीन भाई थे और उसके अगणित शिष्य थे। बुद्ध ने काश्यप को अपने तेज तप और ज्ञान से प्रभावित किया।

काश्यप अग्नि का उपासक था। बुद्ध ने उन्हें एकत्र कर अग्नि का उपदेश दिया—"सर्वत्र सर्वदा अग्नि प्रज्वलित हो रही है। नेत्र, कर्ण आदि समस्त इंद्रियाँ जल रही हैं। उनके सुख-भोग भस्मीभूत हो रहे हैं। वे काम के दावानल से जल रहे हैं। आप की ज्वाला से अज्ञान की अग्नि से, घृणा के ताप से सब जल रहे हैं। ये अविराम जन्म से जलते ही रहेंगे जन्म और मरण के बीच में जरा, वेदना, संताप और निराशा के बीच में। केवल वह विमल चार आर्य-सत्यों का दरवाजा है, जो धर्म के अष्टांग मार्ग पर चला है, उसे फिर इंद्रियों और कामना में मुक्त नहीं दिखाई देगा उसकी तृष्णा का अंत हो जायगा और वह निर्वाण-पद का अधिकारी होगा।

बुद्ध ने उन्हें आर्य-सत्य और अष्टांग-मार्ग की शिक्षा दी। काश्यप ने अपने भाइयों और शिष्यों के साथ भगवान् बुद्ध से उनके धर्म में और उनके संघ में शरण ली।

काश्यप के समान प्रसिद्ध मनुष्य ने जब बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार किया, तो उनकी कीर्ति बड़े वेग से विस्तारित हो गई।

काश्यप के साथ अगणित भिक्षुओं को साथ लेकर बोधिसत्व ने राजगृह की ओर प्रस्थान किया। नगर के बाहर ही उन्होंने यष्टिवन में अवस्थिति की।

जब यह समाचार नगर में पहुँचा, तो नर-नारियों का समूह बोधिसत्व के दर्शनों के लिये उमड़ पड़ा। महाराज बिंबसार भी तुरंत ही उनकी अभ्यर्थना के लिये राजभवन से निकल पड़े।

उस जनता की भीड़ को बुद्ध ने उपदेश करना आरंभ किया। उन्होंने चार महासत्य और अष्टांग-मार्ग की सुविस्तृत व्याख्या की। उपदेश के अंत में महाराज बिंबिसार उठे और हाथ जोड़कर कहा—"हे अमिताभ! मेरी पाँच इच्छाएँ थीं। मैं महान् सम्राट् होऊँ, बुद्ध मेरे राज्य में पधारें, मैं उनकी अभ्यर्थना करूँ, वह मुझे उपदेश करें और मैं उनकी शरण में जाऊँ। आज मेरी पाँचों इच्छाएँ पूर्ण हुई हैं। मैंने तथागत के उपदेश सुने। आपने अव्यवस्थित को व्यवस्थित किया है, छिपे हुए को प्रकट किया है। आपने पथ-भ्रष्ट को मार्ग दिखाया है, आपने घोर तमसाच्छन्न स्थान में दीपक जलाया है कि नेत्रवाले देख सकें। आपकी जय हो! मैं आपकी शरण हूँ, मैं धर्म की शरण हूँ, मैं संघ की शरण हूँ।"

अमिताभ की अनंत आत्मशक्ति चमक उठी। उन्होंने सारी सभा को अपनी तेजस्विता के वशीभूत कर लिया। सभी ने उनके सत्य को ग्रहण किया।

महाराज बुद्ध को भिक्षा के लिये राजभवन में निमंत्रित कर विदा हो गए।

महान् काश्यप के शिष्यत्व से जो बुद्ध की कीर्ति फैली थी वह सम्राट् बिंबिसार की दीक्षा से और भी द्विगुणित हो गई।

देवदत्त ने जब बुद्ध की ज्ञान-प्राप्ति का समाचार सुना, तो वह द्वेष से जल उठा। बहुत देर तक उसके मुख से कोई वचन ही

नहीं निकला। बड़ी कठिनता से उसने कहा—"तुम परिहास तो नहीं कर रहे हो मित्र !"

अजात ने ही उसे यह समाचार सुनाया था। "हाँ-हाँ, मैं स्वयं ही तो अपने गवाक्ष-द्वार से देखकर आया हूँ। समस्त पुरवासी उसके दर्शन के लिये जा रहे हैं। मानो कोई देवता उतर आया हो धरती पर। नगर से दूर पश्चिम-वन में ठहरे हैं वह।"

'चलें हम भी वहाँ।'

"आवश्यकता क्या है ?"

"ज्ञात आचीरों में जो युवराज बंदी कर दिया गया था, उन आवें, जगत् में आज पर उसके दर्शन और विचारों में कैसा परिवर्तन हुआ है।"

अजात ने देवदत्त का हाथ पकड़ लिया—'नहीं मित्र मैं न जाने दूँगा।"

"ऐसे भयभीत क्यों हो उठे तुम ?'

वैराग्याधिक हो उठा है वह कपिलवस्तु का युवराज को भी उसके साथ जा रहा है सुनता हूँ वह उसके केश काट, चीवर पहनाकर उसके हाथों में भिक्षा-पात्र दे रहा है। इसे भिक्षु बनना नहीं है। इसके साथ-साथ मगध के विशाल साम्राज्य-भाग के जो हम गढ़े हैं वे क्या प्रबंध न करेंगे हम। मैं कहता हूँ यदि सभी भिक्षु हो जायेंगे, तो उन्हें भिक्षा कौन देगा ?"

किसी प्रकार न माना देवदत्त अपनी हठ पर दृढ़ रहा। विषाद का काँटा उसके हृदय में गड़ा हुआ था। आज अचानक उसकी कीर्ति का दसों दिशाओं में चमकता हुआ देखकर वह प्रतिहिंसा से पागल हो उठा। अजातशत्रु की ओर से भी कदाचित् उसके मन में कोई गाँठ पड़ गई थी। क्योंकि युवराज की इच्छा के विरुद्ध उसने कभी अपने मन को ऐसी स्वतंत्रता नहीं दी थी।

देवदत्त ने वहि-वन में पहुँचकर देखा नर-नारियों के समूह-के-समूह एकत्रित हैं। उपदेश उस समय समाप्त हो चुका था। महाराज बिंबिसार बुद्ध को प्रणाम कर विदा हो रहे थे।

देवदत्त ने मन में सोचा—"हैं, यह क्या इतना प्रतापी मगधराज एक साधारण राज्य के युवराज की ऐसी भक्ति में बँध गया। देवदत्त को यह किस शंकित हृदय से देखता है।"

बिंबिसार विदा हुए। देवदत्त भीड़ को चीरता हुआ बुद्ध के निकट जाने लगा। ज्यों-ज्यों उससे उसकी दूरी कम होती गई, उसकी भावना त्यों-त्यों बदलती गई।

बिलकुल निकट जाकर उसने देखा परम शांत और दिव्य मूर्ति! वह अपनी सारी प्रतिहिंसा भूल गया। उसने बुद्ध के चरणों में गिरकर कहा—"मैं देवदत्त, आपका बाल-सखा आपको प्रणाम करता हूँ।"

"धर्म में मति हो देवदत्त !"

देवदत्त को अपना जीवन अपूर्ण-सूना दिखाई दिया। उसे अपनी भोग-वृत्ति से घृणा उपजी। वह सोचने लगा—"मैं भी क्यों न चला गया वन में तपस्या के लिये।"

भाई देवदत्त मैंने जो सत्य पाया है, उसकी व्याख्या सुनी तुमने ?"

"नहीं मैं देर में आया।" देवदत्त ने कहा।

"कोई चिंता नहीं। मैं फिर तुम पर उस रहस्य को प्रकट करूँगा, तुम मेरे बहुत प्रिय के सखा हो। इस अमृत में मैं सबसे प्रथम तुम्हारा भाग समझता हूँ।"

पर देवदत्त का मन फिर दूसरी दिशा को खिंच गया था। वह बोला—"मैं फिर आऊँगा। आज मुझे अभी कुछ आवश्यक काम है।" देवदत्त और क्या राजधानी को। (—))

"हाँ युवराज प्रभाव, मैं भावुक हो उठा उन वेळोवेदित भिक्षुओं के मुखों को देखकर। उनकी कामनाओं को मैंने यथास्थान स्थित देखा। गुरु, वस्त्र और वर्णों को सुनकर मैं नहीं समझता उनको कौन-सा संयम प्राप्त हो गया होगा।' देवदत्त ने अजातशत्रु के पास लौटकर कहा।

"देवदत्त मित्र, मैं समझता हूँ योग से अधिक भोग के लिये पुरुषार्थ चाहिए।"

केवल महामुनि काश्यप तथा कुछ और महानुभावों को छोड़कर मैं समझता हूँ, सिद्धार्थ के समस्त शिष्य ऐसे ही हैं, अन्न के दरिद्र, बुद्धि और संपत्ति दोनों में।

मैं समझता हूँ, महाराज बिंबिसार को क्या हुआ। वह उनकी चपेट में आ गए। उन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया है।

"तो क्या वह राजमुकुट मुझे सौंपकर भिक्षा-पात्र हाथ में लेकर उसके साथ चल देंगे?"

"यह मैं नहीं जानता, पर मैंने बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ उन्हें सिद्धार्थ को दंडवत्-प्रणाम करते देखा।"

"यह शुभ समाचार है हमारे लिये, कदाचित् हमें अधिक दिनों तक प्रतीक्षा न करनी पड़ेगी अपनी आकांक्षाओं को लेकर।'

दूसरे दिन संघ के साथ अमिताभ ने भिक्षा के लिये राजगृह में पदार्पण किया। उनके आगमन के समय मार्ग में दोनों ओर अट्टालिकाओं और छतों पर स्त्री-पुरुषों की भीड़ एकत्र हो गई। अमिताभ के यशोगान से सारा नगर भर गया।

नगर में भिक्षा माँगकर अन्त में बुद्ध राजभवन में पहुँचे। अतिथि सत्कार के अनन्तर अत्यंत नम्रता-पूर्वक मगधाधिपति ने कहा—"हे परमश्रेष्ठ तथागत, इस सेवक की एक विनम्र प्रार्थना स्वीकार हो।"

'कहो भी तो।" विहँसकर बुद्ध बोले।

"तुम उन्हें बाल्य काल से जानते हो। हमारा मतभेद हो सकता है, पर नगर के जो बहुसंख्यक नर-नारी उनकी ओर आकृष्ट हुए हैं, यह इस बात की साक्षी है। वह एक महात्मा हैं।" महाराज ने कहा।

"हो सकता है।"

"मैंने उन्हें वेणु-वन में निमंत्रित किया है। परन्तु युवराज नहीं चाहते वहाँ उनकी उपस्थिति, तुम उन्हें समझा सकते हो?"

"प्रयत्न करूँगा।" देवदत्त ने मन में सोचा—'यह तो महाराज स्वयमुपस्थित ही फँसे हैं मेरे जाल में।'

"जाओ तब अभी। युवराज पर यह प्रकट करना नहीं है कि तुम मेरी इच्छा के वाहक हो।"

देवदत्त विदा हुआ। युवराज वेणु-वन के क्रीड़ागार में पहुँच गए थे। देवदत्त ने वहाँ पहुँचकर देखा, वह एक दिन पहले से ही नर्तकियों को जमा करने लग गए थे।

देवदत्त ने कहा—"युवराज! मेरी बात मानोगे?"

"कहो तो सही।"

"मानोगे?"

"मानता तो चला आया हूँ।"

"कल का नृत्योत्सव अनिश्चित काल तक के लिये स्थगित कर दो।"

"कर दूँगा।" अजात ने कुछ सोचकर कहा—"हम परस्पर एक दूसरे की बात मानते चले आए हैं।"

"हाँ युवराज!"

"तुम पर इस भिक्षु का जादू न चलेगा।"

"युवराज—" हठात् चुप हो गया देवदत्त।

"कहो कहो।"

"सिद्धार्थ महात्मा हो गया युवराज !"
"आज ही प्रभात-समय तुम और बात कहते थे। आश्चर्य अज्ञान
से कहा।
"विचार-संघर्ष हो रहा था मेरे मन में। स्वार्थ हमें पतित कर देने-
वाला बड़ा बली शत्रु है। वह मध्य तक नहीं पहुँचने देता हमें।
पर, तुम्हें सिद्धार्थ के लिये यह अपमान घोर दुःख होगा। वह कल
यदि तुम्हें यहाँ भक्तिनों के साथ वेणु-उन्मत्त देखोगे तो वह मगध-
राज के लिये बड़े कलंक की बात होगी।"
"अभी छोड़े देता हूँ उसे कह तो चुका हूँ। तुम भी प्रतिज्ञा
करो कि तुम उस भिक्षु के साथ न चले जाओगे।"
"कल हम साथ-साथ उसके दर्शन करेंगे युवराज, फिर जैसा तुम
कहोगे, उसका पालन करूँगा मैं।"
युवराज ने वेणु-वन का मृत्योत्सव स्थगित कर दिया। उस उस
नवागत भिक्षु और उसके शिष्यवर्ग के लिये ठीक कर दिया उन्होंने।
महाराज ने युवराज को अनेक आशीर्वाद दिए, और देवदत्त की
सराहना की।
बुद्ध शिष्यों के साथ आकर वेणु-वन में रहने लगे। कानों के एक
केन्द्र उनकी शरण में आकर शांति प्राप्त करने लगे।
राजपुर के उपतीष्य और कालिकाग्रामक दो ब्राह्मण-कुमारों ने एक
दिन भिक्षा माँगते हुए बुद्ध के एक शिष्य को देखा। उसके शांत और
दिव्य रूप को देखकर वे चकित हो गए। वे दोनों उसके निकट
गए।
उपतीष्य ने कहा—"हे भिक्षु, तुम्हारा दर्शन बड़ा पवित्रता-जनक
है। हम तुमसे कुछ पूछना चाहते हैं। तुम्हें विलंब तो न
होगा?"
"विलंब कैसा। धर्म-सेवा ही हमारा व्रत है।"

"कौन-सा पंथ है तुम्हारा ?" अजित ने पूछा।

"गुरु कौन है ?" उपतीष्य बोला।

"मैं अमिताभ बोधिसत्व का शिष्य हूँ। मध्यम मार्ग ही मेरा पंथ है।"

"वेणु-वन में जो महात्मा आए हैं क्या वही बोधिसत्व हैं ?"

"हाँ।"

"हमारा मन उनकी ओर खिंच गया है। क्या वह हमें दीक्षा देंगे ?" कोलित बोला।

"क्यों नहीं। वह इसीलिये तो यहाँ आए हैं।"

राजगृह में बुद्ध का प्रभाव दिन-दिन बढ़ता ही गया। अनेक लोग अपना अपना गृह-संसार छोड़ चीवर और भिक्षा-पात्र धारण कर उनके शिष्य हो गए। अनेक गृहस्थ भी उनके उपदेश ग्रहण कर धार्मिक जीवन बिताने लग गए थे।

बड़े-बड़े और कुलीन घरों के श्री-सुख-पालित युवक भोगमय जीवन का त्यागकर, गृह और आच्छादनों का त्यागकर कथा-भिक्षापात्र-मात्र का वस्त्र धारण कर बुद्ध की शरण में चले गए। उन्होंने भिक्षान्न पर जीवित रहना स्वीकार किया, वृक्षों के नीचे निवास का अभ्यास किया; वर्षातप और ग्रीष्म त्यागकर ताप और शीत को अपने तन-शिर पर ले लिया।

उन्होंने गृह परिवार की छोटी-सी परिधि को त्यागकर उससे समस्त संसार को, विभिन्न भाषा और आकृति के मानव को, प्राणी मात्र को अपना मित्र बना लिया। वे प्राणि-मात्र के मंगल के लिये, कल्याण के लिये आकुल हो उठे।

उन्होंने अपने ही मन में अपने शत्रु की प्रतिष्ठा की। वे अपने स्वार्थ को भूल गए। समष्टि की हित-कामना में वे खो गए। वे पाखंड और आडंबर से दूर थे इसी से एक बुद्ध का तेज अब सब

...तिपकों को प्रभावित कर गया, और उस प्रभाव में देश के ओत-प्रोत दुखी-सुखी धनी-धर्मी, राजा प्रजा, नर-नारी अपना मार्ग खोजने लगे।

मानसिक उन्नति भौतिक उन्नति से श्रेष्ठ है। तुच्छ स्वार्थ मानसिक उन्नति का सबसे बड़ा विनाशक है। स्वार्थ त्याग देने से आत्मारूपी हंस के पैरों की बेड़ियाँ खुल जाती हैं, और वह अपने परों को फैलाता हुआ बराबर आकाश में ज्ञान-रूपी सूर्य की ओर बढ़ता हुआ चला जाता है।

ब्राह्मण और चांडाल की समता के लिये एक स्थान बना अभिमान से धनी और निर्धन का समन्वय किया धनी और दु को शांति दी। उस समय समता और शांति के दूत की अमृतवाणी उदात्त स्वर में प्रसारित हो उठी आर्यावर्त में।

"इस राजकुमार के सुख-वैभव पर जो रूप और रंग लिपटा हुआ है, उसे मैं निर्लिप्त मन और बलिष्ठ ओजस का एक बहूँगा। इसमें दैविकता क्या हुई। स्त्री-पुत्र का उत्तरदायित्व सिर से उतारकर फेंक दिया इसने। माता-पिता का वात्सल्य-भार ठुकरा दिया राज्य के मित्र-शत्रु की चिन्ता छोड़ दी इसने। खाने के लिये स्निग्ध स्वादु भोजन छप्पनों राजभवन और राजगुरु से आहरण कर ले जाते हैं, और इसके सर्वश्रेष्ठ वंश को गुरु के ऊपर की आहुति बनाते हैं। वह जो कुछ सत्य और ज्ञान की विवेचना करता है वह कोई भी लिये इसे मानव पर सिद्ध होने का दावा।' धन्यवाद वे बुद्ध के प्रथम दर्शन का चीखते हुए कहा।

देवदत्त बाबा—"राजगुरु कहते थे, सिद्धार्थ ने जिस मार्ग को मध्यमा प्रतिपदा का नाम दिया है, वह कोई नवीन मार्ग नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण की गीता में वह मार्ग मध्यम मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है, यही समत्व योग के नाम से अभिहित है।"

"मेरे ऊपर तो भाई, कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा इस भिक्षु का। वह ब्राह्मणों और श्रीमानों का द्वेष फैलाता हुआ दीखता है मुझे। इसने शूद्रों और दरिद्रों का साहस बढ़ाया है। इसने उनके प्रति समवेदना दिखाई है कि इसका दल बने, और इसकी शक्ति का प्रसार हो।

"घर-घर इसने भ्रष्टाचार फैला दिया है। इसने वैदिकता की जड़ में कुठाराघात किया है। महाराज ने इसका शिष्यत्व ग्रहण किया है, इससे शान्त हुए हैं नहीं तो कभी का धर्म-विप्लव हो जाता। और इसे अपने शिष्यों-सहित प्राण बचाकर भाग जाना पड़ता।"

गौतम बुद्ध के वेणु-वन में निवास के एक सप्ताह पश्चात् नर्तकी चंद्ररेखा के मन में भी अचानक वैराग्य उदित हो गया। उसने अपनी समस्त धन-संपत्ति दीन-दुखियों को वितरित कर दी, आभूषण-अलंकार बाँट दिए, गृह और साज-सज्जा लुटा दी भूमि और गृह वाटिका भी दे दी। उसने अपना गुच्छ-गुंफी, कुंचित, केशराशि-विहीन मस्तक अमिताभ के चरणों में विनत कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

उसी दिन युवराज अजातशत्रु पर देवदत्त की वह रहस्यमयी प्रेम कथा प्रकट हुई जिसे बड़े कौशल से देवदत्त ने अब तक छिपा रखा था।

देवदत्त ने चंद्ररेखा को भिक्षुणी हो जाने से रोकने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। प्रत्येक प्रकार के भय प्रलोभन दिखाए, सब निष्फल हुए।

देवदत्त ने अजातशत्रु से विदा माँगी—"तुमसे विदा लेने को आया हूँ।"

"कहाँ जाओगे?"

"जहाँ चंद्ररेखा गई है।"

"चंद्ररेखा इतनी प्रिय थी तुम्हें, आज तक तुमने यह प्रकट नहीं किया था कभी।"

"उत्कट प्रेम छिपकर ही रहता है। उसे छिपाने को कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता।"

'क्या सच ही तुम्हारे मन में संसार के प्रति विरक्ति हुई है?"

"नहीं, आसक्ति और भी बढ़ी है। तुमसे अब कुछ न छिप सकेगा। जिसको साम-गाथा, नृत्य और गीतों के मध्य में प्यार किया है, उसे, उस निरामरण, उस गन्ध-विहीना को भी मैं प्यार करूँगा। वैवाहिक रहस्य नहीं कर सकता, इसी से भिक्षु होने जा रहा हूँ।"

"इतनी कामना का भार लेकर क्या तुम गौतम का आश्रम कलंकित न कर डालोगे?"

"मैं नहीं समझता, वह कलंकित होगा। तुम ऐसा कहकर मेरे मन को दुर्बल न करो। मेरे हृदय का प्रेम घोर आकर प्रतिहिंसा में बदल गया है। तुम उसमें नहीं मिले। कदाचित् मैं राजगृह के मंगल के लिये पग बढ़ा रहा हूँ, देख नहीं रहे हो तुम कुछ ही दिनों में क्या हो गया। कोई पति कोई पिता, कोई पुत्र के लिये चिल्ला रहा है। और, इन सबका इसने, इस गौतम ने पीत चीवर में बन्द किया है। इसी ने चंद्ररेखा को बहकाया है। यह ऐन्द्रजालिक है अजात! तुम न जाना कभी इसकी सन्निधि में। केवल मुझे ही जाने दो। मैं इसके इंद्रजाल में अपनी इच्छा से फँसना चाहता हूँ।"

---

१६ जन्मभूमि में

उपतीष्य और कोलित नास्तिक संजय और कर्मकांड के जंजाल में फंसे हुए थे। वे जब दोनों अमिताभ की शरण में गए, तो उन्हें बड़ा स्पष्ट मार्ग दिखाई दिया। बुद्ध के ज्ञान ने उन्हें नवीन जीवन दे दिया, और उन्होंने अष्टांग मार्ग की सम्यक् भावना और लोक-सेवा-व्रत को अपने जीवन का ध्येय बनाया।

ये दोनों असाधारण प्रतिभा-संपन्न थे। बुद्ध के बताए मार्ग में और भी उनकी बौद्धिक उन्नति हो गई। उपतीष्य का नाम सारिपुत्र और कोलित का मौद्गलायन प्रसिद्ध हुआ।

देवदत्त ने बुद्ध के निकट जाकर कहा—"हे अमिताभ मैं भी तुम्हारी शरण हूं।"

"तुम्हें बहुत पहले आ जाना चाहिए था मित्र! तुम आकर भी चले गए। फिर भी तो कोई चिंता की बात नहीं है। धर्म की शरण दिन-रात ही खुले-द्वार रहती है। तुम्हारी धर्म में मति हो। तुम्हें मन, वचन और कर्म की सम्यकता प्राप्त हो।"

देवदत्त वेणु-वन में बुद्ध का प्रभाव देखकर विमोहित हो गया। उसने उनके महान् प्रजापालिका की भीड़ देखकर मन में सोचा—"इनकी प्रभुता किस सम्राट् से कम है! यह दिन-दिन बढ़ती ही जा रही है। सम्राट् बहुत अल्प मात्रा में प्रजा-प्रियता प्राप्त करता है। इन्हें धनी-निर्धन, बली-निर्बल से जो समान श्रद्धा और सम्मान मिला है, वह स्पृहणीय है। यदि इनके शिष्यों में प्रधानता मिल जाती तो देवदत्त इनके ही समान आर्यावर्त में चमक उठता।"

देवदत्त अपने महान् प्रतिद्वंद्वी के निकट विनत हुआ। उसने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। बुद्ध ने उसे चार आर्य-सत्यों का बोध देकर कहा—"हे बोधि-मार्ग के पथिक! अपने को पहचानो। तुम्हारे भीतर वह चिनगारी सन्निहित है जो आकाशचुंबी शिखाओं में सुलग सकती है जिसमें तुम्हारा समस्त दुःख-शोक भस्मीभूत हो जायगा।

देवदत्त के मन में चन्द्ररेखा की स्मृति उभर उठी। वह उसी आश्रम में दूर एक कुटी बनाकर मन को निर्वापित कर रही थी। देवदत्त ने उस ओर दृष्टि की।

बुद्ध ने उस प्राचीन प्रतिद्वंद्वी और नवीन शिष्य की चंचलता को भले प्रकार लक्ष्य किया।

देवदत्त मन में सोचने लगा—"क्या यह वारांगना सचमुच वीतरागिनी होकर सत्य को खोजने आई है। समस्त ऐश्वर्य और भोगों का पद ठुकराकर जो आई है। मैं भी सत्य की खोज करूँगा। मैं भी जगत् के भोगों को तिलांजलि दे दूँगा।"

भगवान् बोधिसत्व कह रहे थे—"आँख हमारी इंद्रियों में सबसे चतुर और शक्तिशाली है। यह अपनी सरलता से हमारे मन को बहका देती है। सबसे पहले दृष्टि की सजगता साधनी होगी। जो रूप दिखाई दे रहा है यह सब भ्रम है क्षणिक है छाया है। यही कल्पना मन में दृढ़ करनी होगी। अभी कुछ दिन तुम किसी वृक्ष के नीचे आसन लगाकर इसी विचार में विश्राम करो। रूप की सत्यता तुम्हें बार बार अपनी ओर खींचेगी। सावधान रहना उस समय, वह बड़ी मार है।"

देवदत्त एक कुटी बनाकर दृष्टि-शुद्धि करने लगा। उसकी कुटी, दैव-संयोग हो या देवदत्त की अभिसंधि, भिक्षुणी चंद्ररेखा की कुटी के निकट ही बनी। दोनों एक दूसरे को देख सकते थे।

देवदत्त को चल-फिरकर भी दृष्टि-शोधन की आज्ञा थी, पर चंद्ररेखा दिन-भर एक वृक्ष के नीचे ध्यान-मग्न दिखाई देती थी। उसे किसी भिक्षु के संपर्क में आने और संभाषण करने का कठिन निषेध था।

देवदत्त ने उसे दूर से निहारा, उसे एक अद्भुत कांति से भरा देखा, वह मन में सोचने लगा—"केवल एक छाया है।"

मार उसके सामने आकर पराजित हो गया उस पहले दिन।

दूसरे दिन देवदत्त चंद्ररेखा के अटूट ध्यान को देखकर चकित हो गया। आँखों की पलकें मानो भीतर से [illegible] कर दी गई थीं। देवदत्त चंद्ररेखा की आत्मसंयमिता को छूने में हतचित्त हो गया। पर उसके मन-संयम को देखकर लज्जित हो गया!

सप्त निशीथ-प्रहर में देवदत्त ने विवेक के प्राचीर का उल्लंघन किया—"सब कुछ जो दिखाई दे रहा है, एक छाया-मात्र है।" उसने अपने मन में कहा। वह चंद्ररेखा की कुटी के द्वार पर गया।

"चंद्ररेखा! चंद्ररेखा!" उसने धीरे-धीरे द्वार पर जाकर पुकारा।

"कौन?"

"मैं हूँ देवदत्त!"

चंद्ररेखा देवदत्त की उस पैशाचिक मनःस्थिति को नहीं जानती थी बोली—"देवदत्त, मैं तुम्हारा कल्याण तुम्हारे लिये ही सोच रही हूँ। फिर तुम क्यों आए हो मुझे बाधा पहुँचाने?"

"यह भिक्षु देवदत्त है। अमिताभ बोधिसत्व के निकट प्रव्रज्या के लिये कटिबद्ध।"

"तब तो बड़े विचार की बात है। तुम बोधिसत्व का अनुशासन भंग कर क्या उनके प्रति अविश्वास नहीं बढ़ा रहे हो? क्या तुम्हें

ज्ञात नहीं, किसी भिक्षु का किसी भी दशा में इस कुटीर पर आने की आज्ञा नहीं है।'

"है।"

"फिर?"

'किसी हरिण-युग्म की कामना से नहीं आया हूँ मैं चंद्ररेखा! कुछ पूछना चाहता हूँ तुमसे।'

"नहीं लौट जाओ। मैं तुम्हारे किसी प्रश्न का उत्तर न दूँगी। यदि तुमने हठ की, तो मैं अभी उच्च स्वर से पुकार-पुकारकर समस्त ग्रामवासियों को जगा देती हूँ।

"चंद्ररेखा!" बड़े दयनीय स्वर में कहा देवदत्त ने।

"बस चुप रहो। दूसरा शब्द नहीं। नारी को अपने वाग्जाल और झूठे वचनों से पथ-भ्रष्ट करनेवाले! तू बुद्ध की शरण में आकर भी क्यों नहीं भद्र बन रह सका!

अचानक देवदत्त ने अपनी कुटी की ओर किसी की पुकार सुनी—"देवदत्त!"

वह दौड़कर वहाँ पहुँच गया। देखा सामने बुद्ध खड़े होकर उसे पुकार रहे हैं—"देवदत्त! तुम कहाँ चले गए थे?"

"कुछ निकट जाकर रात के आभा-दर्शन को गुरुदेव! मुझे चलने-फिरने की आज्ञा दी गई है।"

अमिताभ हँसे— दूरी और नैकट्य इन दोनों को भी भ्रम ही समझना होगा।"

'यही समझूँगा गुरुदेव!"

अनासक्त होकर फिर कभी देखा भी नहीं देवदत्त ने चंद्ररेखा की दिशा में। आकिंचन होकर वह अपने संयम में दृढ़ हुआ। और एक दिन बुद्ध के निकट जाकर उसने निवेदन किया— 'मैंने दृष्टि की सम्यक्ता प्राप्त की है।"

"मैंने पार्थिव जगत् का मोह छोड़ दिया। मैं इस हाड़-मांस के पिंजरे की भी चिंता न करूँगी।" निर्भय होकर चंद्ररेखा बोली।

"सत्य है यह ?"

"हाँ, हाँ।'

'अच्छी बात है।' कहकर देवदत्त वेणु-वन को छोड़ नगर को चला।

मार्ग में जब वह एक धर्मशाला से होकर जा रहा था तो एक महिला ने उसे देखकर कहा—"आज न-जाने किस गृह के ऊपर विपत्ति आवेगी। कौन माता-पिता पुत्र-हीन होंगे। किस पत्नी का पति उससे छिन जायगा, किस पुत्र का पिता उसे छोड़कर उसे अनाथ और निराश्रय बना जायगा।'

देवदत्त ने रुककर कहा—"नहीं अम्बा माँ! तुम्हें भ्रांति हुई है। मुझे चीवरधारी समझकर ही तुम ऐसा कह रही हो। मैं भिक्षु नहीं हूँ। इन बौद्ध भिक्षुओं का सर्वनाश मूर्त होकर मुझमें प्रकट है। मैं इनकी समाप्ति पर ही अब विश्राम लूँगा। अब राजगृह की प्रजा में से कोई भी इस पीले प्रपंच में न फँसेगा।"

देवदत्त नंगे सिर-पैर प्रायः विक्षिप्त राजगृह के मार्गों में दौड़ने लगा। वह चिल्लाता जा रहा था—'बुद्ध और उसके संघ को गालियाँ दे रहा था—"हे राजगृह के निवासी धनी और निर्धनो! क्या हो गया तुम्हें? तुम सचेत होओ। यह जो अपने को सम्यक्दर्शी कह रहा है, वह तुम्हारे गृह के सुख को राहु बनकर ग्रसने जाता है। वह तुम्हारे विचार, धर्म, परंपरा, संस्कृति, सभ्यता सबको कलंकित कर रहा है। इसने तुम्हारा रहन-सहन पूजा-पद्धति देवी-देवता मंत्र-संबंध, सबको ध्वस्त कर दिया है। इससे सावधान होओ। यह वेदों को नहीं मानता, इसने भगवान् का अस्तित्व मिटाया है, इसने शून्यवाद का प्रचार किया है। यह पिता से पुत्रों को बिछुड़ा कर

अनाचारों को बढ़ा रहा है। यह पतियों को पत्नियों से छीनकर दुराचार बढ़ा रहा है। यह तुम्हारे पुत्रों के द्वार सदा के लिये बंद कर राजनगरी को श्मशान बना देगा। इससे बचो, इससे बचो! इसका वैराग्य दुराग्रह, इसकी तपस्या पाखंड, इसका धर्म अनाचार और इसका संघ वेषधारी तस्करों का दल है।"

अनेक लोगों ने देवदत्त का तर्क सुनकर उसकी हाँ में हाँ मिलाई। उसे सराहा। देवदत्त ने दूने उत्साह से बोधिसत्व और उनके संघ के विरुद्ध विष-वमन किया।

सारी राजधानी में बुद्ध के विरुद्ध में प्रचार कर देवदत्त युवराज अजातशत्रु के पास गया। अजातशत्रु अपने मित्र का प्रचारवृत्त पाकर बहुत प्रसन्न हुआ, और बुद्ध के विरुद्ध जनमत को उँडेला कर देने के लिये उन्होंने और भी विशाल संगठित प्रयत्न किए।

शीघ्र ही इसका फल प्रकट हुआ। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की प्रव्रज्या के पश्चात् फिर राजगृह का कोई भी मनुष्य बुद्ध की शरण में नहीं गया।

अविलंब में ही शिष्यों ने आकर बोधिसत्व से कहा—'गुरुदेव! भिक्षु देवदत्त ने समस्त राजनगर में हमारे विरुद्ध घृणा की भयानक अग्नि फैलाई है। जनता हमारे सामने हमें गालियाँ देती है हम पर पत्थर बरसाती है, और हमारे ऊपर थूकती है।"

बड़े शांत भाव से बुद्ध ने कहा—'यह तो कुछ भी चिंता की बात नहीं है। तुम मध्यम मार्ग के पथिक हो। तुम्हारे लिये मान और अपमान दोनों समान हैं। प्रजा की घृणा को केवलमात्र वस्तु समझो। उसके प्रत्युत्तर भाव से किंचित भी उत्तेजित होने की आवश्यकता नहीं है। उसकी हिंसा का तथागत का सच्चा शिष्य सदा अहिंसा से जीतता है। जीव-मात्र के प्रति मित्र और शत्रु दोनों के प्रति तुम्हारी प्रेम-भावना सतत जागरूक रहनी चाहिए।

जिस दिन तुम धर्म-मार्ग में अपना ही स्वरूप प्रतिफलित पा लोगे, उस दिन देखना ये सब बादल भाग जायेंगे और तथागत का धर्म सूर्य की तेजस्विता से वसुंधरा पर चमकने लगेगा। दुराचारियों से प्रेम करो, गालियों का उत्तर आशीर्वाद से दो, अपमान का बदला मान से चुकाओ, और शत्रु में मित्र का दर्शन करो तभी तुम आठों अंगों की सम्पन्नता प्राप्त करोगे। तभी तुम मार्ग के मध्य में प्रतिष्ठित हो सकोगे।'

महाराज शुद्धोदन ने भारी मन और दुःख भरे मन से एक-एक वर्ष में एक-एक युग का अनुभव कर ६ वर्ष बिताए—अपने एकमात्र पुत्र के लौट आने के विचार और आशा में। उन्होंने सिद्धार्थ की ज्ञान-प्राप्ति का समाचार सुना। वह उसके शीघ्र ही लौट आने की प्रतीक्षा करने लगे दिन ही।

प्रासाद की प्राचीर और बुर्जों पर पक्षी बोलते वह पुत्र के लौट आने का संवाद सुनते। उनका दक्षिण अंग फड़कता, वह उसे सिद्धार्थ-मिलन का शुभ शकुन समझते। वे अतीत के वर्ष इतनी कठिनता से नहीं शेष हुए, जितनी बेचैनी से ये वर्तमान के दिन व्यस्त हो रहे थे।

प्रतीक्षा मर्यादातीत हो उठी। उन्होंने सिद्धार्थ के निकट दूत भेजकर उन्हें घर और उनकी की गई प्रतिज्ञा की स्मृति कराई। दूत बुद्ध के उपदेशामृत का पान कर उन्हीं में रम गया। नहीं लौटा घर और वियोग से क्षीण महाराज शुद्धोदन के पास।

एक के अनन्तर दूसरा, कई संवादवाहक भेज दिए उन्होंने। कोई भी न लौटा। वे सब-के-सब जाकर बुद्ध के शिष्य हो गए। उन्हें जगत् और जगत् के संबंधों के प्रति विराग हो गया। अंत में महाराज स्वयं ही जाने को उद्यत हो गए। वैद्य ने उनकी अवस्था के कारण उन्हें विषम यात्रा करने से रोक दिया। उनके महाराज के आमात्य-

मत दिया। वह स्वयं सिद्धार्थ के पास महाराज का संदेश ले जाने के लिये कटिबद्ध हुआ। छंदक नियत तिथि पर राजगृह की ओर जाने के हेतु विदा ग्रहण की।

राजगृह पहुँचकर छंदक ने बुद्ध का कपिलवस्तु चलने के लिये वचन लिया। दो मास राजगृह में बिताकर तथागत कपिलवस्तु को चले। मार्ग में मल्ल-देश में अवस्थान किया कुछ समय। वहाँ अनेक राजा और प्रजा-वर्ग के लोगों ने बुद्ध के उपदेशों का अनुसरण किया।

११ महीने में अमिताभ कपिलवस्तु पहुँचे अगणित शिष्य-समूह के साथ। पुरी के बाहर ही न्यग्रोध-वन-नामक एक आराम में ठहरे।

नगर में इस समाचार के पहुँचते ही दर्शकों का प्रवाह उमड़ पड़ा। महाराज शुद्धोदन भी आनंद-विह्वल होकर पुत्र की भेंट को चले।

पुत्र को भिक्षु के वेश में देखकर शुद्धोदन की आँखों से अश्रुधारा बह चली। जब उन्होंने असंख्य शिष्य और भक्तों को उनकी अभ्यर्थना में देखा, तो पुलकित हो उठे। उन्होंने कहा—"हे पुत्र! तुम्हें नगर से इतनी दूर ठहरने की क्या आवश्यकता हुई। क्या शाक्यों का राजा तुम्हारे और इस शिष्य-समुदाय का आतिथ्य नहीं कर सकता राजप्रासाद में?"

"हे महाराज! तथागत किसी का पुत्र नहीं है। वह आत्मा है और इसी से मृत्यु के बंधन से भी मुक्त है। वह तथागतों की ही वंश-परंपरा का है। संघ का नगरों से बाहर एकांत में रहने का ही नियम है।"

दूसरे दिन अमिताभ नगर में भिक्षा माँगते हुए राजभवन में पहुँचे। राजभवन की एक-एक वस्तु को देखकर वह गद्गद हो उठे। इस थोड़े-से दुर्गों में जो आत्मा बंदी कर दी गई थी, आज वह

समस्त आर्यावर्त में व्याप्त होकर उसके बाहर भी फैलने लगी थी।

शुद्ध महाराज शुद्धोदन और प्रजावती के निकट गए। यशोधरा को दासी ने यह शुभ समाचार दिया—"युवरानी, जिनके चिंतन में तुम इतने दिनों से बैठी हो वह आ पहुँचे हैं।"

यशोधरा अवाक् और निश्चेष्ट रह गई! मन में सोचने लगी—"वह आ पहुँचे हैं! सात वर्ष के पश्चात् क्या मेरे देवता ने मेरी ओर करुणा की दृष्टि की है।" उनके मन में उत्कट इच्छा का उदय हुआ कि जाकर अपने आँसुओं से उनके चरणों को धो दूँ। वह कुछ समझकर रुक गई।

'कपिलवस्तु के युवराज नंगे पैर, मुंडित मस्तक नगर में भिक्षा माँगते हुए यहाँ आए हैं। समस्त प्रजा उनको देखकर क्षुब्ध हो उठी है। सभी अपने-अपने काम छोड़कर उनके दर्शन करने आए हैं। केवल एक तुम्हीं प्रतिमा की भाँति अचल हो उठी हो।

'हो सकता है।' यशोधरा ने बड़े उदासीन भाव से उत्तर दिया।

'आश्चर्य है।"

'आश्चर्य कौन-सा है इसमें दासी। मैंने अहर्निश एक भाव से युवराज का चिंतन किया है। मुझे उनके पास जाने की आवश्यकता क्या है? यदि मेरे प्रेम में शक्ति होगी, तो वह स्वयं ही मेरे पास आवेंगे।"

दासी ने मुक्त कंठ से यशोधरा के प्रेम की सराहना की।

महाराज शुद्धोदन और महारानी प्रजावती युवराज को भिक्षा माँगते हुए देख शोक से विह्वल हो गए। उन्होंने कहा—"प्रिय पुत्र, तुम उच्चकुल-संभूत हो। तुम्हें द्वार द्वार भिक्षा माँगते देखकर हमें मर्मांतक पीड़ा पहुँचती है। तुम्हें भिक्षा की क्या आवश्यकता है। यह शाक्यों का राज्य संघ-सहित तुम्हारे आतिथ्य में समर्थ है।"

"तथागत जिनका वंशज है वे सब भिक्षान्न से ही पोषित हुए हैं।

फिर तथागत एक ही नगर और एक ही मनुष्य के यहाँ स्थिर नहीं हो सकता। ग्राम-ग्राम नगर-नगर और देश-देश में सत्य के प्रकाश का विस्तारित करना ही उसका काम कर्तव्य है। समग्र विश्व ही मेरी राजधानी है मैं कपिलवस्तु में कुछ पाने के लिये नहीं इसे का आया हूँ। हे पिता! मैंने निरंजना के संगम पर अमूल्य रत्न प्राप्त किए हैं। स्वाभाविक संबंध मुझसे कहता है कि मैं इन रत्नों को पिता के चरणों में भी रखूँ।"

महाराज निरुत्तर रह गए।

अमिताभ बोले—'आयुष्मान् राजा पिता धार्मिक ही पवित्र जीवन के लाभ का प्रयत्न कीजिए। केवल एकमात्र धर्म ही मनुष्य के इह लोक और परलोक दोनों लोकों में निर्मल सुख का निर्माण करता है। धर्म ही शांतिदाता है। अतः जीवन लाभ कीजिए पाप का अनुसरण मृत्यु है।

अमिताभ ने अपने नवीन धर्म की व्याख्या करनी आरम्भ की, राजभवन के हुए मित्र राजकर्मचारी, दास-दासी सब आकर उनके उपदेशों का सुनने लगे।

यशोधरा नहीं आई, केवल यशोधरा ही नहीं आई। अपने गुप्त प्रकोष्ठ में हृदय के स्पन्दनों में प्राणेश्वर की चापों को सुनते हुए अधीर हो रही थी—'क्या वह लौट गए! कहाँ खो हो गई! न आवेंगी? भूल गए हम सेविका को? नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। वह अवश्य ही आवेंगे। अब न जाने दूँगी मैं उन्हें। अपना हृदय स्नेह पाश में बंदिनि कर लूँगी उन्हें। अब इस बार मैं उनके पथ का पीछे रहूँगी अपनी नींद विसर्जित कर।'

उपदेश के अंत में अमिताभ ने चारों ओर देखा। एक दिन जिस माता हुआ छोड़कर वह सत्य के साक्षात्कार के लिये चले गए थे, वही इसे आगे बढ़, नहीं मिली।

अमिताभ ने हँसकर सारिपुत्र और मौद्गल्यायन से कहा—"अभी पुत्र से भिक्षा और माँगनी है मुझे इस राजभवन में, क्षमा की भिक्षा।"

दोनों शिष्यों ने चकित होकर आचार्य को निहारा।

'हाँ चलो मेरे साथ। पर वहाँ यदि कोई भी मेरा स्पर्श करने को बढ़े, तो तुम संघ के नियम की रक्षा करने के लिये, उसके मानसिक आवेग में बाधा न पहुँचाना।

बड़ी धीर और प्रशांत गति से अमिताभ यशोधरा के प्रकोष्ठ की ओर चले। साथ में केवल अपने दोनों प्रधान शिष्यों को ही लिया उन्होंने।

मार्ग में बुद्ध बोले—'तथागत के भौतिक शरीर को बंदी बनानेवाले ये प्राचीर तुमने देखे। आज उसका अधिकांश भूमिसात् है, फिर भी उसकी गणना की जा सकती है। अब मैं तुम्हें वह बंधन दिखाऊँगा जिसने मेरे विचार-शरीर को घेर रक्खा था अपरिमित अवधियों में।

उन्होंने यशोधरा के प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ, मानो वह राजभवन में नहीं, किसी आश्रम की कुटी में प्रवेश कर रहे हैं। साज-सज्जा का नितांत अभाव था, भूमि पर शय्या के लिये तृण-कुश, जल पीने के लिए एक मृत्तिका पात्र, यही उस कक्ष के उपकरण थे। इनके बीच में पत्र-पुष्प-विहीन अवलंब-च्युत लता की भाँति यशोधरा के प्राण, पति के आगम की आशा से धरा पर टिके हुए थे।

पति के आने पर क्या-क्या कहने के लिये बस परित्यक्ता ने सोच रक्खा था, पर उन्हें देखते ही उसके मुख से न कहा जा सके। कंठ अवरुद्ध हो गया! बहुत दिन के बँधे हुए जल-प्रवाह की भाँति सहसा उसका बाँध टूट गया। उसकी समस्त भाव-राशि केवल नेत्रों के ही मार्ग से बहने लगी।

पति को देखते ही यशोधरा उनके चरणों पर गिर पड़ी ! अविरल अश्रुधारा का अर्घ्य देने लगी। मन में विचार रही थी शरीर के शेष रक्त को आँसुओं में बदलकर ही शांति प्राप्त करूँगी।

उसे रोने दिया अमिताभ ने कुछ देर। फिर बोले— 'यशोधरे ! मैं भिक्षा-पात्र लेकर आया हूँ तुम्हारे द्वार पर।"

यशोधरा ने कोई उत्तर नहीं दिया, रोती ही रही।

"केवल तुम्हारा ही अपराध किया है मैंने। भिक्षा में तुम्हारी क्षमा चाहिए मुझे। कहो, तुमने मुझे क्षमा किया।"

"आर्य के किसी व्यवहार में मुझे अपराध की छाया नहीं दिखाई दी।" यशोधरा ने धीरे बोले। उसी समय उसे प्रतीत हुआ मानो जिनके चरणों को वह अश्रुस्नात कर रही थी, न जाने कौन है। उसका ममत्व और मोह छिन्न-भिन्न हो गया। वह समझने लगी समस्त विश्व-संसार का इन पर अधिकार है। केवल अपने तुच्छ स्वार्थ में उन्हें बंदी बना लेना सर्वथा असम्भव है। यशोधरा उनके चरणों को छोड़कर दूर हट गई !

"कल्याणी ! तुम धन्य हो। मुझे जिस सत्य का लाभ हुआ है, तुम उसकी अधिकारिणी हो। समय आने पर वह तुम्हें प्राप्त होगा। कहकर बुद्ध शिष्यों के साथ निष्क्रांत हुए और न्यग्रोध-वन के लिए विदा हो गए।

महाराज शुद्धोदन ने उन्हें विदा करते हुए देखा और समझा, सिद्धार्थ ने एक नवीन और विशाल साम्राज्य का मुकुट पाया है वह कपिलवस्तु के छोटे-से सिंहासन पर नहीं रह सकते। उन्होंने अपने दूसरे पुत्र नंद को गौतमी के राज्य का अधिकारी बनाना निश्चित किया।

राजकुमार राहुल ने रोते हुए यशोधरा के कक्ष में प्रवेश किया और माता की गोद में सिर छिपाकर रोने लगा।

"राहुल ! क्या हो गया तुम्हें ?"

"महारानी कहती हैं, वह जो भिखारी अभी राजभवन में आया था, मेरे पिता हैं।"

"हाँ यह सच है !"

"मैं एक राजकुमार, मेरे पिता भिक्षु ! तुम भी इसे सत्य कह रही हो। मैं समझा था महारानी ने मुझसे परिहास किया।"

"उन्हें साधारण भिक्षु न समझो। सुखी हूँ, वह जहाँ जाते हैं जन उनकी पग-धूलि लेने के लिये उमड़ पड़ते हैं।"

"मेरे लिये क्या लाए हैं वह ? तुम इतने दिनों से कहती चली आ रही थीं कि अत्यंत अमूल्य निधि लायेंगे वह मेरे लिये !"

"भूल गए होंगे।"

"नहीं महाराज ने मुझे उनके समीप रखकर कहा था, यह तुम्हारा पुत्र राहुल है।

"क्या कहा उन्होंने फिर ?"

कुछ भी नहीं। मुझे क्षणभर कुछ पल के लिये गोद में भी नहीं लिया उन्होंने। कुछ बोले भी नहीं मुझसे।"

"अभी वह फिर राजभवन में आयेंगे शीघ्र ही। तब तक तुम्हें धैर्य रखना उचित है राजकुमार। अब तुम बड़े हो गए हो। सात वर्ष के।"

महाराज शुद्धोदन ने राजकुमार नंद के राज्याभिषेक के पूर्व उसका विवाह कर देना निश्चित किया। एक सुगुण-संपन्न राजकुमारी के साथ उसका पाणिग्रहण स्थिर किया गया। ज्योतिषियों ने विशिष्ट लग्न ढूँढ़कर विवाह की तिथि निश्चित की।

विवाह का दिन आ पहुँचा। संघ-सहित निमंत्रित होकर अमिताभ भी राजभवन में पधारे। वह अपने भाई नंद से मिलने के लिये गए।

नंद विवाह और राजतिलक की प्रसन्नता में निमग्न था। अमिताभ को देखकर सिहर उठा।

"नंद!" अमिताभ ने कहा। उनके स्वर में मानो बड़ी तीव्र चेतावनी छिपी थी।

नंद बहुमूल्य अलंकारों और परिष्कारों में सुशोभित हो रहा था। सुंदरी दासियाँ नाना प्रकार से उसका शृंगार कर रही थीं। दासियों के बीच से अलग होकर नंद हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा हो गया—"अमिताभ की जय हो!"

अमिताभ ने विहँसकर कहा—"सब माया है नंद! भौतिक संसर्ग से हम जिस सुख की रचना करते हैं, वह केवल एक कल्पना है, एक भ्रम है। इस तथ्य पर हम विचार करते हुए अनेक बार पहुँचे थे।"

नंद ने अत्यंत आकुल होकर अपने चारों ओर देखा।

अमिताभ कह रहे थे—"हमारे सुख की खोज युक्तियुक्त न थी। इसी से सत्य हमारी आँखों से ओझल था। मैंने उस सत्य को प्राप्त किया है नंद। मैं उसे दूँगा तुम्हें नंद! तुम उसे ग्रहण करोगे?"

दीर्घ श्वास खींचकर नंद ने कहा—"क्यों नहीं?"

"प्रसन्न होकर कहो नंद।"

प्रसन्न होकर ही नंद ने सम्मति प्रकट की।

"बहुत उत्तम। तुमसे ऐसी ही आशा थी। लो, मेरा यह भिक्षा-पात्र लो।"

नंद ने वह भिक्षा पात्र अपने हाथ में ले लिया।

"मैं जाता हूँ, सूर्यास्त के पहले मेरा यह भिक्षा-पात्र मुझे लौटा देना।" तथागत त्वरित गति से निष्क्रांत हो गए।

नंद विचारों के सघन वन में खो गया। राजभवन में उसके विवाह के गीत-वाद्य अपनी चरम सीमा पर थे।

नंद अपने विचारों में डुबकी लगाकर उतराया। उसने आकाश में सूर्य की स्थिति देखी। दासियाँ हाथ बाँधे हुए खड़ी थीं। नंद ने अमिताभ कहाँ हैं यह देखने के लिये एक दासी को भेजा और दीप को विदा कर दिया।

सारथी ने प्रवेश कर सादर निवेदन किया—"वरयात्रा के लिये रथ प्रस्तुत है राजकुमार। सबको आपकी ही प्रतीक्षा है।"

"चलो, मैं अभी आता हूँ।"

दासी ने लौटकर निवेदन किया—"तथागत कहीं भी नहीं हैं राजभवन में। वह अपने आश्रम को लौट गए।"

"अच्छी बात है। जाओ तुम।"

"दासी चली गई।"

एक सेवक ने फिर प्रवेश कर कहा—"राजकुमार, विलंब न करो, कहीं लग्न न टल जाए।

"आता हूँ चलो।"

सेवक चला गया। एक ओर शरमाकर छिपे हुए राजकुमारी थी, दूसरी ओर तथागत की धरोहर—वह रिक्त भिक्षा-पात्र! नंद ने सूर्य की अवस्थिति देखकर कहा मन में—"विलंब नहीं हुआ है।" वह कक्ष से बहिर्गत हो गया।

भिक्षा-पात्र ने विजय पाई। उसे हाथ में लिए हुए वह न्यग्रोधाराम के पथ पर बढ़ता गया। मार्ग में उसने अलंकार खोल खोलकर विसर्जित करता हुआ चला गया वह। बहुमूल्य वस्त्र भी खोलकर फेंकता गया। सूर्यास्त से बहुत पहले ही जाकर पहुँच गया नंद तथागत के निकट।

अमिताभ ने अभय मुद्रा से कहा—"आ गए नंद तुम?"

"हाँ देव।"

ऐसे ही आशा करता था तुमसे। देखता हूँ तुमने सभी वैभव

काट डालते हैं।"

नंद ने भिक्षा-पात्र अमिताभ की ओर बढ़ाया। बोधिसत्व बोले—"इसे सँभालकर नहीं रख सकते?"

"रख सकता हूँ।"

"आजन्म ब्रह्मचर्य पूर्वक।"

"अमिताभ का आशीर्वाद हो, हाँ आजन्म ब्रह्मचर्य-पूर्वक ही।"

"संघ के द्वार तुम्हारे लिये उन्मुक्त हों तुम्हें धर्म की शरण प्राप्त हो। मैं तुम्हें इस रिक्त भिक्षा-पात्र को उन चार रत्नों से भर दूँगा, जिनको मैंने पाया है।"

नंद बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया।

राजभवन में सहसा वर के अंतर्धान हो जाने से बड़ी खलबली मच गई। उनको ढूँढ़ने के लिये राजभवन और राजधानी का कोना-कोना छाना जाने लगा।

संध्या समय महाराज को राजकुमार नंद के संघ प्रवेश का समाचार मिला। वह उन्हें असह्य हो गया। जिस दूसरे पुत्र को वह अपनी वृद्धावस्था का अवलंब समझ रहे थे। दैव ने उसे भी उनसे दूर कर दिया। पर यहीं पर आकर शुद्धोदन का दुःख शेष नहीं हुआ।

शीघ्र ही एक दिन फिर अमिताभ ने राजभवन में पदार्पण किया।

भिक्षा ग्रहण कर जब तथागत न्यग्रोध वन को विदा होने लगे, तब राहुल ने यशोधरा के पास जाकर कहा—"मां यह तो मेरे लिये कुछ भी नहीं लाए हैं।"

"तुमने याचना की?"

"नहीं।"

"तो जाओ, कहो उनसे मैं तुम्हारा पुत्र राहुल हूँ मुझे मेरी पैतृक संपत्ति दो।"

राहुल दौड़ता हुआ चला गया। मार्ग में उनका चीवर पकड़ लिया उसने।

"कौन ?" अमिताभ ने मुड़कर देखा।

"पिता, मैं हूँ आपका पुत्र राहुल।"

"राहुल तुम भाग्यवान हो जहाँ तुम्हारा पिता यहाँ भावीरों के सम्पर्क में पड़ी था। क्या चाहते हो ?"

"पिता, मुझे मेरी पैतृक सम्पत्ति दो।"

"पैतृक संपत्ति ? तुम अभी बालक हो घर को लौट जाओ, अकेले हो।"

"नहीं, मुझे कोई भय नहीं। मैं उसे लेकर ही जाऊँगा।"

"तब चलते चलो मेरे साथ।"

कुछ दूर और जाने पर राहुल ने फिर बुद्ध की उँगली पकड़ ली।

"क्या है राहुल ?"

"मेरी पैतृक संपत्ति ?"

"तुम राजभवन से बहुत दूर आ गए हो। क्या उसके निवासियों का प्रेम और उनकी सेवा इस एकांत अनुसरण से रोकती नहीं तुम्हें ?"

"नहीं।"

"तब चले चलो राहुल मेरे साथ। भय राजभवन में भी है और निर्भयता वन में भी। मैं तुम्हें तुम्हारी पैतृक संपत्ति से वंचित न करूँगा।"

राहुल फिर उनके पीछे-पीछे चलने लगा वेणु के सुमधुर स्वर-जाल में मानों फँसा और खिंचा हुआ धूप-छाँवे की भाँति।

कुछ दूर और चलने पर तथागत बोले—"तुम्हें राजभवन का निवास छोड़ देना पड़ेगा फिर।

"मैं छोड़ दूँगा। आप ही के साथ रहूँगा।"

"अच्छी बात है राहुल! तुम्हारे पिता के पास संपत्ति तो है, पर वह तुम्हें इन्द्रिय-सुख नहीं दे सकती।"

राहुल चिंतामग्न होकर पथ में खड़ा हो गया।

अमिताभ बोले—"दूसरे प्रकार का सुख लोगे। शाश्वत और चिरस्थायी सुख। जिस सुख पर जरा विनाश और मृत्यु की बाधा नहीं पड़ती है। तुम्हें यह राजवेश उतार देना पड़ेगा।"

"मैं इसे भी उतार दूँगा।"

दोनों आश्रम में पहुँच गए।

अमिताभ ने सारि पुत्र से कहा—"हे भिक्षु-श्रेष्ठ! यह हमारे संघ का अवस्था में सबसे छोटा भिक्षु होगा। इसके केश काटकर इसे संघ में प्रविष्ट कर दो।"

राहुल बौद्धधर्म में दीक्षित हो गया। यह समाचार जब राजभवन में पहुँचा, तो वहाँ हाहाकार मच गया! आशा और आधार के शेष दीपक का भी इस प्रकार छिनते देखकर महाराज शोक से प्रायः अचेत हो गए।

शोकातुर महाराज उसी समय संघ में आ पहुँचे। वहाँ राहुल को काषाय परिच्छद और अलंकार-विहीन भिक्षु के वेश में देखकर वह हाय मार-मारकर रुदन करने लगे। उन्होंने उसे गोद में लिया और पूछा—"वत्स! तुम्हारा यह वेश किसने किया?"

"मैं पिता की संपत्ति का अधिकारी हुआ हूँ।"

"कौन कहता है यह पिता की संपत्ति है?"

"माता ने कहा।"

महाराज राहुल को लेकर अमिताभ के निकट जाकर बोले—"तुम सदा पिता की सब आशाओं को चूर्ण कर डालोगे इस प्रकार? सभी गृह के दीपक बुझा दोगे? समस्त राज्याधिकारियों

को भिखारी बनाकर बड़ा तस्कर और आततायियों का भय बना दोगे ?"

"स्वार्थ की प्रेरणा से ही आप ऐसा कह रहे हैं।"

"तुम मेरे राजभवन को सूना कर चल दिए, मैंने किसी प्रकार उस वज्रपात का सहन कर लिया। तुमने नंद को भिक्षु बनाकर हमसे विलग किया उस महान् दुःख को भी हमने पुष्प के समान सिर-आँखों पर ले लिया और आज आज तुमने इस अबोध और अज्ञान बालक को हमारी गोद में से छीन लिया।"

'मृत्यु भी तो अपने प्रहार से किसी को किसी समय छीन ले जाती है। किंतु नंद और राहुल इन दोनों को मैंने अमृत-राज्य के द्वार पर ले आकर रक्खा है। जिस प्रकार आपने मेरा शोक भुलाया है, वैसे ही आपको इनका दुःख करना उचित नहीं। ये सब पाप और ताप के नाश से मुक्त होंगे और अगणित मनुष्यों का मुक्ति-पथ विस्तीर्ण करेंगे।" अमिताभ बोले।

"नहीं, मैं प्रार्थना करूँगा। तुम तो पिता हो चुके हो। ऐसे अबोध और अज्ञान बालकों को बिना उनके माता-पिता या अभिभावकों की अनुमति लिए भिक्षु बना देना उचित नहीं है।"

अमिताभ को पिता का अनुशासन शिरोधार्य हुआ। उन्होंने अपने प्रधान शिष्यों से कहा—"उचित ही है यह बात। संघ के नियमों में हमें यह बद करना होगा। अबसे कोई बालक बिना उसके माता-पिता और अभिभावकों की स्पष्ट सम्मति के संघ में प्रविष्ट न होने पावेगा।'

अमिताभ ने कुछ दिन और कपिलवस्तु में बिताए। जब तक वहाँ रहे उन्होंने महाराज को धर्म-चर्चा से सान्त्वना और शांति प्रदान की।

शीघ्र ही तथागत ने कपिलवस्तु से विदा होने का निश्चय किया।

उन्होंने मगध की ओर ही चरण बढ़ाए। राजपुर में उनके विरुद्ध जो षड्यंत्र चल रहा था, उसी को अपनी अहिंसा और सत्य से विजित कर क्षमा स्थिर किया।

मार्ग में कुछ आखेट-प्रिय राजकुमार विचर रहे थे। कुछ उस वन से होकर आ रहे थे। उन राजकुमारों ने उन्हें संघ-सहित आते हुए देखा।

अमिताभ के केवल दर्शन से ही उन पर बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा। उन सबके मन में उस दिन मृगया के प्रति बड़ी विरक्ति उपज गई। उन्होंने धनुष और तूणीर भूमि पर रखकर रख दिए। उन के विशिख-भाथा अपनेआप उनके कटि-प्रदेश से खुल गए।

एक ने दूसरे का मुख देखकर कहा—'बड़ी अभूतपूर्व बात हो गई आज।'

एक ने कहा—"पशुओं की कौन कहे। इस वन में आज कोई चिड़िया भी तो नहीं दिखाई दी। यह तो ऐसा जान पड़ता है, जैसे कोई हमारे आने की चेतावनी इन प्राणियों को दे गया है।"

दूसरा बोला—"आखेट के न मिलने से ही और उसके लिये किए गए इस कठिन श्रम से हमारे मन में यह विरक्ति उत्पन्न हुई है और इसी से यह धनुष-बाण हमें बहुत भारी प्रतीत हो रहे।"

तीसरा कहने लगा—"मेरे तो मन में आता है, अब कभी मृगया के लिये घर से बाहर पैर न निकालूँगा।"

चौथे ने प्रश्न किया—"मैं भी यही विचारता हूँ, पर मेरी प्रेरणा दया-भाव से है मन की विरक्ति से नहीं।"

पाँचवें ने व्यक्त किया—"मैं इसे दैवी चमत्कार कहूँगा। और वह साक्षात् दया का अवतार-सा जो महापुरुष अभी इस मार्ग से गया है। मैं समझता हूँ, यह उसी का शक्तिशाली प्रभाव है।"

उनके साथ उपाली-नामक एक नापित था। उन्होंने उस महापुरुष का परिचय लेकर शीघ्र लौट आने के लिये उपाली को भेजा।

उपाली जब लौटकर आया तो उसने देखा, एक राजकुमार ने अपने वस्त्रालंकार भी उतारकर भूमि पर रख दिए थे। वह शाक्य राजकुमार आनंद था सिद्धार्थ का चाचा-भाई।

आनंद ने अधीर होकर उपाली को पकड़ते ही पूछा—"कौन यह युवराज गौतम ही हैं न?"

"हाँ वे अब उन्हें गौतम बुद्ध कह रहे हैं।" उपाली ने उत्तर दिया।

"मेरा अनुमान ठीक ही निकला। उपाली, मेरे ये वस्त्रालंकार तुम रख ले जाना। मैं अब उन्हीं का अनुसरण करूँगा।" कहते हुए आनंद जाने लगा।

दूसरा राजकुमार बोला—"मैं भी तुम्हारा साथ दूँगा।" उसने भी अपने वस्त्राभूषण खोलकर उपाली को दे दिए।

देखा-देखी सभी राजकुमारों ने अपने-अपने वस्त्राभूषण खोलकर उपाली के सम्मुख ढेर लगा दिया। सभी के मन में संसार के भोगों के प्रति विराग उत्पन्न हो गया। आनंद उन सबको तथागत की शरण में ले चला।

उपाली केवल वहाँ पर रह गया अकेला। उसने अपने सामने उस बहुमूल्य ढेर को देखा। मन में सोचा — "अब मुझे मनुष्यों की हीन सेवा से मुक्ति मिल जायगी। बिना हाथ-पैर हिलाए ही अब मुझे जगत् के अच्छे-से अच्छे सुख-भोग मिल जायँगे।" वह आभूषण और परिधानों को बटोर-बटोर कर गठरी बाँधने लगा। धीरे धीरे उसके विचारों में प्रतिक्रिया आरंभ हो गई—"धिक्कार है रे! नापित उपाली तुझे! अमिताभ को इतने निकट पाकर

भी तेरी भोग-तृष्णा क्यों जागरित हो गई! ये राजकुमार जिन वस्तुओं का भार समझकर तेरे ऊपर फेंक गए क्या तू उन्हें लादे लादे मरीचिका के पीछे भ्रान्त रहेगा? नहीं कदापि नहीं! इन पत्थरों और धातु के टुकड़ों की बहुमूल्यता में मनुष्य की अज्ञान कल्पना है। मैं इस गठरी को सत्य की दृष्टि से देखूँगा। यह राजकुमारों के अंग का मैल है। और चर्म से बने हुए जूते, वस्त्र और उबटनों के उच्छिष्ट भार के समान हो तो है यह। मैं भी इसका परित्याग करता हूँ। मैं इसमें अपना भार भी सम्मिलित कर दूँगा।"

उपाली ने अपनी मुद्रिकाओं कर्तरियों नखहरणियों दर्पण सुगंधि तैल आदि को भी उसी गठरी में बाँध दिया। उसने अपने अंग पर के वस्त्र भी उसी में रख दिए— 'मैं भी तथागत की शरण में जाऊँगा, और इन राजकुमारों से पहले ही जाऊँगा।'

उपाली ने उन सबकी गठरी बाँधकर एक वृक्ष पर लटका दी। उसके निकट ही एक पत्थर के टुकड़े पर यह लिखकर रख दिया— 'जो चाहे वह इसे ले जाकर अपने उपयोग में ला सकता है।"

उपाली भागा हुआ अमिताभ की शरण में गया और इन राजकुमारों से पहले वहाँ पहुँचकर उसने दीक्षा प्राप्त की। समय पाकर उपाली ने बौद्ध महात्माओं में बहुत बड़ी प्रतिष्ठा लाभ की और विनय पिटक के प्रमुख आचार्यों में इनकी गणना हुई।

---

१७ गूँगा सारथी

महाराज बिंबिसार भले प्रकार यह जानते थे कि अमिताभ और उनके संघ को कलंकित करने में मुख्य कारण देवदत्त ही है। देवदत्त ने ऐसे कौशल से राज्य के प्रमुख अधिकारियों और प्रजा के विशेष मनुष्यों को इस प्रकार अपनी मुट्ठी में कर रक्खा था कि महाराज को धैर्य रखकर उस दिन की प्रतीक्षा करनी पड़ी जब सत्य का सूर्य काले बादलों को फाड़कर प्रकट होगा।

अमिताभ ने मानव की नई परिभाषा जनता में प्रचारित करनी आरंभ की थी। ब्राह्मण के चिरप्रतिष्ठित पद को इससे भारी ठेस पहुँची। उनका आसन हिल गया। राजगृह के अनेक ब्राह्मण तथागत के लिये भीषण प्रतिहिंसा से भर उठे। देवदत्त ने उनके स्वर ऊँचे किए।

प्रजा के अनेक लोग संबंधियों की इच्छा के विरुद्ध संघ में सम्मिलित हो गए थे। कुछ लोग इसलिये भी हद से चिढ़ गए थे। जगत् के अभ्यस्त पथ में जब कोई नवीन विचार उदित होता है, तो जनता उसे सहन नहीं कर सकती वह पूरी शक्ति से उसका विरोध करती है। अनेक ऐसी जनता को भी साथ लेकर देवदत्त ने शक्ति-संग्रह किया।

कुछ लोग भावी महाराज अजातशत्रु की चाटुकारी के लिये भी देवदत्त की हाँ-में-हाँ मिलाने लगे थे।

महाराज राज्य में कहीं भयानक धर्म-विप्लव न फैल जाय, इस भय से घबरा उठे थे, पर अमिताभ की कपिलवस्तु-यात्रा के कारण यह अग्नि फैलने से बच गई।

अनेक नवदीक्षित बौद्ध भिक्षु जो राजगृह में रह गए थे, उन्हें देवदत्त और उसके साथी नाना-प्रकार की पीड़ा पहुँचाने लगे। वे जब भिक्षा के लिये नगर और ग्रामों में निकलते तब उनको गालियाँ दी जातीं उन पर पत्थर और ईंटें फेंकी जातीं उनके भिक्षा-पात्रों में थूक देते उनके वस्त्र फाड़ डालते। भिक्षु स्तब्ध और शांत रहते। उन्हें तथागत की पूर्णतया अहिंसक रहने का आदेश था।

देवदत्त और अजातशत्रु का बौद्धों पर अत्याचार बहुत बढ़ गया। भिक्षु राजगृह छोड़-छोड़कर चले गए। अनेकों ने जाकर बिंबिसार को यह सूचना दी।

महाराज बड़ी कठिनता में पड़ गए। वैदिक धर्म-द्रोही महाराज के बौद्ध हो जाने के कारण महाराज के कर्मकांडी गुरु तथा अनेक मंत्री उनके विरुद्ध हो गए थे। वे दिन-रात राजा को बौद्धमत का त्याग कर देने की सम्मति देते थे। पर महाराज अपने विश्वास में स्थिर थे।

महाराज ने साहस किया और यह राजाज्ञा अपने राज्य-भर में प्रचारित की कि बौद्धों का धर्म अहिंसा और सत्य पर प्रतिष्ठित है। वे किसी का अहित नहीं विचारते। वे भी मेरे परम मान्य नागरिक हैं उन्हें निरपराध हानि पहुँचाना पाप अन्याय है। जो उन्हें सताएगा वह धर्म का अपराधी है, वह राज्य का भी अपराधी होगा। मैं उसे कठिन-से-कठिन दंड दूँगा।"

इस राजाज्ञा के प्रचार से कुछ अत्याचार अवश्य ही कम हुआ। पर देवदत्त के क्रोध में मानो घृत की आहुति पड़ी। वह विकट होकर प्रजा में प्रचार करने लगा कि हमारे पूर्वजों के वैदिक धर्म पर महान् संकट आया है। राजा बौद्ध हो गया है, वह आत्मा और ईश्वर, किसी को नहीं मानता। उसने समस्त याग-यज्ञ लुप्त कर

लिए है। वह अब अपने धर्म को बलात् प्रजा पर भी लादना चाहता है। राजा प्रजा का रक्षक है, वह उसका स्वामी नहीं। वह प्रजा को विवश नहीं कर सकता कि वह उसके ही धर्म का अनुसरण करे। हे नागरिको! जागो, उठो! अपने पूर्वजों के धर्म की रक्षा करो। यदि धर्म को न बचा सकोगे, तो फिर कुछ भी न रहेगा तुम्हारे। राजा अनीश्वरवादी हो गया है। वह तुम्हारे घरों में भिक्षुओं की संख्या बढ़ाने, घर-घर श्रमणों से भर देने और सृष्टि-क्रम को नष्ट कर देने के लिये यहाँ आया है। उसने ब्राह्मण और चांडाल को एक कर दिया है।

देवदत्त समझा था वह धर्म-विप्लव सुलगा देगा प्रजा में, प वह संभव नहीं दिखाई पड़ा। वह कुछ भी निराश न हुआ और अपनी कार्य-सिद्धि के लिये दूसरा मार्ग-निर्माण करने लगा। वह अजातशत्रु को अपने कुचक्र का साधन बनाने लगा।

अजातशत्रु को धर्म से कोई संपर्क न था। वह बौद्ध और ब्राह्मण दोनों को एक ही-सा समझता था। उसके मन में लगी हुई थी श्रावस्ती की वारांगना आम्रपाली। आम्रपाली बराबर मगध के युवराज की उपेक्षा करती चली आ रही थी। वह अपने वचनों से निरंतर दुःखी प्रकट हो रही थी। अजातशत्रु को यह दुःखद सिद्ध बन रहा था।

देवदत्त ने उस दिन अजात से कहा—"मित्र, जो एक बार आम्रपाली के पास से आता है वह उससे सब कुछ न कह सका मन के कारण।"

"क्या नहीं कहा?"

"आम्रपाली का निश्चय।"

"क्या निश्चय है उसका?"

"वह कहती है, अजातशत्रु से प्रेम, कर, उसे कोई काम नहीं,

वह एक नाम-मात्र का युवराज है। चारों ओर यही समाचार फैला है कि महाराज ने उन्हें राज्य-च्युत किया है वह अब दूसरे राजकुमार को राजसिंहासन पर बिठायेंगे।

"इतने दिनों का षड्यंत्र वह कितनी दूर से ज्ञात हो रहा है हमें, जान पड़ता है, हमारे निजी गुप्तचर हमारे पक्ष में संयुक्त नहीं हैं। मैं कल्पना कर रहा हूँ बहुत दिनों से इस बात की। देवदत्त क्या तुमने भी छिपाकर रखा है यह भेद मुझसे ?"

'नहीं युवराज। किसलिये ? महाराज के इस निश्चय से क्या पहले देवदत्त ही पंगु न हो जायगा।"

"तुम क्या समझते हो, यह बात सच है ?"

"हाँ, मैं सच ही समझता हूँ।"

"तब मैं इस षड्यंत्र को पनपने में ही रोक कर डालूँगा।"

"सर्वथा युक्तियुक्त !

"तुम सहायता दे सकते हो ?"

'शक्ति के भीतर और बाहर दोनों प्रकारों से।

"अच्छा फिर अभी। खड्ग उठा लो फिर।"

"खड्ग ?"

"हाँ।" अजातशत्रु ने आसव का पात्र उठाकर रिक्त किया—"लो, तुम भी पी लो।"

देवदत्त ने आसव पीते हुए कहा—"खड्ग से क्या होगा ?"

"वह राजा जिसे वेदों की अवहेलना में आनन्द हुआ है जो भिक्षु हो जाने पर भी राजमुकुट धारण करता है जो भय और कारागार का भय दिखाकर प्रजा में नास्तिकता फैला रहा है जो अपने सबसे बड़े बेटे का अधिकार छीनकर दूसरे कुमार को सौंप रहा है, उस राजा को क्या अधिक दिनों तक जीवित रहना उचित है ?"

"नहीं, कदापि नहीं।"

"बड़ी फिर प्रजा हमारे साथ है। राजगुरु हमारा पक्ष लेंगे। मंत्री हमारे सहायक होंगे, सेना हमारे संकेत पर चलेगी, चलो।"

देवदत्त सोच-विचार में पड़ गया।

"फिर क्या देवदत्त, साहस करो। कोई भी हमसे पूर्णता न कर सकेगा। हमारा स्वार्थ ओट में है। हम धार्मिक क्रांति के वाहक हैं। वसु, धन और चारित्र्य हमारे सहायक हैं। हमारी चेष्टा उन्हीं की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखने में समर्पित है।"

"यदि कुछ दिन नहीं ठहर सकते, तो कुछ प्रहर धीरज रखो। बिना सही प्रकार सोच-विचार किए पग बढ़ा देना अज्ञान है।"

"बहुत विचार चुके हैं।"

"कुछ और अंधकार हो जाने दो।"

"हम तत्पर नहीं हैं।

"महाराज कहाँ हैं?"

"चंपापुर में। नाना प्रकार के लोगों के बीच में कुशासन बिछा कर वह पाखंडी राजा होंगे कृतार्थ ध्यान में। सबसे बड़े बेटे का अधिकार छीनकर किसी और को दे देना कुकर्म नहीं तो क्या है? बताओ अपना आग्रह।"

देवदत्त ने कदम उठाते हुए कहा—"परंतु युवराज एक कठिनता है— वह गुरु हो गया।"

"कठिनता कैसी?"

"मेरे लिये चंपापुर में विरोध है।"

"जहाँ तक हार हुई है, वहीं तक चलो।"

"महाराज तुम क्या करना चाहते हो?"

"गुरु रही बातें नहीं कुछ।" कहकर अजातशत्रु उसका हाथ पकड़कर खींच ले गया।"

देवदत्त ने हाथ जोड़कर युवराज का अनुसरण किया।

"चलो, मेरे पीछे-पीछे चले आओ, तुम्हें कोई रोक नहीं सकता। आज हम अपने पथ की सबसे बड़ी बाधा का उन्मूलन कर दें" मेंने अजातशत्रु ने कहा।

अंतःपुर के मुख्य द्वार-रक्षक ने देवदत्त को रोक लिया।

युवराज ने रोष-पूर्वक कहा—"देवदत्त मेरा अभिन्न हृदय मित्र है, इसे क्यों रोक लिया?"

"महाराज की आज्ञा।" द्वार-रक्षक बोला।

"कल मगध के प्रमुख हो जाने पर तुम किसकी आज्ञा मानोगे?"

द्वार-रक्षक विचार में पड़ गया।

अजातशत्रु बोला—"क्या तब मेरी आज्ञा का पालन न करोगे?"

द्वार-रक्षक धीरे धीरे बोला—"हाँ।"

"अच्छा, तब मेरी ही आज्ञा की प्रतीक्षा करो।" कहकर अजातशत्रु बड़े आवेग से अंतःपुर के भीतर चला गया।

महाराज बिंबिसार ध्यान मग्न रहे थे अकेले ही थे।

किसी की आहट पाकर महाराज ने आँखें खोलीं। सम्मुख ही देखा खड्ग की मूठ पर हाथ रक्खे हुए युवराज खड़े थे। युवराज की भाव-भंगी देखकर महाराज को शंका हुई। उन्होंने कहा—"युवराज! उनके स्वर में घबराहट थी पर उन्होंने किसी प्रकार इसे प्रकट नहीं किया।

युवराज ने बड़े रूक्ष स्वर में उत्तर दिया—"हाँ।"

"असमय कैसे आए युवराज?" बड़े प्रेम से महाराज ने कहा।

"असमय?"

"हाँ। बिना बुलाए अपनी इच्छा से अब तुम यहाँ कभी नहीं आते इसी से कहता हूँ। क्या चाहते हो?"

पर आप नहीं देना चाहते!' अजातशत्रु ने कुछ रुकता से खड्ग की मूँठ को पकड़ा।

"अजात! अजात!" कहते हुए सम्राट् उठ खड़े हुए, उन्होंने बड़े प्रेम-भाव से उसके कंधे पर हाथ रक्खा—"क्या नहीं दिया तुम्हें! तुम मगध के युवराज हो। सब कुछ तुम्हारा है। मगध का सम्राट् भिक्षु होने जा रहा है। उसके हाथों का राजदंड किसी भी दिन भिक्षा-पात्र में बदल जायेगा।"

"झूठ बात!"

"अमिताभ का भक्त झूठ से घृणा करता है। सर्वदा और सदा सत्य की खोज और सत्य का व्यवहार ही उसका व्रत है।"

"यह कोरी कल्पना है। मैं कुछ और सुनता हूँ।" कहकर अजातशत्रु ने खड्ग बाहर खींचने का प्रयत्न किया।"

बिंबिसार ने उसका हाथ रोक लिया— 'तुम क्यों बार-बार खड्ग खींच रहे हो? मैं तुम्हें आज ही अंगराज्य का अभिषेक करता हूँ।

"उसका पश्चात् अधिकार दे देंगे आप मुझे?'

"हाँ।'

"आज ही?'

"हाँ।"

अजातशत्रु ने खड्ग पर से हाथ खींच लिया— 'अच्छी बात है, तब मैं अपनी भूल सुधार लूँगा। अभिषेक का आयोजन आरंभ हो।"

अजातशत्रु को अंग देश का राज्य मिला। वह उसकी राजधानी चंपा के लिये विदा हो गया। उसने देवदत्त को अपना मंत्री बनाया। दोनों को वहाँ निर्द्वंद्व विचरने के लिये किसी का भय न रहा।

अमिताभ फिर राजगृह में पधारे। उन्होंने पहले के ही समान

जेतवन में निवास स्थिर किया। फिर राजगृह में प्रेम और त्याग की मंदाकिनी बहने लगी। इस बार उनके धर्म का विरोधी देवदत्त वहाँ न था। उनके कुचक्रों से धर्म का प्रचार अविच्छिन्न रूप से बार-बार प्रकाश करने लगा। भिक्षु निर्बाध रूप से अपना काम करने लगे।

श्रावस्ती समृद्धिशाली राजनगरी थी। यह ऐरावती नदी के तीर पर अवस्थित कोशलराज की राजधानी थी। उन दिनों प्रसेनजित-नामक राजा इस पर राज करता था।

सुदत्त श्रावस्ती का अनंत धनशाली श्रेष्ठी था। आर्यावर्त ही नहीं, उसके आस-पास के देशों के साथ भी उसका वाणिज्य-संबंध था। उसका सुख और उसकी संपत्ति सीमातीत थी।

यौवन में दूसरे ही प्रकार का था वह। सुखमय संसार की परिधि के भीतर वह अपने ही व्यक्तित्व को केंद्र समझे हुए बैठा था। जैसे जगत् का उजला पृष्ठ सूर्य पर जाकर टिका है, ऐसे ही सुदत्त समझता था संसार के सुख-भोग उसके लिये हैं। उसने जो चाहा, उसे प्राप्त किया।

बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं के साथ उसकी प्रतिद्वंद्विता थी। उसका निवास-गृह आर्यावर्त के सब नरपतियों के राजभवनों से होड़ रखता था। उसकी साज-सज्जा संसार के श्रेष्ठतम उपकरणों से संगृहीत थी। उसका रहन-सहन, भोजन वस्त्र तुलना-विहीन और अद्वितीय था। वह संपत्ति में कुबेर और भोग-ऐश्वर्य में पृथ्वीतल के इंद्र के समान था।

गर्विता आम्रपाली सुदत्त के ही श्री-पाश में उलझ गई मगध के युवराज अजातशत्रु की उपेक्षा कर। क्रोध में विमूढ़ और निरंकुश होकर अजातशत्रु आम्रपाली की इस अवमानना का सहन न कर सका।

उसने देवदत्त से कहा—"अब हम एक स्वर्ण और समृद्ध राज्य

के अधिपति हैं। सुन। के सभी शासकों में केवल श्रावस्ती अब भी हमारा अपमान करती जा रही है। क्या यह हमारे लिये अत्यंत लज्जा का विषय नहीं है?"

उसका सहचर बोला—'अवश्यमेव है। फिर इसके लिये जो भी आज्ञा महाराज दें, आपका यह अनुचर उसे शिरोधार्य करने के लिये किसी वस्तु और दिवस की किसी घड़ी प्रस्तुत है।"

"यह कोशल का राजा प्रसेनजित मुझे बड़ा ही कापुरुष प्रतीत होता है। मैंने स्पष्ट ही उसे लिख दिया था कि श्रावस्ती हमारी अजेय जनशक्ति स्वाहा कर चुकी है, तुम्हारे जैसे पुरुष को कोई अधिकार नहीं कि वह उसे अपने रंगभवन में बंदी बना ले।" कुछ क्षति देकर अजात, फिर कहने लगा— "पर्याप्त समय बीत चुका है प्रसेनजित ने इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। मित्र देवदत्त, मैं तुमसे कहता हूँ, क्या यह उपयुक्त समय नहीं है कि हम राज्य-विस्तार के लिये अपनी सेना और अस्त्र-शस्त्रों को सँभालें?"

"अवश्य ही!"

"तुम इसे कारण नहीं समझते। एक साधारण जो भी पचासरत्नु की समानीता और ठीक बैठा है। मगध केसरी के भोग से भीख कर रहा है। प्रसेनजित यह सब कुछ अंधा होकर देख सकता है। उसे राजा के प्रति राजा के कर्तव्य का ज्ञान नहीं। मैं अवश्य ही उसे सिखा दूँगा। क्यों देवदत्त, तुम क्यों शिथिलमना प्रतीत हो रहे हो? क्या हम में इतना पौरुष और हमारी सेना की इतनी शक्ति नहीं है कि हम श्रावस्ती पर आक्रमण कर सकें?"

"है कैसे नहीं? पर हमारी परिषद् के कुछ मंत्री अभी संपूर्णतया हमारे पक्ष में नहीं हैं। जब शांति के साथ ही कार्य साधन हो जाय, तो राजा को उचित नहीं है कि वह अपने बल का ह्रास करे।" देवदत्त ने साधारण भाव से कहा।

"तुम पर अपने मन की दुबलता प्रकट कर रखी है मैंने देवदत्त। मैं आम्रपाली के अभाव से कहीं भी परिपूर्णता नहीं पाता अपने जीवन में।"

"मैं ला दूँगा उसे।'

"कैसे?"

"जैसे भी होगा।'

'तो जाओ शीघ्र-से-शीघ्र श्रावस्ती जाओ, और उस ले आओ। इस काम में जितना भी धन व्यय हो, उसकी रंचमात्र चिंता न करो।'

देवदत्त पर्याप्त मार्ग-व्यय और कुछ नैतिक तथा अनुचरों को लेकर यात्रा के लिये तैयार हुआ। रथों पर चढ़कर वे लोग विदा हुए।

देवदत्त ने छद्मवेश धारण किया और गूँगा मारवी बनकर एक रथ के संचालन-सूत्र स्वयं अपने हाथों में लिए। वे लोग पहले श्रावस्ती न जाकर राजगृह को गए।

राजगृह में आम्रपाली की छोटी भगिनी रहती थी। उसके साथ जाकर देवदत्त ने गूढ़ मंत्रणा की। उसके मुख की प्रसन्नता कहती थी उसे सफलता मिली है। वे श्रावस्ती के लिए प्रस्थित हुए।

जो माया-जाल रचकर ले गया था देवदत्त, उसमें आम्रपाली फँस गई। देवदत्त ने श्रावस्ती पहुँचकर आम्रपाली के पास वह पत्र और संवाद भेजा कि राजगृह में उसकी भगिनी मरणासन्न अवस्था में है। मृत्यु के समय उसकी यह प्रबल इच्छा है कि वह आम्रपाली का मुख देख ले।

आम्रपाली अत्यंत स्नेह रखती थी अपनी भगिनी पर। वह उसी दिन कुछ शरीर-रक्षक और दासियों को लेकर राजगृह चल दी। सुमन्त कुछ नवीन वाणिज्य-संबंधों को सुदृढ़ करने के लिए काशी की ओर गया हुआ था। आम्रपाली उसके आगमन की प्रतीक्षा न कर

सकी । सहोदरा के अंतिम मिलन की कातरता से उसे स्वामी की आज्ञा से लेनी भी कुछ आवश्यक न प्रतीत हुई ।

सारथी के वेश में अपने शरीर और गूँगेपन में अपने मन को आवरित किए हुए देवदत्त ने आम्रपाली को अपने रथ पर बैठाया । मृत्यु की भयानकता का चिन्तन करता हुआ उस वारवनिता का मन देवदत्त के षड्यंत्र के भीतर पैठ न सका, उसके दिखावे में ही घिर गया !

मार्ग की धूलि से आम्रपाली के सुकोमल वस्त्र और अंग की रक्षा करने के लिये उस गूँगे सारथी का रथ मार्ग में अग्रगामी हुआ । उसके पीछे आम्रपाली की दासियों और शरीर रक्षकों के रथ सबके पीछे देवदत्त के अनुचरों के रथ चले ।

पहले दिन की यात्रा सकुशल व्यतीत हुई । दूसरे दिन यात्रा आरंभ करने के पश्चात् ही कुछ दूर जाने पर गूँगे सारथी ने रथ रोक दिया और रथचक्र की धुरा ठीक करने लगा । उसने आम्रपाली के रथवाहकों को आगे बढ़ जाने का संकेत दे दिया । अपने साथियों को भी कुछ इंगित कर दिया ।

रथ पर बैठे-बैठे आम्रपाली अकुलाई उसने कहा—"शीघ्रता करो सारथी ! कहीं ऐसा न हो मैं अपनी प्रिय भगिनी से अंतिम भाषण न कर सकूँ ।"

गूँगा सारथी रथ के नीचे से बाहर निकला । एक हाथ उठाकर धुरी को दिखाया उसने और मुँह से कुछ मारने लगा— "हू-हू-हू !"

आम्रपाली ने उसका अर्थ समझा कि सारथी कह रहा है, पवन के वेग से ले चलूँगा रथ ।

सारथी ने हाथ जोड़कर कहा—"ठहर ठहर ता ।" उसका आशय था कुछ थोड़ी दूर और धीरज रक्खो ।

आम्रपाली के मुख पर मुसकान की क्षीण रेखा उदित होते ही विलीन हो गई।

सारथी कुछ ठोक-ठाक और की, पहिया ठीक हो गया, उसने रथ के सूत्र हाथों में लेकर घोड़ों की पीठ पर कोड़ा लगाया रथ पवन से बातें करने लगा।

अविराम गति से रथ भागा चला जा रहा था। बहुत दूर निकल जाने पर भी आगे बढ़े हुए साथी नहीं मिले। इसके अतिरिक्त आम्रपाली को यह पथ सर्वथा नवीन-सा प्रतीत हुआ। उसके मन में संशय उपजने लगा। उसने सारथी से रथ रोक देने को कहा।

सारथी ने रथ रोककर पूछा—"उतत तन्!"

"सारथी! तुम कहाँ को ले जा रहे हो?"

सारथी ने दाहिनी तर्जनी बाईं हथेली पर जमाकर कहा—"सत्!" अर्थात् बिल्कुल ठीक पथ पर।

आम्रपाली बोली—"साथी कहाँ गए?"

हाथ की उँगलियों को नचाकर डमरू की भाँति बजाता हुआ बोला—"डुग-डुग!"—मैं क्या जानूँ।

रथ फिर वेग से भाग चला। कुछ दूर जाने पर फिर आम्रपाली बोली—"सारथी! निस्संदेह तुम मार्ग भूल गए हो।"

'हूँ-हूँ!' सिर हिलाकर गूँगा बोला।

मैं अनेक बार श्रावस्ती से राजगृह आई हूँ। मार्ग के सब स्थल मुझे भले प्रकार याद हैं, आज वे मुझे ढूँढ़ने से भी नहीं मिले। गंगा नदी कहाँ है?"

सारथी ने पीछे की ओर दिखाकर प्रकट किया कि हम उसे पार कर आगे आ गए।

आम्रपाली चकित-भ्रमित हो गई। सारथी बिना विश्राम के रथ दौड़ाता चला जा रहा था। वह अपने मन में सोचने लगी—

"हम बहुत दूर आ गए हैं। इस सारथी के मन में कोई अन्यथा विचार तो नहीं है?"

वास्तव में वे अंगराज्य में प्रवेश कर रहे थे। सूर्य भगवान् पश्चिम के आकाश में ढल गए थे। श्रावस्ती से वे लगभग पचास कोस आ गए होंगे गूँगे सारथी के मन में अपनी विजय पर असित हर्ष और उन्माद छिपा हुआ था। अंग-राज्य में आ जाने पर अब वह बिल्कुल निर्भय हो गया था। षड्यंत्र के फूट जाने पर अब उसकी प्रगति को कुछ भी हानि नहीं पहुँच सकती ऐसा वह विचार रहा था। वह गूँगा और भी मूक हो गया। हाथों में सूत्र और चाबुक दृष्टि पथ में और मन महाराज अजातशत्रु के समीप जा अटका।

आम्रपाली ने सारथी का उत्तरीय खींचकर कहा—"रोक दो रथ।

"हूँ-हूँ" गूँगा बोला। उसने घोड़ों की पीठ पर कोड़ा रखकर उनकी गति और भी तीव्र कर दी।

रोष-पूर्वक आम्रपाली बोली—"रोको रथ।

सारथी अट्टहास कर उठा। वह विजय के हर्ष से भर गया था। उसने रथ रोक दिया। एक अश्वारोही ने उसके सामने आकर उसे अभिवादन किया।

आम्रपाली ने पूछा—"राजगृह कितनी दूर है अभी?"

अश्वारोही ने नीरव रहकर मुख फेर लिया।

आम्रपाली चक्कर में पड़ गई। उसने उच्च स्वर से फिर पूछा—"कितनी दूर है राजगृह?"

गूँगे सारथी ने अपने अप्राकृतिक रसनाओं पर हाथ रखा—"मैं बताऊँगा।

गूँगे के मुख के स्पष्ट शब्द सुनकर आम्रपाली का माथा घूमने

लगा— 'कौन हो तुम ? अवश्य ही कोई वंचक हो। तुमने जब तक जिस कौशल से मूक का अभिनय किया, उससे यह आशंका उत्पन्न होती मैं भगवान् का आश्चर्य कौतुक नहीं समझती। क्या दुरभिसंधि है तुम्हारी ? कौन हो तुम ?"

गूँगे ने कृत्रिम वेश दूर हटा दिया। देवदत्त प्रकट हो गया !

"राजकुमार देवदत्त !" आम्रपाली चिल्ला उठी—"स्वप्न देख रही हूँ ?"

"नहीं।"

"कहाँ लिए जा रहे हो ?"

"तुम्हारे सौभाग्य का ग्रह चमक उठा है, तुम्हें मगध की महारानी बनाने को लिए जा रहा हूँ। महाराज अजातशत्रु के वामांग में संस्थापित होओगी तुम।"

आम्रपाली के भावों में कोई परिवर्तन न हुआ इससे। उसने कहा— 'राजगृह में मेरी सहायता ?'

मार्तंड और मधुराम हैं उन्हीं की अनुमति लेकर गया था मैं।"

'तुमने अच्छा नहीं किया देवदत्त !"

"बड़ी-बड़ी सुंदरियाँ जिस पद के लिये लालायित हैं, वह अनायास ही तुम्हें मिलेगा। तुम्हें देवदत्त को उपकारी के रूप में देखना चाहिए न ! क्या रखा है उस वैशाली के यहाँ ? केवल सुवर्ण का पर्वत ? अजातशत्रु के यहाँ सब कुछ है— संपत्ति, प्रभुता प्रताप रूप-यौवन और तुम्हारे प्रेम से भरा हुआ मन।"

"नहीं मुझे श्रावस्ती ही पहुँचा दो, तुम्हारी आजन्म ऋणी रहूँगी।'

देवदत्त ने कुछ संकेत किया शिष्ट ही खड़े हुए उस अश्वारोही को। अश्वारोही ने कंधे पर से [illegible] मिलाकर उसे विमोहित किया।

है, वह जिसने दुखियों का भार हलकाकर उनका मार्ग सरल बनाया है। मैं जब अपने प्रेमियों के स्वार्थ से आकुल हो उठी थी, तब मैंने उसकी कीर्ति सुनी। तुम नहीं जानते उसे? वह तुम्हारा जाति-भाई है।'

'कौन? सिद्धार्थ?' देवदत्त ने सतर्क हो पूछा।

'हाँ कपिलवस्तु का त्यागी युवराज गौतम, जिसने संबोधि-पद पाया है। वह मेरी पीड़ा भी दूर करेगा, वह मुझे भी मार्ग देकर उसे प्रकाशित करेगा।'

"सिद्धार्थ! वह भंड, वह पाखंडी, मेरा बालसखा! मैं जानता हूँ सब उसके गुरुत्व को, तुम्हें भी बता दूँगा।" कहकर देवदत्त ने रथ बढ़ा दिया मार्ग में।

राजगृह के वेणुवन में पहुँचकर अमिताभ ने वहीं वर्षा काल बिताना निश्चय किया। अजातशत्रु और देवदत्त के चंपा चले जाने के कारण बुद्ध के शिष्य राजगृह में बाधा-हीन होकर विचरण करने लगे। राजा के आश्रय में बौद्ध-धर्म पल्लवित होने लगा वहाँ।

वर्षा-काल में यातायात की असुविधा के कारण अमिताभ एक ही स्थान में रहते। शिष्यगण उनके उपदेशों में सदा नई स्फूर्ति और नवीन प्रेरणाएँ प्राप्त करते। वर्षा-काल के बीत जाने पर अमिताभ फिर ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में घूम-फिरकर सत्य का संदेश सुनाने के हेतु प्रस्थान करते।

वर्षा के शेष हो जाने पर जब आकाश निर्मल और वसुंधरा कर्दम-विहीन हो गई, तब अमिताभ ने धर्म-प्रचार करते हुए गंगा पार की और वैशाली में प्रवेश किया। वैशाली में लिच्छविराज ने अमिताभ का स्वागत किया और उनके नवीन धर्म के प्रति बड़ी भक्ति प्रदर्शित की।

वैशाली में महाराज शुद्धोदन की रुग्णावस्था का समाचार पाकर अमिताभ कपिलवस्तु के लिये चल दिए।

शाक्यों के राजा जरा के आक्रमण और हा पुत्र तथा पौत्र के गृह और राज्य-त्याग से बड़े दुर्बल और निराश हो गए। उन्हें जीवन भार-स्वरूप हो गया था। उन्होंने अपना अंत-समय निकट जानकर सिद्धार्थ को देखने की इच्छा प्रकट की।

कपिलवस्तु पहुँचे। उन्हीं के दर्शनों पर मानो हुए महाराज के प्राण अटक रहे थे। पिता की मृत्यु के समय अमिताभ ने उन्हें अपनी उपदेश-सुधा से परम शांति दी, और उन्होंने अमिताभ की गोद में ही सुख-पूर्वक प्राण विसर्जित किए!

सारा राजभवन हाहाकार से भर उठा। रमणियाँ निराश्रय और अभिभावक-विहीन होकर आर्त स्वर से रुदन करने लगीं।

महारानी प्रजावती ने राजकुमार राहुल को फिर गृहस्थ में प्रवेश की आज्ञा देने के लिये अमिताभ से विनय की। वह असफल ही रहीं।

अंत में प्रजावती ने अमिताभ के चरण पकड़कर कहा— 'यदि तुम्हें पिता का वंश इस प्रकार भिक्षु बन कर ऐसा ही इष्ट है, तो फिर हमें भी अपने साथ ले चलो। इस शून्य भवन में हम कैसे प्राण धारण कर सकेंगी।"

"तुम कहाँ जाओगी। भिक्षु-संघ में नारी-प्रवेश निषिद्ध है।"

"क्या नारी इतनी अपवित्र है?"

"अपवित्रता की बात मैं नहीं कहता।"

"फिर क्या वह पुरुषों के समान त्याग और वैराग्य का व्रत नहीं निभा सकती?"

"यह भी नहीं कहता।"

"फिर हमें भी साथ लो पुत्र! कदाचित् इनमें बहुतों से भिक्षुणी

का ही जीवन बिता रही है। भिक्षु-संघ में यदि हमारे लिये स्थान नहीं है तो क्या उससे अलग भिक्षुणी-संघ की सृष्टि नहीं की जा सकती ?"

"अभी नहीं, अभी धैर्य रक्खो। मैं विचार करूँगा।" कहकर अमिताभ कपिलवस्तु से फिर वैशाली आ गए।

अमिताभ के चले जाने पर राजभवन की राजरमणियाँ नितांत निराश हो गईं। कपिलवस्तु के सभी राजकुमार एक-एक कर प्रव्रजित हो गए थे। राजभवनों में केवल उनकी परित्यक्ता महिलाएँ और अबोध शिशुगण ही रह गए थे।

संथागार में राजसिंहासन था शून्य। राजभवन में राजमुकुट था, राजा के वस्त्राभूषण थे, अस्त्रायुध थे, उनका उपयोग करनेवाला कोई न था। रथ-शाला के रथ, हय-शाला के घोड़े, गज-शाला के हाथी सभी रिक्त और बँधे हुए थे। राजकाज आय-व्यय से विहीन राज-काज संचालन-प्रबन्ध से व्यक्ति-विच्युत कपिलपुर के निवासी असमय शोक में निमग्न और प्रजा प्रतिद्वन्द्वी राजाओं के आक्रमण के भय से संत्रस्त थी।

अब और अधिक सहन न कर सकीं राजभवन की रमणियाँ, प्रजावती ने सबको एकत्र कर कहा— 'चलो, हम सब अमिताभ का अनुसरण करेंगी। देना ही पड़ेगा उन्हें हमें अपने आश्रय में। क्या नारी नर की समानता नहीं रखती? क्या उसे जगत का शोक-ताप नहीं व्यापता? क्या उसके मन में उसके मुक्ति पाने की प्रवृत्ति नहीं जाग सकती ?"

प्रजावती राजभवन की समस्त भिक्षुणी होने के लिये सन्नद्ध रमणियों को अधिकाधिक लेकर वैशाली की दिशा में चल पड़ी। उन्होंने जगत् के सब आकर्षणों को ठुकरा दिया सारी सुविधाएँ विसर्जित कर दीं।

परम मोहिनी यशोधरा को उन्होंने अपना आदर्श बनाया, उसकी कष्ट-सहिष्णुता से उन्होंने शक्ति पाई, और यह निश्चय किया कि हम भी यह सब कर सकेंगी।

वे राजमहलों का मुख-द्वार छोड़ चलीं। राज-सज्जा, रत्नाभूषण सब कुछ जैसे था, वैसे ही त्याग चलीं। पंथ पर एक-एक पग बढ़ाया उन्होंने। सौभाग्य के सब चिह्न और शृंगार दूर कर दिए। उन्होंने कुसुम-कोमल नंगे पैर बाहर निकाल दिए पथ पर, निष्ठुर-पत्थर, धूल-कंकड़, शीत-ताप और कीच-आँसू-भरे पथ पर!

वैशाली के भिक्षु-संघ में बड़ी हलचल मच गई। स्त्रियों के समूह का-समूह चला आ रहा था। एक भिक्षु ने रोक दिया उन्हें—"आप लोग नहीं आ सकतीं संघ के भीतर। स्त्रियों के प्रवेश की किसी प्रकार आज्ञा नहीं है अमिताभ की।'

प्रजावती ने कहा—"हमने सुना है, बहुत दिन हुए उन्होंने एक स्त्री को प्रव्रज्या दी थी।"

"हाँ, वह एक वारवनिता थी चंद्रलेखा। किसी ने संघ के भीतर उसकी हत्या कर दी। तब से अमिताभ ने स्त्रियों के प्रवेश का कठोर निषेध किया है।'

इतने ही में भिक्षु आनंद आ पहुँचा वहीं पर। प्रजावती ने उससे कहा—"राजकुमार आनंद, तुम जाकर अमिताभ से कहो। हम दृढ़ निश्चय के साथ आई हैं। यदि हमारे लिये संघ में स्थान नहीं होगा तो हम यहीं पर निराहार और निराश्रय रहकर प्राण त्याग देंगी। हम संसार का मोह त्याग कर आ गई हैं। हम किसी प्रकार यह अधिकार छोड़ नहीं सकतीं। आनंद, तुम्हारी पत्नी भी हमारे साथ है। हमारी ओर से उन्हें समझाओ, नारी अपवित्र नहीं है, पुरुष के समान ही उसके भी अधिकार हैं।"

आनंद ने अमिताभ के पास जाकर हाथ जोड़ निवेदन किया—

"शाक्य-वंश की महिलाएँ, महारानी प्रजावती और यशोधरा के नेतृत्व में आपकी शरण आई हैं, उनके अस्तव्यस्त पद फूल गए हैं, सारी देह धूलि से भरी है मार्ग के श्रम और अनाहार से वे अत्यंत क्लान्त हो उठी हैं। इन्हें शरण मिलनी उचित है महाराज।"

'इसमें बहुत सोच-समझकर ही संघ के भीतर स्त्रियों के निषेध का नियम बनाया है।"

नियामक तो आप ही हैं प्रभु, उनके प्रवेश का नियम बना दीजिए।

'आनंद !—" अमिताभ कुछ विचारने लगे।

"हे प्रभु ! जिस प्रकार आपने धर्म को समानता देकर ब्राह्मण और चांडाल को समता दी है। जिस प्रकार श्री-संपत्ति की नश्वरता दिखाकर रंक और नृप को एक ही आसन पर बिठाया है, ऐसे ही नर के अधिकारों तक नारी की भी पहुँच होने दीजिए। भिक्षुओं के साथ न सही उनसे सर्वथा भिन्न कर भिक्षुणी-संघ की प्रतिष्ठा कर दीजिए।"

भिक्षुणी-संघ की स्थापना हुई। अनेक कठोर नियमों में बद्ध होकर शाक्यकुल की महिलाओं ने उप-संपदा प्राप्त की।

वैशाली से अमिताभ ने कौशाम्बी को प्रस्थान किया। वहाँ एकांत वर्षा-वास कर शरद् ऋतु के आरंभ में उन्होंने राजगृह को प्रस्थान किया।

श्रेष्ठी सुदूर प्रवास से लौटकर जब आम्रपाली के प्रासाद में गया, तो उसे न पाकर अत्यंत उद्विग्न हो गया।

प्रासाद-रक्षिका ने कहा—"स्वामिनी अपनी सहोदरा की कठिन रोगावस्था के समाचार पाकर वहाँ से राजगृह को गई थीं। उनके साथ की शरीर-रक्षक भेजे गए थे, एक सप्ताह पश्चात् उन्होंने लौट कर कहा कि मार्ग से वह न-जाने कहाँ को चली गईं।"

"कहाँ को चला गया? क्या पुरुष ने इसमें जो शाश्वत स्नेह और अनुरक्ति पाई थी, वह सब एक प्रवञ्चना थी। मैंने वारांगना समझकर भी जो उसके साथ एक कुलवती नारी की भाँति अपने को साथी कर विवाह किया था क्या वह एक भूल थी?"

"इस विषय पर नहीं जाना चाहिए आपको। ऐसा भी संभव है, कोई उसको वश में कर ले गया हो।"

"क्या मेरे निर्माण किए हुए इन प्रासादों इन उपवनों इन सुख और विलास के साधनों के अतिरिक्त भी उसकी आकांक्षा के लिये कुछ और शेष रह गया था जगत् में?"

"मैं नहीं समझती। उसके पहले जीवन में जो कुछ भी रहा हो मैं नहीं जानती। जब से वह आपके प्रासाद में आई है, उसने सदैव ही उसे सुख-साध के प्रति उदासीन ही पाया था। निस्संदेह कोई दूसरा के लिए उसका अपहरण कर ले गया है।"

"वह अपने साथ क्या-क्या वस्तु ले गई?"

"कुछ भी नहीं। मार्ग में तस्करों के भय से वह अपने अंग पर के आभूषणों को भी उतारकर यहीं रख गई। केवल सौभाग्य के कुछ चिह्न ही उसके पास रह गए थे।"

सेठी पुरुष आम्रपाली से अत्यंत स्नेह करता था। उसके रूप का इतना नहीं जितना वह उसके शील का उपासक था। आम्रपाली भी पुरुष से बहुत प्रेम करती थी। संपत्ति के लिये नहीं पर पुरुष की उस उपासना के लिये जिसमें लीन होकर वह श्रेष्ठ परात्पर के लिये जप की भाँति अपने आप को बहाता रहता था।

अन्त पुरुष आम्रपाली को न पाकर बहुत विकल हो गया। उसने अपार्थिव राजपुरुष की याचना की। वह आम्रपाली की सहोदरा के पास गया, उससे पूछा—'आम्रपाली कहाँ है?

सुदत्त ने उसे प्रश्न कर दिया था, वह बोली—"मैं नहीं जानती कहाँ है।

यह तुम्हारी ही रुग्णावस्था का समाचार सुनकर यहाँ आई थीं। तुमने उन्हें बुला भेजा था।"

"मैं पिछले कई वर्षों से रोगग्रस्त नहीं हुई। मैंने उन्हें बुलाने के लिये किसी को नहीं भेजा। जान पड़ता है, किसी ने यह षड्यन्त्र रचा है?"

सुदत्त निराश होकर श्रावस्ती लौट रहा था। उसके हृदय में संसार और उसके संबंधों के प्रति अत्यधिक वैराग्य छा गया था। इसी समय उसने बुद्ध के राजगृह-निवास का समाचार सुना। महाराज बिम्बिसार की रानी क्षेमा ने उसी दिन संसार त्यागकर भिक्षुणी-संघ में प्रवेश किया था। सुदत्त ने विचार किया—'इतनी बड़ी महारानी जिनका उपदेश सुनकर तृणवत् सुख-विलास का त्यागकर चली है, अवश्य ही उनके माहात्म्य होगा। मुझे उनके दर्शन कर ही लौटना चाहिए।

सुदत्त धमिताभ के आश्रम में गया। महात्मा उस समय उपदेश दे रहे थे। वह भी उनके शिष्य एक ओर दर्शकों के बीच में बैठ गया। उस उपदेश में वह अपने और अपने दुःख दोनों को भूल गया।

उपदेश की समाप्ति पर लोग चले गए, तब भी सुदत्त वहीं पर बैठा रह गया। उसने अपने मन में सोचा— यह मनुष्य तेजस्वी है इसमें सन्देह नहीं, इनका-मेरा कोई परिचय नहीं, न इनके शिष्यों और दर्शकों में ही कोई मेरा परिचित मिला मुझे। लोग इन्हें परममित्र और सत्यदर्शी कह रहे हैं। यदि यह इस समय मुझे मेरा नाम लेकर पुकारें, तो मैं समझूँ कि यह चमत्कारी पुरुष है।'

धमिताभ ध्यान में निमग्न बैठे थे। सुदत्त के साथ और भी दो

के नीचे लिखा

अचानक अमिताभ ने आँखें खोलकर पुकारा—"श्रेष्ठी सुदत्त!" श्रेष्ठी सुदत्त आश्चर्य के सागर में डूब गया। श्रद्धा और भक्ति के अतिरेक में अमिताभ के चरणों पर उसने अपना मस्तक रख दिया।

"मन आया है सुदत्त, उसे सत्य समझने ही से तुम्हारे मन में दुःख का उदय हुआ है।"

"हे परम तेजस्वी अमिताभ, आपने मेरा नाम कैसे जान लिया?"

"ध्यान के कारण, ध्यान समस्त लोक और कालों को बेध देता है। उसकी गति का कोई बाधक नहीं।"

"आम्रपाली कहाँ है? जीवित है या मृत?"

"तुम मुझे ज्योतिषी समझ रहे हो श्रेष्ठी। मैं नहीं जानता आम्रपाली कौन है, कहाँ है। मेरे मन में जीवन और मृत्यु का कोई भेद नहीं है, इसी से मैंने सत्य को पाया है। तुम्हें उसकी क्यों इतनी चिन्ता हो गई। उसका अनुसरण तुम्हें कदापि शांति नहीं दे सकता। मैं दूँगा तुम्हें शांति।"

"मैं आपकी शरण हूँ। मुझे शांति दीजिए।"

अमिताभ ने उसे अपने नवीन धर्म के तत्त्व समझाए। श्रेष्ठी सुखी हो गया। उसने बुद्ध का संघ-सहित श्रावस्ती आने का साग्रह निमंत्रण दिया, वह आम्रपाली का अनुसंधान छोड़कर श्रावस्ती लौट गया।

श्रावस्ती लौटकर वह और भी उदारता से अपने धन का सद्व्यय करने लगा। लोगों ने उसे अनाथपिंडिक नाम से प्रसिद्ध कर दिया।

---

१८ ब्राह्मण की कन्या

चम्पा के राजप्रासाद के द्वार पर पहुँचकर देवदत्त ने रथ रोक दिया, पर आम्रपाली किसी प्रकार रथ से उतरने को सम्मत न हुई।

देवदत्त ने उसका हाथ पकड़कर उसे रथ से नीचे खींच लिया। "अब तुम्हारी इच्छा-मात्र कोई वस्तु नहीं है यहाँ इस दुर्ग के भीतर।

"हाथ छोड़ दो देवदत्त! तुम्हें धर्म का भय नहीं? तुम्हें एक स्त्री के शील का हरण करते लज्जा नहीं?" कहकर आम्रपाली ने अपना हाथ खींच लिया।

सुवर्ण के ढेरों को दिखाकर हमने तुम्हें रात-रात-भर नचाया है। सुख और संपत्ति की मोह-कामिनी! क्या तुम्हारे भी शील है? यह सब ढोंगी पुरुष-जैसे मूर्खों को बहकाने की बातें हैं।"

"क्या एक की परवशता और सबके हृदय के प्रेम से फिर शील का निर्णय नहीं हो सकता? मैंने किया है निर्णय उसका। अच्छा न होगा देवदत्त, अग्नि की प्रज्वलित शिखा में हाथ न दो।" आम्रपाली बोली।

"धन्य हो सती के देश! पर हम तो महाराज के सेवक हैं। हमें उनकी सेवा में तुम्हें ले जाने की आज्ञा है। उन्हीं को तुम अपने शील की शक्ति दिखाना।"

आम्रपाली बल-पूर्वक धनानन्द के सामने ले जाई गई। उसने हाथ जोड़कर बड़ी दीनता के साथ कहा—"हे महाराज! मग-

मूक, पूज्य-प्रेष्या, एक-दास की गली इस रचना पर आपका वह मोह भ्रम है। फिर दूसरे की नारी वह तो समाज और धर्म शासन के ही नियम से परिहार्य है।

“नर-गीतों के स्थान में यह उपदेश की शुष्कता भी तुम्हारे अधरों पर कुछ कम सुंदर नहीं है। तुम दूसरे की नारी! एक अप्रतिम सत्य! तुम्हारे नवीन यौवन के पुष्प-चामर क्या प्रभात की संगति में नहीं व्यतीत हुए हैं? इस तुम्हें परनारी समझना चाहिए या मुझे? आम्रपाली! तुम्हारे रूप में मेरे लिये एक अद्भुत आकर्षण है। तुम्हारे अङ्गांग की इस दुर्लभ बड़ी प्राप्ति में अजातशत्रु मगधनाथ ना ही था। तुम नहीं हो केवल विलास के लिये ही नहीं, उन्माद यौवन भावना और विजय के लिये भी। तुम्हें इस बिना मैं अपनी आकांक्षा तथा स्वप्नों को पार्थिव जगत् में संचित नहीं कर सकता। समस्त आर्यावर्त मेरे राज-दंड पर विजय होना चाहता है मैं सारे भूमंडल को अपनी सेना के पदाघातों से प्रकंपित कर दूंगा। सच्चा इतिहास-लेखक इस साहस और शौर्य के मूल में तुम्हारा नाम प्रकट करेगा।' अजातशत्रु अपने बाहुपाश में आम्रपाली को भरने लगा।

बड़े तीक्ष्ण अंगराग के ढंग से आम्रपाली रुदन करने लगी—

“मैं अंधेती से विवाह की पवित्र प्रतिज्ञा में संबद्ध हुई हूँ। वह अपने को प्रभात के स्पर्शों से बचाने के लिये इस रत्न कक्ष में अकेली एक कोने से दूसरे कोने में भागने लगी।”

‘तुमने एक दिन क्या मुझसे प्रतिज्ञा नहीं की थी कि तुम मुझे छोड़कर अब इस जीवन में किसी से भी अनुराग न करोगी।

“वह एक पुलिन जीवन की प्रतिज्ञा थी तब बाला का मन के साथ कोई संबंध नहीं समझा था। फिर आज प्रचलित किसी रीति और विधान से वह संपन्न नहीं हुआ। व गान-गत बाहुपाश

आम्रपाली की परिक्रमा करते थे। और उसे सभी से यह प्रतीक्षा रहती थी कि वह उन्हें छोड़कर और किसी से भी प्रेम न करेगी। इसी चाटुकारी, वंचकता और कृत्रिमता से ऊब उठी मैं कुछ ही दिनों में। इस रचना-भरे जीवन से घृणा हो गई मुझे, एकांत प्रिय हो गया मुझे। वैशाली के आनन्द में ही जीवन का अधिकांश व्यतीत कर रही हूँ। अपना थोड़ा-सा समाज बनाया है मैंने। उसे छिन्न-भिन्न न करो। महाराज, मुझ पर दया करो।"

निशा की सघनता में राजप्रासाद परिवेष्टित था। प्रकोष्ठ में सुगंधि-तैल के दीपक चुपचाप अपनी ज्योति बिखेर रहे थे। आम्रपाली कठोर हृदय व्याध के चंगुल में फँसी हुई मृगी के समान विवश हो रही थी। प्रभात-समय से उसने कुछ भी खाया नहीं था, जिस कारण उसकी विकलता और भी अधिक हो गई थी।

आम्रपाली के बार-बार विरोध करने पर भी अजातशत्रु ने उसे अपने सन्निकट वातायन में बन्द कर दिया। मानसिक आवेश के कारण आम्रपाली ने एक दीपक की शिखा पर अपना जूड़ा झुकाकर रख दिया, बाल जल उठे। उसके किसी ने आग बुझा दी। वह अचेत हो गई!

अजातशत्रु ने घबराकर उसे झकझोरा।

आम्रपाली न बोली।

"आम्रपाली! आम्रपाली!"

आम्रपाली निस्तब्ध थी। सिर के बाल प्रायः जल चुके थे मुख भी झुलस गया था।

अजातशत्रु ने चिन्ताकुल होकर उसे शय्या पर रख दिया, और द्वाररक्षक को पुकारते हुए कक्ष छोड़कर बाहर चला गया। मद की व्यापकता या चिन्ता की सघनता के कारण वह द्वार खुला ही रह गया।

अजातशत्रु की एक नवीन रानी का प्रकोष्ठ निकट ही था, वह उसके अत्याचार को बड़े मनोयोग से सुन रही थी। आम्रपाली की ओर उसकी मर्म वेदना खिंच रही थी बड़ी देर से। उसका उद्धार करना निश्चित कर चुकी थी वह। अवसर पाते ही वह आम्रपाली को अचेतनावस्था में ही निकाल ले गई। एक दासी की सहायता से उसने उसे चेतना दी। आम्रपाली उसी समय अपने शील की रक्षा करने के लिये निकल भागने को उद्यत हो गई अकेले ही। उसको अग्नि-दाह की भी कोई चिंता न रही। आकृति उसकी बड़ी विवर्ण और कुरूप हो गई थी। रानी ने एक दासी को सहचारिणी कर दिया पाथेय के साथ।

आम्रपाली निकल पड़ी मगध के बाहर। उसकी उत्कट इच्छा ने बड़ी धीरता के साथ मार्ग के श्रम और तम को जीत लिया।

अजातशत्रु को दूतगृह के पास आने-जाने में बड़ी देर लग गई। जब वह लौटा, तो आम्रपाली से रिक्त कक्ष को पाकर उसके क्रोध का अंत न रहा। उसने चारों ओर खोज की और निष्फल ही रहा। अंत में यह कल्पना कर ली गई कि अग्नि से दग्ध आम्रपाली पीड़ा से व्याकुल होकर किसी कूप में कूद पड़ी है या वन में किसी पशु के दाँतों और पंजों में विलीन हो गई है।

स्थान-स्थान पर धर्म के चक्र को चलाते हुए अमिताभ को अनाथपिंडक ने दूत भेजकर अपने निमंत्रण का स्मरण दिलाया। वह श्रावस्ती को चले।

श्रावस्ती में अनाथपिंडक ने राजकुमार जेत का सुरम्य-वन उसके धरातल पर स्वर्ण-मुद्राओं से आच्छन्न कर क्रय किया था। अनाथपिंडक ने वह जेतवन अमिताभ और उनके संघ को प्रदान कर दिया।

जेतवन अमिताभ का परम प्रिय विहार बना। उन्होंने वहाँ

अनेक वर्षा-वास व्यतीत किए। भिक्षुओं के मुख-सूत्रों ने वहीं स्थान धारण किया।

वेणुवन में धर्म की नवीन व्याख्या करते हुए अमिताभ को कुछ दिन हो गए। वैदिक कर्म-कांडियों ने उस नवीन धर्म को अपना प्रबल शत्रु समझा। वे शास्त्र-पक्ष से उसका विरोध करने लगे पर उनकी कुछ भी न चली।

अंत में उन्होंने अमिताभ की प्रतिष्ठा को कलंकित करने के लिये बड़ा नीच मार्ग पकड़ा। उन्होंने चिंता-नामक एक भ्रष्ट नारी को धन का लालच देकर अपने पक्ष में किया। रात्रि के समय जब जन-समुदाय बुद्ध के उपदेश सुनकर घर को लौटता तब चिंता उनके संघ की ओर जाती और प्रभात-समय जब लोग उनके दर्शनों के लिये आते तब चिंता कुछ कुंतल और सिकुड़े पड़े हुए परिधान किए हुए संघ से लौटती हुई दर्शनार्थियों को मार्ग में मिलती।

धीरे-धीरे कुछ महीने के पश्चात् चिंता ने जनता में यह प्रचार करना आरंभ कर दिया कि वह बुद्ध के द्वारा गर्भवती हो गई है। एक दिन संघ की भरी सभा में बुद्ध के सामने ज्यों ही वह कहना आरंभ किया त्यों ही उसके पेट पर बँधा हुआ कपड़ा शिथिल होकर भूमि पर गिर पड़ा और उसका कपट खुल गया! भगवान् की लीला!

चिंता लज्जा से मर-मिट गई। उसे घोर पश्चात्ताप हुआ। उसने पाखंडियों के षड्यंत्र का उद्घाटन किया और अमिताभ के चरणों में गिरकर क्षमा-याचना की। अमिताभ ने उसे धर्म की शरण देकर उसके जीवन का भार ग्रहण कर लिया।

श्रावस्ती से बुद्ध ने वत्सराज की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में अनेक व्यक्ति को अपने उपदेशों से लगातार उनका मुख्य कर्तव्य था।

मार्ग में सर्वविद-नामक एक ब्राह्मण ने उनको देखा, उनका भव्य स्वरूप देखकर वह उनके निकट आया। उसने उन्हें गुरु के समीप से शिक्षा-दीक्षा पूर्ण कर घर को लौटता हुआ कोई ब्रह्मचारी समझा। उसने पूछा—"हे ब्रह्मचारी! तुमने गुरु के निकट किस विद्या की परिपक्वता उपलब्ध की है?"

"संसार-व्यापी अज्ञान और अंधकार के नाश करने को मैं जीवों की चिंता मिटाने और उनके दुःख के उपशम के लिये फिर रहा हूँ।"

तुम मेरी भी चिंता मिटाकर मेरे दुःख का नाश कर दोगे, ऐसा विश्वास है मुझे।'

"विश्वास सदैव ही फलदाता है।'

'मैं तुम्हें अपनी कुटी पर चलने के लिये आग्रह करूँगा। आज तुम मेरा आतिथ्य ग्रहण कर मेरे दुःख का हरण करो।"

अमिताभ सम्मत होकर उसकी कुटी पर गए शिष्य-मंडली को वहीं छोड़कर।

कुटी पर पहुँचकर ब्राह्मण ने अमिताभ को अर्घ्य और आसन दिया। कुछ फल-फूल और जल उनके सेवन के लिए समीप रक्खे। हाथ जोड़कर वह खड़ा हो गया और बोला—"हे तपस्वी महानुभाव! तुम मेरी चिंता का हरण करो।'

'हे ब्राह्मण! जगत् का यह समस्त सुख एक क्षणिक वस्तु है, नाशवान् है। इसकी आकांक्षा ही चिंता का मूल है।"

"मैं जगत् की किसी भी वस्तु का लाभ नहीं करता।

तुम्हें भय है ब्राह्मण। तुम मुक्ति के मार्ग से दूर नहीं हो सकते।'

"मैं घोर बंधन में हूँ। तुम चाहे समझो हर मेरे मन की चाँदनी।

कहकर उसने पुकारा—"मागधी!"

एक परम रूपवती षोडशी ने लज्जा-विनत होकर मंद-मंद पगों से प्रवेश किया वहाँ पर और चुपचाप खड़ी हो गई।

मार्गंधिक बोला—'यह रूप-गुण संपन्ना मेरी कन्या मागंधी है। इसका विवाह कर मैं अपने कर्तव्य-भार से मुक्त होना चाहता हूँ।"

अमिताभ के मुख पर मंद मुसकान झलकी।

"यह मातृ-हीना है अवश्य, पर तुम्हें यह न समझना चाहिए, वह गृहस्थ के किसी काम में दक्ष नहीं है। तुम इसके योग्य पात्र हो, इसका वरण कर ले जाओ। यह अल्प काल में ही सिद्ध कर देगी, यह तुम्हारे अनुरूप पात्री है।"

अमिताभ उठ खड़े हो गए—"मैं अमिताभ बुद्ध हूँ। मैं अजन्मा हूँ, मैं मरता भी नहीं हूँ, मेरा विवाह भी नहीं होता, मेरी मृत्यु भी नहीं है। तुम्हें मेरे समझने में भूल हुई है। मैं किसी कन्या का पाणि ग्राही नहीं हूँ।" वह पैर बढ़ाकर चल दिए।

ब्राह्मण मूक-विस्मित देखता ही रह गया।

मागंधी भी देखती रह गई। उसने पहचाना एक सौंदर्य-शालिनी षोडशी का अपमान कर जाते हुए उस मनुष्य का। उसने हाथों की मुट्ठियाँ भींचकर मन में प्रतिज्ञा की—"इसने मेरे रूप का जो अपमान किया है, उसे मैं न भूलूँ। हे भगवान्, मुझे अवसर देना कि मैं इसकी पूरी-पूरी प्रतिहिंसा ले सकूँ।"

संयोग-वश कुछ ही दिनों में वहाँ वत्सदेशाधिपति उदयन आ पहुँचे। उन्होंने वहाँ मागंधी को देखा और उसके रूप के मोह में पड़ गए। मागंधी राजा के वरण के लिये लालायित हो उठी और मार्गंधिक को उसे उदयन को समर्पित करना पड़ा।

भ्रमण करते हुए अमिताभ कौशांबी जा पहुँचे। चारों ओर उनकी कीर्ति फैल गई। लोगों के समूह उनके पास जा-जाकर उनके धर्म में दीक्षित होने लगे।

मागन्दी ने वत्सराज के अंतःपुर में प्रवेश कर प्रधान रानियों की श्रेणी में स्थान पाया। पद्मावती उदयन की एक दूसरी रानी का नाम था। वह कुल में श्रेष्ठ, शील में अनुकरणीय और गुणों में अग्रगण्य थी। महाराज का उस पर अनन्य प्रेम था। मागन्दी को कुछ दिन पश्चात् ही यह मालूम हो गया। वह भीतर-ही-भीतर पद्मावती से जलने लगी।

अमितराम के कौशाम्बी-आगमन का समाचार महाराज के अंतःपुर में पहुँचा। राजसभा में बहुत पहले ही सुना जा चुका था। वास्तव में महाराज उदयन ने कोई ध्यान नहीं दिया।

महारानी पद्मावती की उद्यान-बाला उस दिन उसके प्रासाद की सज्जा के लिये फूलों में अधिकांश कलियाँ तोड़कर ले चली।

पद्मावती बोली—"मालिन क्या हो गया तुझे ? ऐसे शोक-दलित-ध्यान क्यों हो गई तू ? कौन चिंता पाकर तेरे मन में निवास करने लगी। सच बता, क्या तू किसी के प्रेम में बावली हो गई है या आधी से अधिक कलियाँ बीन लाकर रख दीं तूने मेरे प्रासाद में।"

"भूल हो गई महारानी ! नगर में एक महात्मा आए हैं, उनका नाम अमितराम है। जब से मैंने उनके दर्शन किए हैं, मेरे मन की भावना ही कुछ दूसरे प्रकार की हो गई है।"

"मेरे मन में भी उनके दर्शन की लालसा जाग उठी है। उनके आश्रम तक जा नहीं सकती मैं बिना महाराज की आज्ञा के। कहीं नहीं बुला ला सकती तू उन्हें एक दिन।"

"आपके प्रासाद के समीपवर्ती मार्ग से ही तो वह नित्य नगर में भिक्षा के लिये जाते हैं, पर उस मार्ग में कोई वातायन है नहीं तुम्हारे भवन से।"

"मैं छिद्र बना लूँगी इस प्राचीर में।"

पद्मावती अपने प्रकोष्ठ के प्राचीर में छिद्र बनाकर नित्य अमिताभ के दर्शन करने लगी। एक दिन मागंधी ने भी जब उस छिद्र से बुद्ध को देखा तो उसने उन्हें पहचान लिया। उसे अपना अपमान स्मरण हुआ और उसकी प्रतिहिंसा जाग उठी। मागंधी ने एक ही आघात से अपने मार्ग के दो काँटों को दूर कर देने का उपाय सोच ही तो लिया।

वह चुपचाप वत्सराज उदयन के पास गई और जाकर उनके कान में कहा—"यह मागंधी गुप्त रूप से आपके नगर में आए हुए संन्यासी पर प्रेम करती है। उसने उसको नित्य देखने के लिये अपने कक्ष में एक छिद्र बनाया है।"

मागंधी ने एक दिन वह छिद्र महाराज को दिखा भी दिया। उदयन के मन में संशय की रेखा गहरी पड़ने लगी, और मागंधी चुपचाप सफल-मनोरथ होने की आशा में नित्य नई रीति से महाराज के कान भरने लगी। रात-दिन कुचक्रों की रचना में लगी रहती थी।

महाराज उदयन को वीणा बजाने की विशेष अभिरुचि थी। मागंधी ने एक दिन एक विषधर सर्प मँगाकर उनकी वीणा में रख दिया और यह सिद्ध कर दिया, इसे पद्मावती ने रखा है।

यह देखकर महाराज की उत्तेजना यहाँ तक बढ़ी कि वह धनुष-बाण लेकर पद्मावती के वध के लिये उद्यत हो गए।

पद्मावती अपने कक्ष के छिद्र से उस समय बाहर मार्ग में जाते हुए अमिताभ के दर्शन कर रही थी। उदयन ने बाण छोड़ दिया। अकस्मात् मागंधी के [illegible] ने उन्हें ऊपर आकर्षित कर लिया।

मागंधी को उस सर्प ने डस लिया। मरते हुए उसने अपना पाप स्वीकार किया। पद्मावती बच गई। बाण लक्ष्य-भ्रष्ट हो उस छिद्र के मार्ग से बाहर चला गया और पथ में उछलकर अमिताभ के चरणों पर गिर पड़ा।

अमिताभ ने उस तीर को उठाया, उसमें महाराज उदयन का नाम था। वह सीधे राजभवन को चले, और महाराज के निकट गए। किसी ने उनका मार्ग रोका नहीं।

पद्मावती की बहुत दिनों की आशा पूर्ण हुई। वह अमिताभ की शरण को प्राप्त हुई। वत्सराज उदयन को अमिताभ की सौम्य मूर्ति ने प्रभावित किया। उसने उनका अतिथि-सत्कार किया, और समस्त प्रासाद ने समवेत होकर उनके उपदेश सुने। महाराज उस नवीन विरत-प्रेममय धर्म की छाया में प्रणत हुए।

---

१६ पितृहंता

अनजाने मार्ग में अनेक कष्टों को सहती हुई पैदल ही श्रावस्ती जा पहुँची अनाथपिंडक के पास। अनाथपिंडक उसे पहले पहचान ही न सका। आम्रपाली ने उसके चरणों पर सिर रखकर कहा—"मैं आम्रपाली हूँ। मुझे अजातशत्रु के अनुचर कुल-प्रपंच से पकड़ा ले गए। आपके निकट मैं अपराधिनी और पतिता हूँ, मुझे क्षमा करो।"

"आम्रपाली! इस विश्व-सृष्टि में कोई भी पतित नहीं। उसने पश्चात्ताप के विमल जल से सबके पापों को धो दिया है। वह जेतवन में विराजमान है। उसके दर्शन में पवित्रता, स्पर्श में पापों से परित्राण, उसकी वाणी में अमृत और उसके उपदेशों के अनुसरण में परमपद निर्वाण है। चलो, मैं तुम्हें उसके निकट ले चलूँगा।"

"अमिताभ बुद्ध! हाँ, मैं केवल-मात्र उन्हीं की आशा पर जी रही हूँ।"

"मैं अपना जीवन और धन-रत्न, सब कुछ संघ की भेंट कर चुका हूँ। केवल तुम शेष थीं, चलो, तुम्हें भी उस परम शांति-दायक शरण में समर्पित कर दूँगा।"

अमिताभ की शरण में जाकर आम्रपाली पाप-ताप से मुक्त हो गई। उसने बुद्ध के उपदेशों का अनुसरण करने के लिये जगत् के समस्त बंधनों को छिन्न कर दिया।

श्रावस्ती से एक दिन अमिताभ धर्म का बीज बोते हुए राजगृह जा रहे थे। मार्ग में कपिलवस्तु, अपनी जन्म-भूमि, के स्थान

चले भी गए। शाक्य जाति का एक दुर्बल राजा वहाँ नाममात्र का शासन-सूत्र सँभाले हुए था।

अमिताभ ने देखा, श्री और समृद्धि से परिपूर्ण वह राजनगरी सूनी पड़ी थी।

उनका शिष्य आनंद बोला—'आचार्य, क्या देखना है इस कपिलवस्तु को। मुझे तो इसके अतीत चित्र की इस दशा के साथ तुलना करने में बड़ा कष्ट हो रहा है। ये खँडहर भी अब कुछ दिनों में धूलि में मिलकर अंतर्धान हो जायेंगे।"

"उत्थान ही पतन है आनंद, फिर भी यह न समझो, कपिलवस्तु भूमिसात् हो गई। इस कपिलवस्तु ने ही जाकर सारे आर्यावर्त को ढक लिया है।'

जब शेष राजा के पास जाकर बुद्ध ने कहा—"हे शाक्य-वंश के वर्तमान महाराज! तुमने यहाँ का यह सूना और माया-राज्य पकड़ रक्खा है, क्या वास्तव में तुम्हें उसका अनुभव भी हो रहा है?"

अमिताभ को पहचानकर शाक्य राजा सिंहासन से उतर आया, और उनके पाँवों पर गिर पड़ा।

अमिताभ बोले—"हे राजन्! मन से बढ़कर श्रेष्ठ और विस्तृत राज्य संसार में दूसरा कोई नहीं। इस पर राज्य कर सको तो तुम चक्रवर्ती सम्राट् से भी तुलना में बड़े हो जाओगे। फिर तुम्हें किसी सुख की चाहना न रहेगी। फिर तुम किसी दिग्विजय के लिए व्याकुल न रहोगे।"

अमिताभ ने उस अंतिम राजा के मन में भी वैराग्य उपजा दिया। उसे भी शिष्य बनाकर अपने संघ में सम्मिलित कर लिया।

मार्ग में जाते हुए वन में बुद्ध को जाल में फँसा हुआ एक मृग दिखाई दिया। अमिताभ ने उसके बंधन काट दिए। मृग ने बड़ी कृतज्ञता-भरी दृष्टि से उन्हें देखा, और वन में जाकर छिप गया।

उसी समय व्याध आ पहुँचा। अत्यंत क्रुद्ध होकर उसने कहा— "अरे निर्दयी मनुष्य, तुझे दया नहीं ! यह मृग मेरे और मेरे परिवार का आधार था। आज हम सब क्या खायेंगे ?"

"तू धरती-माता की दया पर जीवित न रहकर निरीह और रक्षा-विहीन पशुओं के जीवन पर जीता है। हे व्याध ! तू उदारता सीख। सत्य को पहचान। जैसे यह मृग तेरे जाल में फँसा था, ऐसे ही तू भी इंद्रियों की कामना के डोरों में बँधा हुआ है, और काल-रूपी महाव्याध किसी समय तुझे भी निगल जायगा। मैंने जैसे इस मृग को मुक्त किया है, वैसे ही तेरे बंधन भी खोल दूँगा।"

व्याध चकित होकर उन्हें देखने लगा।

अमिताभ ने प्रेम से भरी दृष्टि उसके सिर से पैर तक निक्षिप्त की— "संताप छोड़ दे व्याध ! विश्वास कर। मैं वसुंधरा पर जन वैर मिटाकर उसे अहिंसा और प्रेम से आनन्द करने आया हूँ।"

व्याध को एक शान्ति मिली। वह अपने धनुष-बाण फेंककर, अहिंसा का व्रती होकर अपने घर चला गया।

अमिताभ राजगृह पहुँचे। उधर मगधदेश की प्रजा अजातशत्रु और देवदत्त के अत्याचारों से पीड़ित हो उठी, तथा उसका राजकोष उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति करने में अपर्याप्त हो गया।

देवदत्त ने कहा—"तुम मगध के भावी सम्राट् हो। राजा वृद्ध और नास्तिक हो गया है। उसे सिंहासन-च्युत कर देना कोई पाप नहीं। चलो तुम उसे बंदी कर मगध के सम्राट् बनोगे, और मैं सिद्धार्थ का वध कर अमिताभ बनूँगा।"

अजात के मुख पर प्रसन्नता दिखाई दी।

देवदत्त ने फिर कहा—"तुम्हें शीघ्रता-से-शीघ्रता करनी उचित है। महाराज के मन में अनीति है, इसी से वह अपने छोटे पुत्र को

मगध का राजमुकुट देना चाहते हैं। तुम तो यह अंगदेश के पति बनाए गए हो, यह तुम्हारा राजतिलक नहीं, निर्वासन है।"

"तुम्हारी बातों से मेरा रक्त उबल पड़ता है।"

"पर वे सत्य हैं, मेरा कोई स्वार्थ नहीं। राजनीति की कूट चालों और चाटुकारों के बहकावे में मेरे मित्र का जन्मजात स्वत्व छिन न जाय, यही चाहता हूँ मैं।"

"तो चलो, हम शीघ्र-से-शीघ्र मगध पर चढ़ाई कर दें।"

"यह क्रोध का आवेश है, जिसका परिणाम अपनी दुर्बलता का प्रदर्शन होगा। इसे त्यागकर नीति से काम लो। तुम सहसा मगध के राजमंदिर में प्रवेश करो, महाराज को बंदी बना उनके प्रभु होकर राजमहल के बाहर निकलो।"

"क्या मगध की प्रजा चुपचाप इसे सहन कर लेगी?"

"प्रजा भक्ति और विजयी का साथ देती है। मंत्रियों का भगवान् धन और प्रभुता है।"

"क्या अभिजात का विरोध अब नहीं पनप रहा है मगध में।"

"हम एक बड़ी सेना एकत्र कर लेंगे यहाँ, सैन्य के वेतन और सुन्दरी बालाओं में बाँधकर। राजगृह के बाहर उसे छिपा रखेंगे। आवश्यकता पड़ने पर वह हमारी सहायता को दौड़ी आयेगी।

सम्पूर्ण षड्यन्त्र की रचना कर अजातशत्रु ने आकस्मिक-आक्रमण का बहाना किया। दल-बल-सहित उन्होंने राजगृह में प्रवेश किया, और छल-पूर्वक वृद्ध राजा को बंदी कर लिया। प्रजा में चार असन्तोषता फूट रही जिसे अजातशत्रु देवदत्त और उनके सहायक शीघ्र ही शांत कर लेने में समर्थ हो गए।

अजातशत्रु को मगध के सिंहासन पर बिठा दिया गया। अब देवदत्त अपनी इच्छा की पूर्ति के प्रयत्न में लगा। उसने एक हाथी को

मदिरा पिलाकर उन्मत्त कराया और उसे संघ के भीतर घुसवा दिया।

हाथी चारों ओर उत्पात करने लगा। शिष्यगण त्रस्त होकर इधर-उधर भागने लगे। अमिताभ ने उस पशु को देखा, जो हिंसा में मरा हुआ उनकी ओर दौड़ा आ रहा था।

अमिताभ विचलित न हुए तिल-भर भी। उनके आसन में अचल, मुद्रा में शांति और भाव में अविकृत ही रहे वह।

उनके शिष्य काश्यप और आर्नंद चिल्लाए एक वृक्ष की ओट से—'गुरुदेव! रक्षा कीजिए।'

अमिताभ ने हँसकर कहा—"हमारे मन की हिंसा के कारण ही बाह्य जगत् में हिंसा का भय है। काश्यप! भय को निर्मूल करो, आर्नंद! मन को प्रेम के उदार भाव से युक्त करो। यह तो भाव के समान शांत और सौम्य हो गया!"

शिष्यों ने देखा, अमिताभ की दृष्टि पड़ते ही उस मदोन्मत्त हाथी का सारा क्रोध उड़ गया। उसने बुद्ध को देखकर उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया।

विफल-मनोरथ होने पर देवदत्त ने तीस धनुर्धरों को अमिताभ के वध के लिये प्रचुर धन देकर प्रेरित किया, और कहा—"उनके मारे जाने पर इतना ही धन तुम्हें और मिलेगा। जिसके बाण से उनकी मृत्यु होगी, इतना ही धन उसे भी और दूँगा।"

तीसों धनुर्धारी उस दया के अवतार को मारने के लिये धनुष-बाण सँभालकर चले। पर उनकी भी वही दशा हुई। ज्यों-ज्यों वे अमिताभ के आश्रम के निकट होते गए, त्यों-त्यों उनके मन का भाव बदलता गया। कुछ दूर और चलने पर उन्होंने देवदत्त का दिया हुआ द्रव्य और धनुष-बाण सब दूर फेंक दिए।

बुद्ध के चरणों पर गिरकर उन्होंने अपना पाप प्रकट किया, पश्चात्ताप किया, और क्षमा माँगी। उन्हें तुरंत ही क्षमा मिल गई।

पशुओं ने अपनी हिंसा-वृत्ति का सदैव के लिये त्यागकर अमिताभ की शरण ली।

बुद्ध को जब महाराज बिंबिसार के बंदी होने का समाचार मिला, तो उन्होंने अजातशत्रु के पास एक शिष्य को भेजकर यह कहलाया कि शासन के समान एक क्षणिक सुख के लिये पिता को बंदी बनाना उचित नहीं।

अजातशत्रु बहुत कुपित हो उठा इससे। उसने प्रत्युत्तर में कहला भेजा—"यदि तुम शांति-पूर्वक न रहोगे, मगधाधिपति के विरुद्ध भिक्षु लाओगे, तो तुम राज्य के बाहर निकाल दिए जाओगे।"

अजातशत्रु ने फिर देवदत्त को बुलाकर कहा—"देवदत्त, तुम्हारा प्रतिद्वंद्वी अभी तक जीवित ही है। वह मेरे विरुद्ध भी आपत्ती खड़ी कर रहा है। इसकी औषधि न करोगे क्या शीघ्र ही?"

'क्यों नहीं महाराज! मैंने कई प्रयत्न किए हैं, वे सब विफल हुए हैं। कारण मैं जानता हूँ। इस बार मैं किसी को नियुक्त न करूँगा, स्वयं ही आगे बढ़ूँगा, फिर देखता हूँ वह अपने को अमिताभ कहनेवाला कैसे इस धरती पर साँस लेता है।'

एक दिन बुद्ध जब संघ के बाहर एक पर्वत की तलहटी में होकर जा रहे थे, देवदत्त चुपचाप ऊपर पर्वत में छिपे-छिपे उनका अनुसरण कर रहा था। पर्वत के शिखर पर एक बहुत बड़ा पत्थर था, ठीक उसके नीचे मार्ग में बुद्ध जा रहे थे। देवदत्त ने बुद्ध की गति, स्थान और पत्थर के लुढ़कने के समय का अनुमान कर उस विशाल शिला को नीचे गिरा दिया!

शिष्यगण चिल्ला उठे—"महाराज! इधर आइए, भयानक शिला आपके ऊपर गिरना ही चाहती है।"

पर वे धीर-सौम्य अमिताभ के पद विचलित नहीं हुए। वे न वेग से आगे को ही बढ़े, न संकुचित होकर पीछे को ही खिंचे।

मदिरा पिलाकर उन्मत्त कराया और उसे संघ के भीतर छुड़वा दिया।

हाथी चारों ओर उत्पात करने लगा। भिक्षुगण त्रस्त होकर इधर-उधर भागने लगे। अमिताभ ने उस पशु को देखा, जो हिंसा में भरा हुआ उनकी ओर दौड़ा आ रहा था।

अमिताभ विचलित न हुए तिल-भर भी। अपने आसन में अचल, मुद्रा में अविरत और भाव में अविकृत ही रहे वह।

उनके शिष्य काश्यप और आनंद चिल्लाए एक वृक्ष की ओट से—"गुरुदेव! रक्षा कीजिए।"

अमिताभ ने हँसकर कहा—"हमारे मन की हिंसा के कारण ही बाह्य जगत् में हिंसा का भय है। काश्यप! मन को निर्भय करो, आनंद! मन को प्रेम के उदार भाव से शुद्ध करो। वह तो गाय के समान शांत और सौम्य हो गया!"

शिष्यों ने देखा अमिताभ की दृष्टि पड़ते ही उस मदोन्मत्त हाथी का सारा क्रोध उड़ गया। उसने घुटने टेककर उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया!

विफल-मनरथ होने पर देवदत्त ने तीस धनुर्धरों को अमिताभ के वध के लिये प्रचुर धन देकर क्रीत किया और कहा—"उसके मारे जाने पर इतना ही धन तुम्हें और मिलेगा। जिसके बाण से उसकी मृत्यु होगी उतना ही धन उसे भी और दूँगा।"

तीसों धनुर्धारी उस दया के अवतार को मारने के लिये धनुष-बाण सँभालकर चले। पर उनकी भी वही दशा हुई। ज्यों-ज्यों वे अमिताभ के आश्रम के निकट होते गए, त्यों-त्यों उनके मन का भाव बदलता गया। कुछ दूर और चलने पर उन्होंने देवदत्त का दिया हुआ द्रव्य और धनुष-बाण सब दूर फेंक दिए।

बुद्ध के चरणों पर गिरकर उन्होंने अपना पाप प्रकट किया, पश्चात्ताप किया और क्षमा माँगी। उन्हें तुरंत ही क्षमा मिल गई।

धनुर्धरों ने अपनी हिंसा-वृत्ति का सदैव के लिये त्यागकर अमिताभ की शरण ली।

बुद्ध को जब महाराज बिंबिसार के बंदी होने का समाचार मिला, तो उन्होंने अजातशत्रु के पास एक शिष्य को भेजकर यह कहलाया कि छाया के समान एक कल्पित सुख के लिये पिता को बंदी करना उचित नहीं।

अजातशत्रु बहुत कुपित हो उठा इससे। उसने प्रत्युत्तर में कहला भेजा— 'यदि तुम शांति-पूर्वक न रहोगे, मगधाधिपति के विरुद्ध जिह्वा चलाओगे, तो तुम राज्य के बाहर निकाल दिए जाओगे।"

अजातशत्रु ने फिर देवदत्त को बुलाकर कहा— 'देवदत्त, तुम्हारा प्रतिद्वंद्वी अभी तक जीवित ही है। वह मेरे विरुद्ध भी बातें कैसी कर रहा है। इसकी औषधि न करोगे क्या शीघ्र ही?"

"क्यों नहीं महाराज! मैंने कई प्रयत्न किए हैं, वे सब विफल हुए हैं। कारण मैं जानता हूँ। इस बार मैं किसी को नियुक्त न करूँगा, स्वयं ही आगे बढ़ूँगा, फिर देखता हूँ वह अपने को अमिताभ कहनेवाला कैसे इस धरती पर साँस लेता है।"

एक दिन बुद्ध जब संघ के बाहर एक पर्वत की तलहटी से होकर जा रहे थे, देवदत्त सशस्त्र ऊपर पर्वत में छिपे-छिपे उनका अनुसरण कर रहा था। पर्वत के शिखर पर एक बहुत बड़ा पत्थर था, ठीक उसके नीचे मार्ग में बुद्ध जाने को थे। देवदत्त ने बुद्ध की गति, स्थान और पत्थर के लुढ़कने के समय का अनुमान कर उस विशाल शिला को नीचे गिरा दिया।

शिष्यगण चिल्ला उठे— 'महाराज! इधर आइए, भयानक शिला आपके ऊपर गिरना ही चाहती है।'

पर वे धीर-सौम्य अमिताभ के पद विचलित नहीं हुए। वे न वेग से आगे को ही बढ़े, न संकुचित होकर पीछे को ही खिसके।

यह लिखा एक सुकुमार भिक्षु की आँखें उनके चरणों पर आकर रुक गईं। अमिताभ हँसकर बोले—"मैं जानता हूँ, बस यही शेष वेदना है।"

शिष्यों ने पूछा—"कहाँ चोट लगी?" वे उनके अंग-प्रत्यंग का निरीक्षण करने लगे।

"कहीं नहीं।" अमिताभ ने सहज भाव से कहा।

शिष्यों ने देखा, उनके बाएँ पैर के अँगूठे में चोट आ गई थी। दूसरे दिन उसमें बहुत शोथ आ गया। अमिताभ चल न सके। उस दिन उनका विचार उस सिद्धौदी ग्रामाध्यक्ष के यहाँ से कहीं अन्यत्र चले जाने का था।

आर्य राजचिकित्सक जीवक को बुलाया गया। जीवक तक्षशिला के विद्यालय का स्नातक था। देश में दूर-दूर उसकी ख्याति थी।

जीवक ने अमिताभ के चरण पकड़कर कहा—"भगवान्, गुरु को कैसी पीड़ा?"

"जन्म की पीड़ा जीवक! ये पंचभूत ही तो पीड़ा के कारण हैं। इन्द्रियों तक यह पीड़ा आने से अधिक हो जाती है, मन तक आने में अधिकतर। यदि मन को इस पीड़ा से मुक्त रख सकें, तो कोई पीड़ा नहीं। जीवक, मुझे कोई पीड़ा नहीं क्योंकि मैंने जगत में रस-विहीनता का अनुभव किया है।"

जीवक ने अमिताभ के दोनों चरण पकड़कर उन पर अपना मस्तक रख दिया—"मैं बुद्ध की शरण हूँ। मैं आपके पैर की पीड़ा दूर करूँगा, आप मेरे जन्म की बाधा हरण कीजिए।"

जीवक बौद्ध धर्म ग्रहण कर अमिताभ का अनन्य भक्त हो गया। अल्प समय में ही जीवक के उपचार से अमिताभ के चरण की पीड़ा ठीक हो गई और वह वैशाली की ओर चले गए।

उधर ठीक उसी समय देवदत्त की कमर में एक टीस-सी उठी,

पर उसकी कोई चिंता न कर वह दौड़ा हुआ अजातशत्रु के पास आकर बोला—"मैं उस सम्राट का पुत्र हूँ महाराज!"

पर दूतद्वय का वह अहंकार शीघ्र ही भूमि में मिलकर नष्ट हो गया।

अमिताभ के राजगृह से चले जाने के पश्चात् अजातशत्रु ने बंदीगृह में महाराज बिंबिसार का भोजन और जल दोनों बंद कर दिए। महारानी किसी प्रकार छुपा-छिपाकर उनको आहार पहुँचा रही थी। अजातशत्रु ने महारानी का प्रवेश भी वहाँ बंद कर दिया।

पिता को बंदी बनानेवाला राजकुमार विषय भोग और विरुद्धधर्मी राजाओं के साथ संधि विग्रह में भूला रह गया। एक दिन दासी ने आकर उससे सविनय कहा—"महाराज, बड़ी महारानी के पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ है।

अजातशत्रु मानो स्वप्न से जाग उठा। उसके हर्ष की सीमा न रही। उसने बहुमूल्य रत्नहार उतारकर दासी को दे दिया—"ले दासी! इस हर्ष-समाचार के लिये तेरा उपहार। यह मेरी प्रसन्नता का परिचायक है। क्या किसी और को भी ऐसी प्रसन्नता मिली होगी?"

"क्यों नहीं। जिस दिन आपका जन्म हुआ होगा, उस दिन आपके पिता भी ऐसे ही हर्षित हुए होंगे।"

"पिता!" अजात ने चीत्कार छोड़ी। वह दौड़ता हुआ बंदीगृह में गया। उसने देखा उसके पिता महाराज बिंबिसार भूमि पर पड़े हुए हैं। अजात ने उन्हें उठाकर पुकारा—"पिता!"

पुत्र की प्रेम-पुकार का उत्तर देनेवाले उस वृद्ध महाराज के शरीर से प्राण फिर न लौटने के लिये चले गए थे। अजातशत्रु सिर थामकर रह गया। चारों ओर एक भयानक अघटित माया मूर्तिमती होकर उसका उपहास करने के लिये नाचने लगी।

असहाय होकर प्रभात ने देवदत्त को बुलाने के लिये दूत भेजा। दूत ने लौटकर विनय की—"महाराज, राजकुमार देवदत्त पर अचानक गिर चुका है, और उनकी दशा अत्यंत शोचनीय है।

प्रभात ने दूत भेजकर यह खोज कराई कि अमिताभ कहाँ है। दूत ने आकर कहा—"महाराज, अमिताभ अनेक दिन हुए, सैन्य सहित यहाँ से विदा हो गए हैं। पास-पड़ोस में भी उनका कहीं पता नहीं है।'

वह पिता का बालक अपने पाप के भार से खिन्न होकर इधर उधर बिचरने लगा उन्माद की भाँति। विलास-उत्सव, मंत्री-परिषद्, राज्य-प्रजा, इष्ट-मित्र, हय-गज, श्री-संपत्ति, दुर्ग-प्रासाद, सेना-सेवक, इनमें से कोई भी उसे शांति न दे सका।

वैशाली में अमिताभ आम्रपाली के आम्रवन में ठहरे। जब आम्रपाली ने यह सुना तो वह अनेक दिनों की आशा-पूर्ति से आनंद पुलकित होकर रथ पर चढ़कर उनके दर्शनों को चली। मार्ग में वैशाली के लिच्छवी राजगण भी उनको निमंत्रित करने जा रहे थे।

आम्रपाली ने सारथी से और भी शीघ्र रथ हाँकने का अनुरोध किया। एक स्थान पर उसका रथ एक लिच्छवी राजा के रथ से टकरा गया।

राजा बोला—"हे अभिमानिनी वारवनिते! किस प्रेमिक के लिये तू यह अभिसार कर रही है जो तेरी और तेरे रथ की दृष्टि भूमि पर पड़ी है?"

आम्रपाली बोली—"हे राजन्, सचमुच ही मैं प्रेम की पगली हो गई हूँ। अनेक वर्षों से मैं जिस प्रेमिक की प्रतीक्षा कर रही थी वह आया है आज। इसी हर्ष की उत्सुकता में मैं अंधी हो गई हूँ।

आज मैं उसका वह अनन्त प्रेम पाऊँगी, जो बुद्ध और केवल दोनों का अमित बन विश्व में व्याप्त है। जिस प्रेम से न कहीं विर है न मिलन।"

आम्रपाली अपने रथ में आगे बढ़ गई।

लिच्छवी राजा अपने साथियों से कहने लगा— "यह विश्वामित्र आज इतने सादे और सात्विक वेश में क्या अमिताभ के पास तो नहीं जा रही है?"

आम्रपाली अमिताभ के दर्शन कर पवित्र हुई। उसने उन्हें सं सहित अपने घर निमंत्रित किया। बुद्ध ने उसे स्वीकार किया। उ समय लिच्छवी राजाओं ने भी उन्हें निमंत्रित किया। पर अमिता पहले आम्रपाली के ही यहाँ गए। आम्रपाली भिक्षुणी हो गई उसने अपना सर्वस्व और आम्रवन संघ को दान कर दिया।

अमिताभ अनाथपिंडक के आग्रह पर श्रावस्ती को गए। व अपना महेन्द्र सर्वस्व दे अमिताभ का अनन्य भक्त हो गया।

कृष्णा-नामक एक गौतम महिला के एक ही पुत्र था, उसका मृत्यु हो गई। पुत्र-वियोग के इस दारुण दुःख में वह महि आत्म-भान भुला विलाप करने लगी अपने हृदय से। वह किस प्रकार उस शिशु के शव को अपनी छाती से अलग करने को सम्म न हुई। कुछ लोगों ने उससे कहा— 'अवश्य भगवान् बुद्ध सर्व-शक्ति-सम्पन्न हैं, वही तुम्हारे पुत्र को जीवन-दान दे सकते हैं नहीं तो कोई भी नहीं।

कृष्णा अमिताभ को खोजती हुई उनके पास आई, और मृत पु को उनके चरणों पर रखकर बोली—"हे भगवान्! इस दुखिनी दया करो। मेरा यह एक ही पुत्र मेरे जीवन का अवलम्ब, अंधी सब है, इसे जीवन-दान करो।"

हाँ कृष्णे! मैं जिला दूँगा इसे।" अमिताभ बोले—"पर

वस्तु चाहिए। कुछ राई के दाने, ऐसे घर से लाना, जहाँ कभी किसी की मृत्यु हुई न हो।"

"भगवान् की जय हो! मैं ले आती हूँ अभी।"

कृष्णा उस बालक को छाती से लगाकर राई के दानों की खोज में चली। वह एक द्वार से दूसरे द्वार, एक घर से दूसरे घर, एक टोले से दूसरे टोले एक जनपद से दूसरे जनपद को अपनी करुण कथा सुनाती हुई राई के दानों की भिक्षा माँगती हुई चली।

कोई भी घर ऐसा न मिला, जहाँ उसको ईप्सित भिक्षा मिलती। किसी ने अपने पिता किसी ने पति किसी ने पुत्र किसी ने भ्राता, किसी ने भगिनी किसी ने माता की मृत्यु की करुण कथा उसे सुनाई। कृष्णा ने अनुभव किया, सारा जगत अपने प्रिय के वियोग से दुखी है। उसके हृदय का भार हल्का पड़ा। उसने अपनी गोद के भार को भी हल्का किया। वह धीरे धीरे संतुष्ट पगों से श्मशान की ओर चली। उसने अपने मृत पुत्र का अंतिम संस्कार किया और अमिताभ के निकट हाथ जोड़कर खड़ी हो गई।

"लाई तुम राई के दाने?" अमिताभ ने पूछा।

"हाँ देव! मुझे उससे भी अधिक मूल्यवान् वस्तु मिल गई, उसके आगे फिर राई के दानों का अनुसंधान विस्मृत हो गया।"

'क्या?'

"मृत्यु का विश्वव्यापी रूप देखा मैंने। धनी-निर्धन, राजा-रंक, भक्त-विज्ञ, भिक्षु-साधु, स्त्री-पुरुष, गौर-श्याम, वृद्ध-बाल, सभी के प्राणप्रियों को उसने छीन रक्खा है। मैं पुर-पुर घूमती फिरी। सभी स्थानों में मैंने उसकी कठोरता का मर्म-भेदी हाहाकार सुना। समस्त पुर और जनपदों को अपनी ही पीड़ा से प्रतिध्वनित सुनकर मेरी वेदना मिट गई। मैं अपनी खोज में राई के दाने न पा सकी पर जो कुछ मिला, उससे उनका प्रयोजन ही फिर न रहा। मैंने मोह

छोड़कर अचिरावती के किनारे अपने हृदय के टुकड़े का विसर्जन कर दिया!"

"कृष्णे! तू वीरांगना है! तूने विश्वविजयिनी मृत्यु को देखा है, तू उस पर भी विजय पा सकती है।"

"कैसे?"

"समस्त प्राणी-मात्र के लिये अपने हृदय के प्रेम को विस्तारित कर।"

"मैं उसका विस्तार करूँगी। हे अमिताभ! मुझे शरण दो।

---

२० शत्रु को क्षमा करो

शुद्धोधन का पुत्र राहुल यद्यपि प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु हो गया था, तथापि उसके शील का निर्माण नहीं हुआ था। उसे सत्य का महत्त्व ज्ञात न था, वह बहुधा असत्यवादी था। एक दिन जब राहुल एक पात्र में अमिताभ के पाद-प्रक्षालन कर रहा था तो उन्होंने उससे पूछा— "क्या यह जल पीने योग्य है?"

राहुल, ने कहा—"नहीं, यह धूलि और पुष से मलिन है, अतएव पीने योग्य नहीं।"

"राहुल, ऐसे ही मलिन तुम भी हो। असंयत जिह्वा ने तुम्हें मलिन कर दिया है। जिस कारण भिक्षु-मंडली में तुम परिहार्य हो। तुम एक महाराज के पौत्र हो सही, तुमने यह पीत चीवर पहन रक्खा है सही, इससे क्या होता है।

राहुल विनत मस्तक खड़ा विचार करने लगा।

"क्या इस पात्र में पीने योग्य जल नहीं भरा जा सकता?"

"भरा जा सकता है।

"कैसे?"

"इसे माँजकर।"

"तुम्हें इस शरीर रूपी पात्र का संस्कार करने की आवश्यकता है। इस जिह्वा पर शासन करो। इसके दो मुख हैं। भीतर की ओर यह रस की प्यासी है, और बाहर असत्य का वास रखती है। केवल सत्यशील हो जाने पर इसका दूसरा मुख स्वयं बंद हो जायगा। बिना सत्यशील हुए तुम्हें सम्यक् वाचा प्राप्त नहीं हो

सकती है। तुम मौन-व्रत का अवलंबन करो, इससे तुम्हारी जिह्वा शासित होगी और तुम इस भिक्षु वेश के योग्य पात्र बनोगे।"

'मैं मौन-व्रत का पालन करूँगा।'

"अवश्य राहुल। यह मेरा अंतिम प्रवचन है तुम्हारे लिये। मैं वृद्ध हो चुका, और नहीं जानता किस समय यह प्रदीप निर्वापित हो जाय।"

राहुल ने अमिताभ के चरणों में गिरकर वाणी को विशुद्ध करने की प्रतिज्ञा की। वह दूर एक एकांत विहार में चला गया। वहाँ उसने कुछ दिन मौन रहकर मन का संयमन किया। उसने जिह्वा पर विजय पाई। केवल एक जिह्वा के शासन से ही उसका मन बलवान् हो गया, और शेष इंद्रियाँ स्वतः ही उसकी अनुवर्तिनी हो गई। उसकी मेधा जाग उठी और श्रेष्ठ भिक्षुओं की मंडली में उसने आदर पाया।

अचानक एक दिन अमिताभ को सारिपुत्र और मौद्गलायन की मृत्यु का समाचार मिला। वे दोनों उनके प्रधान शिष्य थे। धर्म के चक्र-प्रवर्तन और ज्ञान की ज्योति विकीर्ण करने में वे अमिताभ की भुजाओं के समान थे। इसके पश्चात् ही उन्हें महारानी प्रजावती और जीवन-संगिनी यशोधरा के प्राण-संवरण का संवाद दिया गया।

अमिताभ ने आनंद को बुलाकर कहा—"आनंद! मैं अब वृद्ध हो गया। पैंतालीस वर्ष लगातार मैंने इस ज्ञान की ज्योति को प्रसारित किया। अब यह भार तुम्हारे स्कंध पर रखता हूँ।"

आनंद शोक-विह्वल हो बोला—"अभी अमिताभ कुछ काल तक हमारे साथ रहें।"

'तथागत देह-धर्म की अवमानना नहीं करते।" कहकर अमिताभ ने आनंद के मोह को दूर किया।

पिता की मृत्यु के पश्चात् अजातशत्रु एक प्रकार का विक्षिप्त-सा

२० शत्रु को क्षमा करो

यशोधरा का पुत्र राहुल यद्यपि प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु हो गया था, तथापि उसके शील का निर्माण नहीं हुआ था। उसे सत्य का महत्त्व ज्ञात न था वह बहुधा असत्यवादी था। एक दिन जब राहुल एक पात्र में पतितजल के पाद-प्रक्षालन कर रहा था तो उन्होंने उससे पूछा—"क्या यह जल पीने योग्य है?"

राहुल, ने कहा—"नहीं, यह धूलि और पंक से मलिन है, कदापि पीने योग्य नहीं।'

"राहुल ऐसे ही मलिन तुम भी हो। असंयत जिह्वा ने तुम्हें मलिन कर दिया है। जिस कारण भिक्षु-मंडली में तुम परिहार्य हो। तुम एक महाराज के पौत्र हो सही, तुमने यह पीत चीवर पहन रखा है सही इससे क्या होता है।"

राहुल विनत मस्तक खड़ा विचार करने लगा।

'क्या इस पात्र में पीने योग्य जल नहीं भरा जा सकता?"

'भरा जा सकता है।

'कैसे?'

'इसे माँजकर।"

"तुम्हें इस शरीर-रूपी पात्र का उन्मार्जन करने की आवश्यकता है। तुम जिह्वा पर शासन करो। इसके दो मुख हैं। भीतर की ओर यह रस की प्यासी है, और बाहर असत्य का नाद रचती है। केवल सत्यशील हो जाने पर इसका दूसरा मुख स्वयं बंद हो जायगा। बिना सत्यशील हुए तुम्हें सम्यक् वाचा प्राप्त नहीं हो

सकती है। तुम मौन-व्रत का अवलम्बन करो, इससे तुम्हारी जिह्वा शासित होगी और तुम इस भिक्षु वेश के योग्य पात्र बनोगे।'

'मैं मौन-व्रत का पालन करूँगा।'

"अन्तिम राहुल! यह मेरा अंतिम प्रवचन है तुम्हारे लिये। मैं वृद्ध हो चुका, और नहीं जानता, किस समय यह शरीर निर्वाणित हो जाय।"

राहुल ने अमिताभ के चरणों में गिरकर वाणी को विशुद्ध करने की प्रतिज्ञा की। वह दूर एक एकांत विहार में चला गया। वहाँ उसने कुछ दिन मौन रहकर मन का संयमन किया। उसने जिह्वा पर विजय पाई। केवल एक जिह्वा के शासन से ही उसका मन वशवर्ती हो गया, और शेष इन्द्रियाँ स्वतः ही उसकी वशवर्तिनी हो गई। उसकी सेवा जाग उठी और श्रेष्ठ भिक्षुओं की मंडली में उसने आदर पाया।

अचानक एक दिन अमिताभ को सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की मृत्यु का समाचार मिला। वे दोनों उनके प्रधान शिष्य थे। धर्म के चक्र-प्रवर्तन और ज्ञान की ज्योति विकीर्ण करने में वे अमिताभ की भुजाओं के समान थे। इसके पश्चात् ही उन्हें महारानी प्रजापती और जीवन-संगिनी यशोधरा के महा-संवरण का संवाद दिया गया।

अमिताभ ने आनंद को बुलाकर कहा—"आनंद! मैं अब वृद्ध हो गया। पैंतालीस वर्ष तथागत मैंने इस ज्ञान की ज्योति का प्रसारित किया। अब यह भार तुम्हारे स्कंध पर रखता हूँ।"

आनंद शोक-विह्वल हो बोला—"नहीं, अमिताभ युग-युग तक हमारे साथ रहें।"

'तथागत देह-धर्म की अवमानना नहीं करते।" कहकर अमिताभ ने आनंद के मोह को दूर किया।

पिता की मृत्यु के पश्चात् अजातशत्रु एक प्रकार का विक्षिप्त-सा

२० शत्रु को क्षमा करो

गौतम का पुत्र राहुल यद्यपि प्रव्रज्या प्राप्त कर भिक्षु हो गया था, तथापि उसके जीवन का निर्माण नहीं हुआ था। उसे सत्य का महत्व ज्ञात न था वह प्रायः असत्यवादी था। एक दिन जब राहुल एक पात्र में भगवान के पाद-प्रक्षालन कर रहा था, तो उन्होंने उससे पूछा—"क्या यह जल पीने योग्य है?"

राहुल, ने कहा—"नहीं, यह धूलि और मल से मलिन है, अतएव पीने योग्य नहीं।"

"राहुल ऐसे ही मलिन तुम भी हो। असंयत जिह्वा ने तुम्हें मलिन कर दिया है। जिस प्रकार भिक्षु मंडली में तुम परिहार्य हो। तुम एक महाराज के पौत्र हो सही, तुमने यह पीत चीवर धारण किया है सही इससे क्या होता है।'

राहुल विनत मस्तक खड़ा विचार करने लगा।

"क्या इस पात्र में पीने योग्य जल नहीं भरा जा सकता?"

'भरा जा सकता है।

"कैसे?'

"इसे माँजकर।"

"तुम्हें इस शरीर-रूपी पात्र को स्वच्छ करने की आवश्यकता है। तुम जिह्वा पर संयम करो। इसके दो मुख हैं। भीतर की धार वह रस की प्यासी है, और बाहर असत्य का बाण रचती है। केवल सत्यशील हो जाने पर इसका दूसरा मुख स्वयं बंद हो जायगा। बिना सत्यशील हुए तुम्हें सम्यक् वाचा प्राप्त नहीं हो

सकती है। तुम मौन-व्रत का अवलंबन करो इससे तुम्हारी जिह्वा शासित होगी, और तुम इस भिक्षु वेश के योग्य पात्र बनोगे।'

"मैं मौन-व्रत का पालन करूँगा।"

"अवश्य राहुल! यह मेरा अंतिम प्रवचन है तुम्हारे लिये। मैं वृद्ध हो चुका, और नहीं जानता, किस समय यह प्रदीप निर्वापित हो जाय।'

राहुल ने अमिताभ के चरणों में गिरकर वाणी को निरुद्ध करने की प्रतिज्ञा की। वह दूर एक एकांत विहार में चला गया। वहाँ उसने कुछ दिन मौन रहकर मन का संयमन किया। उसने जिह्वा पर विजय पाई। केवल एक जिह्वा के शासन से ही उसका मन वशवर्ती हो गया, और शेष इंद्रियाँ स्वतः ही उसकी वशवर्तिनी हो गईं। उसकी मेधा जाग उठी और श्रेष्ठ भिक्षुओं की मंडली में उसने आदर पाया।

अचानक एक दिन अमिताभ को सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की मृत्यु का समाचार मिला। वे दोनों उनके प्रधान शिष्य थे। धर्म के चक्र-प्रवर्तन और ज्ञान की ज्योति विकीर्ण करने में वे अमिताभ की भुजाओं के समान थे। इसके पश्चात् ही उन्हें महारानी प्रजावती और जीवन-संगिनी यशोधरा के प्राण-संवरण का संवाद दिया गया।

अमिताभ ने आनंद को बुलाकर कहा—"आनंद! मैं अब वृद्ध हो गया। पैंतालीस वर्ष लगातार मैंने इस ज्ञान की ज्योति को प्रसारित किया। अब यह भार तुम्हारे स्कंध पर रखता हूँ।"

आनंद शोक-विह्वल हो बोला—"नहीं, अमिताभ कुछ काल तक हमारे साथ रहें।"

"तथागत देह-धर्म की अवमानना नहीं करते।" कहकर अमिताभ ने आनंद के मोह को दूर किया।

पिता की मृत्यु के पश्चात् अजातशत्रु एक प्रकार का विक्षिप्त-सा

सकती है। तुम मौन-व्रत का अवलंबन करो, इससे तुम्हारी जिह्वा शासित होगी, और तुम इस भिक्षु वेश के योग्य पात्र बनोगे।"

"मैं मौन-व्रत का पालन करूँगा।"

"अवश्य राहुल। यह मेरा अंतिम प्रवचन है तुम्हारे लिये। मैं वृद्ध हो चुका, और नहीं जानता किस समय यह प्रदीप निर्वापित हो जाय।"

राहुल ने अमिताभ के चरणों में गिरकर वाणी को नियंत्रित करने की प्रतिज्ञा की। वह दूर एक एकांत विहार में चला गया। वहाँ उसने कुछ दिन मौन रहकर मन का संयमन किया। उसने जिह्वा पर विजय पाई। केवल एक जिह्वा के शासन से ही उसका मन बलवान् हो गया और शेष इंद्रियाँ स्वतः ही उसकी वशवर्तिनी हो गईं। उसकी मेधा जाग उठी और श्रेष्ठ भिक्षुओं की मंडली में उसने आदर पाया।

अचानक एक दिन अमिताभ को सारिपुत्र और मौद्गलायन की मृत्यु का समाचार मिला। वे दोनों उसके प्रधान शिष्य थे। धर्म के चक्र-प्रवर्तन और ज्ञान की ज्योति विकीर्ण करने में वे अमिताभ की भुजाओं के समान थे। इसके पश्चात् ही उन्हें महारानी प्रजावती और जीवन-संगिनी यशोधरा के महा-संवरण का संवाद दिया गया।

अमिताभ ने आनंद को बुलाकर कहा—"आनंद! मैं अब वृद्ध हो गया। पैंतालीस वर्ष लगातार मैंने इस ज्ञान की ज्योति को प्रसारित किया। अब यह भार तुम्हारे स्कंध पर रखता हूँ।"

आनंद शोक-विह्वल हो बोला—"नहीं, अमिताभ एक कल्प तक हमारे साथ रहें।"

"तथागत देह-धर्म की अवमानना नहीं करते।" कहकर अमिताभ ने आनंद के मोह को दूर किया।

पिता की मृत्यु के पश्चात् अजातशत्रु एक प्रकार का विक्षिप्त-सा

हो गया। एक सदियों से वह सारी सृष्टि की भर्त्सना सुन रहा था। एक-एक कण और एक-एक प्राणी मानो उसे धिक्कृत कर रहा था— "हे पिता को बंदी करनेवाले! क्या तू ही उनका अधिक नहीं है?"

अजातशत्रु चारों ओर शांति को खोजने लगा। दिन में बैठे-बैठे ही वह चौंक उठता, रातों को भयंकर स्वप्नों के भय से जागते ही बिता देता। उसका चिरजीवन का सखा देवदत्त उसकी दुराभिसंधि के कारण नरक का अभिशाप हो गई थी। उसे देखकर अजात की वेदना और भी अधिक बढ़ जाती।

एक दिन रंग-केलि के उत्सव में जब सभी लोग अजात के मन में बसे हुए भय को भुलाने की चेष्टा कर रहे थे वह समस्त राग-रंग से बचा हुआ एक कोने में बैठा हुआ था।

मंत्रिवर्ग उन्हें उत्सव में सम्मिलित करने के लिये उनके पास गया। वह बोले—"नहीं, इस प्रकार मेरे मन को शांति नहीं मिल रही है। कोई और उपाय बताओ, नहीं तो मुझे आत्मघात करना पड़ेगा।"

उनका राजचिकित्सक बोला—"मैं बताता हूँ आपको इसकी औषधि।"

'नहीं जीवक, इस रोग पर तुम्हारा भी कोई वश नहीं।'

"मैं अपने वश की बात नहीं कहता। वैद्य दूसरा है।"

"कौन?" आशा में भरकर मगध का सम्राट् बोला।

"अमिताभ बुद्ध, केवल एक उन्हीं की शरण आपको शांति दे सकती है।"

"हाँ, यह समझता तो हूँ मैं, पर मैंने उनकी इच्छा के विरुद्ध पिता को बंदी किया और अपने राज्य से बहिष्कृत कर उनका घोर अपमान किया है।"

"उनकी भावना में मान-अपमान का कोई मूल्य ही नहीं है।"

आवश्यक निवेदन

'सुधा' और 'बाल-विनोद' की भी आप एजेंसी ले लें। आप न लेना चाहें, तो अपने स्थान के और लोगों को दिलवा दें। आपके यहाँ दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्र जो लोग देखते हैं, उन्हें एजेंट बनवा दें। उनके नाम-पते हमें लिखें। हम उन्हें सीधे पत्र लिखेंगे। अनुचित न समझें, और हो सके, तो आप भी उनसे कहें।

दुलारेलाल

(संचालक-संपादक 'सुधा', 'बाल विनोद' तथा गंगा-पुस्तकमाला आदि)